आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि अमृत महोत्सव प्रसग पर प्रकाशित

पुस्तक
आनन्द प्रवचन [छठा भाग]

सप्रेरक
श्री कुन्दन ऋषि

प्रथमबार
वि स. २०३१ माघ
ई. स १९७५ फरवरी
महावीर निर्वाण शताब्दी वर्ष

प्रकाशक
श्रीरत्न जैन पुस्तकालय
पाथर्डी [अहमदनगर—महाराष्ट्र]

मुद्रक
श्रीचन्द सुराना के लिए
राष्ट्रीय आर्ट प्रिंटर्स, आगरा

मूल्य ८) रुपये   प्लास्टिक कवर युक्त १०) रुपये

प्रकाशकीय

आनन्द प्रवचन का यह छठा भाग पाठको के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। अभी १३ फरवरी को अमृत महोत्सव के प्रसग पर पाँचवें भाग का विमोचन सम्पन्न हुआ था हम दोनो भाग का विमोचन साथ ही कराना चाहते थे, किन्तु मुद्रण कार्य मे कुछ विलम्ब हो जाने से वैसा सम्भव नही हुआ। अस्तु—

आनन्द प्रवचन के पिछले पाँच भाग पाठको ने बडे उत्साह और प्रेम के साथ अपनाये हैं। स्थान-स्थान से उनकी माँग बराबर आ रही हैं। सामान्य पाठको को प्रेरणाप्रद सामग्री उसमे मिली है। इसी प्रकाशन शृ खला मे अभी-अभी 'भावना योग' नामक महत्वपूर्ण पुस्तक भी प्रकाश मे आई है। भावनायोग मे भावना के सम्बन्ध मे बडा ही मौलिक तथा अनुसधानपरक जीवनोपयोगी विवेचन किया गया है। इस पुस्तक का सम्पादन प्रसिद्ध विद्वान श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने किया है।

प्रस्तुत छठे भाग मे सवर तत्त्व के विवेचन पर आचार्य श्री के २८ प्रवचन हैं। कुशल सम्पादिका बहन श्री कमला 'जीजी" ने बडे ही श्रम और अध्यवसाय के साथ इन प्रवचनो का सम्पादन किया है। 'जीजी" ने साहित्य सेवा के क्षेत्र मे जो उपलब्धि की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी।

इस पुस्तक का मुद्रण पूर्व भागो की भाँति श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना की देख-रेख मे हुआ है। उनका योगदान बहुमूल्य है।

प्रकाशन-मुद्रण मे श्री गुलशनराय जैन एन्ड सस देहली एव श्री श्यामलाल जैन भटिडा आदि सज्जनों का उदार अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ तदर्थ हम उनके आभारी हैं। आशा है पाठक इसे भी उत्साहपूर्वक अपनायेंगे।

मन्त्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी

भूमिका

आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी इस युग के एक महान प्रकाश स्तम्भ हैं। जिनके आलोक मे समस्त जैन शासन विश्व को अहिंसा, सत्य एव प्रेम का सन्देश फैला रहा है। वे एक उत्कृष्ट साधक, मनीषी और तत्त्ववेत्ता हैं—जिनके विचारो मे आज के उलझे हुए मष्तिस्क को सही दिशा मे आने की प्रेरणा है। "आनन्द-प्रवचन" मे उनके कुछ प्रवचन सग्रहीत हैं। सन्तो की आध्यात्म-साधना, गूढ ज्ञान और निर्मल चारित्र न चर्म चक्षुओ से देखे जा सकते हैं और न उन्हे कोई मूर्तिमान आकार ही दिया जा सकता है। उनकी अमृतमयी वाणी का सिर्फ श्रवण किया जा सकता है। जिसमे उनके उज्जवल ज्ञान-दर्शन और चारित्र की त्रिवेणी प्रवाहित होती रहती है। देशकाल की सीमाओ से मुक्त वह शाश्वत चिरन्तन और चिर-नूतन होती है। "आनन्द प्रवचन" मे भी आचार्य श्री की वही विचारधारा है, जिसमे आज के भौतिकवादी युग मे महावीर वाणी का आध्यात्मिक सन्देश निहित है। हमे अपने महान् धर्म, साहित्य और सस्कृति की झाकी भी उनमे मिलती है। जिन्हे हम भुलाकर खो वैठे हैं।

धर्म, बुद्धि, तर्क और चिन्तन का विषय नही है। दर्शन और तर्कशास्त्र अपने-अपने सिद्धान्तो मे वस्तुतत्व की परिभाषा करते आए हैं और बुद्धि उनके विषय मे सोचती हुई भ्रमित हो रही है। आवश्यकता है आस्था, श्रद्धा और विश्वास की, जो धर्म को ग्रहण करे—अन्तर्मन से स्वीकार करे और उसे आत्मसात कर ले। ससार के दुखो के निवारण की यही एक अमृतोपम औषधि है। धर्म और धर्म के सिद्धान्तो को सहज स्वाभाविक रूप से जीवन मे उतारने का सन्देश ही "आनन्द-प्रवचन" मे समाहित है।

मेरे लिए यह भी हर्ष की वात है कि इन प्रवचनो का सम्पादन मेरी बडी वहिन सुश्री कमला जैन 'जीजी' के द्वारा हुआ है। "आनन्द प्रवचन" के पिछले भागो की तरह ही पाठकगण इस नूतन कृति का स्वागत करेंगे। ऐसी आशा है।

—विज्ञान भारिल्ल

उदार अर्थ-सहयोगी

१००१	फकीरचदजी रामचदजी खिवसरा	पूना
११००	रामलालजी सालीग्रामजी	लुधियाना
५०१	मानकचदजी डुगरचदजी राका	कुल्लाकुर्ची
५०१	शुभकरणजी नथमलजी खिवसरा	धामक
५०१	कामदार प्रेमराजजी मिट्ठालालजी	बेंगलोर
५०१	गेरीलालजी घीसुलालजी कोठारी	बम्बई
५०१	हसराजजी मनसुखलालजी फाठेड	अहमदनगर
५०१	पदमसेनजी राजकुमारजी गोयल	सरसा
५०१	जयन्तराजजी सोहनराजजी बाफना	बेंगलौर
५०१	शान्ताबाई ध्र० बाबूलालजी रेदासनी	जलगाव
५०१	मोमविहनजी लालचदजी पुनमिया	बम्बई
५०१	लछमनदासजी मोतीलालजी जैन	दिल्ली
५०१	आनन्दीबाई ध्र० मानकचदजी चोरडिया	बोरी
१०००	गुलशनरायजी जैन	देहली
५०१	सन्तरामजी जैन	भटिण्डा
२५०	नथमलजी धरमचदजी भण्डारी	मलकापुर
२५१	लाला लालजीमलजी मोजीरामजी जैन	देहली
२००	तिलोकचदजी जैन	धुरी
२५१	जव्हारमलजी सायरचदजी धोका	यादगीरी
२५१	सुकुमालचदजी जैन	देहली
५०१	इचरजबाई धनराजजी ओस्तवाल	हिंगनघाट

हम उक्त दानदाताओ के आर्थिक सहयोग के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

सम्पादकीय

वन्धुओ !

आज आपके समक्ष 'आनन्द-प्रवचन' का छठा पुष्प सम्पादित करके पहुँचाने मे मुझे अतीव हर्ष का अनुभव हो रहा है। इसके पूर्व पाँच पुष्प आपके कर-कमलो तक पहुँच चुके है और आप सवने उनके सौरभ एव माधुर्य की भूरि-भूरि सराहना की है, इससे मेरा उत्साह वढता रहा है एव मुझे आन्तरिक सतुष्टि का अनुभव हुआ है।

स्वनाम धन्य आचार्य प्रवर श्री आनन्दऋषि जी म के प्रवचनो की महत्ता एव उपयोगिता के विषय मे अधिक कहने की आवश्यकता नही है, क्योकि आपके सन्मुख पाँच भागो मे वे सग्रह के रूप मे आ चुके हैं। अत 'हाथ कगन को आरसी क्या ?' यह कहावत यहाँ चरितार्थ हो जाती है।

सक्षेप मे यही कहना काफी है कि जीवन मे निकट सघर्ष की घडियो से किस प्रकार जूझा जाय ? सासारिक एव आध्यात्मिक समस्याओ को किस प्रकार सुलझाया जाय ? किस तरीके से आत्मा को कर्म-मुक्त करते हुए साधना-पथ पर वढा जाय और किस प्रकार जीव एव जगत के रहस्यो से अवगत होते हुए सवर-धर्म की आराधना की जाय ? इन सभी प्रश्नो का समाधान आचार्य श्री के प्रवचनो मे मिलता है।

प्रस्तुत सग्रह मे सकलित प्रवचन सवर तत्व के सत्तावन भेदो मे से पूर्व के कुछ भेदो पर प्रकाश डालते हैं। इन भेदो को क्रमश लिया गया है और वडे ही सुन्दर एव सरल ढग से श्रोताओ के समक्ष रखा गया है। साथ ही सुदूरवर्ती श्रद्धालु पाठक भी इनसे लाभ उठाते हुए अपने जीवन को उन्नत वना सकें, यही इनके सग्रहित रूप मे प्रकाशित किये जाने का उद्देश्य है।

आशा ही नही, अपितु विश्वास है कि पाठक इस उद्देश्य को पूर्ण करेंगे तथा इन मार्मिक प्रवचनो के द्वारा इहलौकिक सफलता की प्राप्ति के साथ-साथ आत्मा के शाश्वत कल्याण के प्रयत्न मे भी जुट जाएंगे। इन्ही प्रवचनो के माध्यम से वे आत्मिक गुणो को अकुरित करते हुए अपने मानस को विशुद्ध एव परिष्कृत वनायेंगे तथा

अहिसा, सत्य और सयम की शास्वत आभा से अपने अतर्मन को ज्योतिर्मान करेंगे ।

अन्त मे केवल इतना ही कि आचार्य देव के प्रवचन-सग्रहो के सभी भागो का सपादन करने का जो सुअवसर मुझे मिला है यह मेरे लिए बडे गर्व और गौरव की बात है । साथ ही असीम हर्प एव सन्तोष इस बात का भी है कि पाठको ने मेरे सम्पादन को पसन्द किया है । समय-समय पर यह ज्ञात होने से मुझे वडी प्रेरणा मिली है और मेरे उत्साह मे अभिवृद्धि होती रही है ।

आशा है मेरे इस प्रयास को भी पाठक पसद करेंगे तथा असावधानीवश कोई त्रुटि रह गई हो तो उदारतापूर्वक उसे क्षमा करते हुए प्रवचनों के मूल विपयो को हृदयगम करेंगे । किं बहुना ।

—कमला जैन 'जीजी' एम ए

अनुक्रमणिका

संशोधन

प्रवचनो के क्रम मे १८ के वाद १९ अक के स्थान पर २० हो गया है। कृपया पाठक एक अक की भूल सुधार लें। कुल प्रवचन सख्या २८ समझें।

—प्रकाशक

१ | कहो क्यारे पछी तरशो ?

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

आज मगनमुनि जी म० की तपश्चर्या का इकतीसवाँ दिन है। तपश्चर्या करना सहज नही है, यह मनुष्य के लिए सबसे कठिन कार्य है। यद्यपि तप के बारह प्रकार होते हैं और वे सभी तप कहलाते है किन्तु उनमे से अनशन तप करना साधक के लिए कठिन होता है क्योकि शरीर प्रतिदिन खुराक मांगता है और उसके अभाव मे वह दैनिक कार्य करने से इन्कार करने लगता है। किन्तु शरीर के विद्रोह की परवाह न करते हुए तथा इन्द्रियो की शिथिलता पर भी विजय प्राप्त करते हुए जो मुमुक्षु 'अनशन' तप जारी रखता है और अपने आत्मबल की असाधारण शक्ति का परिचय देता है वह तपस्वी सराहना के योग्य होता है।

हमारे तपस्वी सन्त मगनमुनि जी ने भी अपनी दृढ आत्मशक्ति से निरन्तर इकतीस दिन का तप किया है और इससे नागपुर श्री सघ ने प्रभावित होकर इस प्रसग पर सोल्लास जिसमे जितना बन सके और जिस प्रकार बन सके, कुछ न कुछ करने का विचार किया है। उदाहरण स्वरूप अनेक भाई-बहनो ने तेले किये हैं। हमारे मुनि जी ने तो केवल इक्यावन तेलो के किये जाने की इच्छा प्रकट की थी किन्तु सघ ने इनसे दुगुने करके अपने हर्ष एव उत्साह का परिचय दिया है।

इसके अलावा इस अवसर पर सघ ने दान के द्वारा धनराशि इकट्ठी करते हुए अनेक लोकोपयोगी कार्य करने का भी निश्चय किया है और मनोज जी एवं रामाना जी आदि ने अभी-अभी इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये है। साथ ही स्व० दानवीर सेठ मरदारमल जी पुगलिया की धर्मपत्नी श्रीमती मगनबाई ने इस कार्य मे अग्रणीपद लेने की तथा अपने उदार अन्त करण से सहयोग देने की स्वीकृति दी है और इसी प्रकार सघ के अन्य सदस्यो ने भी अपना योगदान देने की प्रशसनीय अभिलाषा व्यक्त की है। नागपुर क्षेत्र का यह सराहनीय एव आदर्श व्यवहार है। ऐसा होना भी चाहिए, क्योकि अपने परिवार के लिए तो जीवन भर आप हजारो लाखो रुपये खर्च करते रहते हैं किन्तु परोपकार के लिए उस धन का थोडा सा अश भी अगर नही लगाया तो मनुष्य जन्म पाकर आप आगे के लिए क्या सचय करेंगे ?

पूर्व जन्मो मे सचित किये हुए अनन्त पुण्यो के फलस्वरूप तो इस बार आप को उत्तम कुल, उत्तम जाति, उत्तम क्षेत्र और सबसे उत्तम मनुष्य जन्म मिल गया है पर इससे लाभ उठाकर अगर पुन पुण्य-सचय न किया तो पूर्व-पूजी समाप्त हो जायगी और फिर अनन्त काल तक ससार-परिभ्रमण करना पडेगा।

इसीलिए हमारे शास्त्र एव सन्त-महापुरुष आपको सेवा, परोपकार एव दानादि शुभ-कार्य करने की बार-बार प्रेरणा देते हैं। इन कार्यों से पुण्य-सचय होता है। परोपकार के लिए तो भिक्षा माँगने मे भी किसी प्रकार की लज्जा नही होनी चाहिए। वैसे आपके द्वार पर आया हुआ प्रत्येक भिक्षुक ही आपको मूक शिक्षा देता है। मैंने एक स्थान पर पढा है

शिक्षयन्ति न याचन्ते, भिक्षाचारा गृहे गृहे।
दीयता दीयतां दानमदातु. फलमीदृशम् ॥

सस्कृत के इस श्लोक के रचयिता का कथन है कि—"प्रत्येक भिक्षुक जो द्वार-द्वार पर घूमता है वह मानो याचना न करता हुआ उलटे गृहस्वामियो को शिक्षा देता है—दान दो ! दान दो !! अन्यथा दान न देने पर मेरे समान ही तुम्हारी भी दशा होगी।"

वस्तुत अगर व्यक्ति दानादि शुभ कार्य करके नवीन पुण्यो का सचय न करेगा तो किस प्रकार आगे जाकर उसे उत्तम फल मिलेगा ? पुण्य ही तो वह पूँजी है, जिसे साथ ले जाने पर जीव अगले जन्मो मे शुभ फल की प्राप्ति करता है।

इसलिए बन्धुओ ! आज आपने भी जो दान और परोपकार के अनुष्ठान का प्रारम्भ किया है, वह आपकी आत्मा के लिए अति श्रेयस्कर मार्ग है। आप दान दे सकते हैं तो दीजिये, अगर नही दे सकते हैं तो औरो को देने की प्रेरणा कीजिए और अगर दोनो ही शक्य न हो तो देने वालो की सराहना कीजिए। हमारे धर्मग्रन्थ कहते हैं कि प्रत्येक कार्य चाहे वह पापोत्पादक हो या पुण्योत्पादक, तीन प्रकार से किया जाता है। स्वय करके, औरो से कराके तथा करने वालो का समर्थन करके।

आप यह न समझें कि कोई पाप अगर आप स्वय नही करते हैं और औरो से करा लेते हैं तो उसके भागी आप नही है। औरो से कराने पर ही आप उस पाप के भागी अवश्य बनेंगे। और इतना ही नही, पाप करने वाले की मात्र सराहना भी आप करेंगे तो भी पाप कर्म का भागी आपको बनना पडेगा। क्योकि कोई भी व्यक्ति अपने कार्य के लिए अगर अन्य व्यक्तियो का समर्थन प्राप्त कर लेता है तो वह निश्चित होकर पुन-पुन उसे करने लगता है।

इसी प्रकार शुभ कार्य अथवा पुण्य कार्य का भी हाल है। दान देने वाले व्यक्ति दान देते हैं पर जो नही दे पाते हैं वे अन्य व्यक्तियो को प्रेरणा देते है और स्वय

झोली फैलाकर भी देश, समाज और धर्म के लिए धन इकट्ठा करके पुण्य-सचय कर लेते है। तीसरे व्यक्ति वे भी होते है जो ये दोनो कार्य नही कर पाते, किन्तु दान-दाताओ की गद्‌गद् हृदय से प्रशसा करते हैं और उनकी सराहना करते हुए भी कुछ न कुछ पुण्य अपने पल्ले मे बाँध लेते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को शुभ कार्य करने के इन तीनो प्रकारो मे से जो भी बन सके अवश्य करना चाहिए तथा सघ के अग्रणी व्यक्तियो को भी सबका सहयोग समान भाव से लेना चाहिए। इसी का नाम सगठन है। सगठन के अभाव मे कभी कोई कार्य सम्पन्न नही हो पाता। चाहे कोई व्यक्ति श्रीमन्त हो या गरीब, विद्वान हो या कम शिक्षा प्राप्त, समाज रूपी भवन को बनाने के लिए तो प्रत्येक का सहयोग आवश्यक है। भले ही समाज का कोई सदस्य एक हजार रुपये दान मे देता है और दूसरा केवल एक रुपया ही दे पाता है। तब भी किसी के अन्त करण मे एक रुपया देने वाले के प्रति तिरस्कार या उदासीनता का भाव नही आना चाहिए। जो महत्व एक हजार रुपये का होता है, वही महत्व एक रुपये का भी माना जाना चाहिए। एक सुन्दर दोहे मे कहा भी है—

बड़े बड़न को देखिके, लघु न दीजिए डारि।
जहाँ काम आवे सुई, कहा करे तरवारि?

सीधी और सरल भाषा मे कितनी मार्मिक बात कही गई है कि बडे-बडे श्रेष्ठियो और श्रीमन्तो को देखकर कभी भी गरीबो की उपेक्षा नही करनी चाहिए। क्योकि जाने किस वक्त वे ही निर्धन व्यक्ति धनवानो की अपेक्षा अधिक काम आयेंगे। हम प्राय देखते भी है कि समाज के किसी बन्धु-बान्धवहीन एकाकी व्यक्ति की सेवा का जब अवसर आता है, अर्थात् उसका अपना कोई सेवा करने वाला नही होता तब कोई भी श्रीमान उस अनाथ और रोगी की तरफ आँख उठाकर नही देखता और वे ही व्यक्ति जो धन से रहित किन्तु करुणा और प्रेम की भावना के धनी होते हैं, उस समय बिना ग्लानि और उपेक्षा के उस बीमार की सेवा करते हैं।

क्या यह कम महत्वपूर्ण है? अधिक पैसा पास मे होने पर चाँदी के चन्द सिक्के तो कोई भी फेक सकता है, किन्तु दुर्बल और रोगी की सेवा वह कभी नही कर सकता और ऐसी स्थिति मे दान की अपेक्षा सेवा का महत्व अनेक गुना अधिक माना जाता है।

समय पर आया हूँ

महात्मा बुद्ध के शिष्य उपगुप्त के विषय मे आपने सुना होगा कि एक बार जब वह भिक्षा के लिए मथुरा शहर के किसी मार्ग से गुजर रहे थे, एक असाधारण सुन्दरी नर्तकी ने उन्हे अपने भवन के गवाक्ष से देखा।

नर्तकी मथुरा की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी और उसका नाम वासवदत्ता था। वासवदत्ता ने ज्योंही अति सुन्दर और युवा भिक्षु को देखा तो उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर झपटती हुई अपने भवन की सीढियो से नीचे उतर आई और पुकारा—

"भन्ते ! तनिक रुक जाइये।"

भिक्षु उपगुप्त ने ज्योंही किसी नारी की आवाज सुनी वह रुक गये और समीप आकर अपने भिक्षापात्र को उन्होंने आगे वढाया। किन्तु सुन्दरी वासवदत्ता ने भिक्षा देने के वदले उनसे प्रार्थना की—

"देव आप ऊपर चलकर मेरे भवन मे निवास करें। मेरी सम्पूर्ण सम्पत्ति और मैं स्वय ही आपकी हूँ। मुझे स्वीकार करने की कृपा करें।"

भिक्षु ने सुन्दरी की प्रार्थना सुनकर कहा—

"भद्रे, मैं तुम्हारे पास फिर आऊँगा।"

"कव ?" नर्तकी ने व्याकुलता पूर्वक पूछा।

"जव तुम्हे मेरी आवश्यकता होगी।" यह कहकर भिक्षु वहाँ से चल दिया। वासवदत्ता अपलक नेत्रो से तव तक उसे निहारती रही, जव तक कि वह उसकी आँखो से ओझल नही हो गया।

इसके पश्चात् अनेक वर्ष गुजर गये। वासवदत्ता युवावस्था पार कर गई और सदाचार के अभाव मे उसका शरीर भयकर रोगो से ग्रसित होकर अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य को खोकर कुरूप और घिनौना वन गया। एक दिन ऐसा भी आया कि वह धन-सम्पत्ति, मकान एव सभी सुख-सुविधा के साधनो से रहित मैले-कुचैले और फटे कपडे शरीर पर लपेटे शहर से वाहर किसी सडक के किनारे पडी हुई थी। उसकी देह पर रहे हुए अगणित घावो से भयानक दुर्गंध निकलकर दूर तक की हवा को वदवूदार वना रही थी। वह पूर्णतया निराश्रित और अपाहिज स्थिति मे जमीन पर पडी हुई कराह रही थी, किन्तु ऐसे प्राणी की कौन सार-सम्हाल करता ?

अचानक ही उधर से एक भिक्षु निकला और उसकी दृष्टि उस मलिनवसना रोगिणी नारी पर पडी। कुछ क्षण वह उसे देखता रहा और उसके पश्चात् समीप आकर वैठ गया। अपने पात्र मे से उसने जल निकाला और वस्त्र के एक खड से नारी के तीव्र दुर्गंधमय घावो को धोने लगा।

किसी के हाथो के स्पर्श मे रोगिणी को कुछ चेतना आई और उसने मन्द स्वर से पूछा—

"कौन हो तुम ?"

"मैं भिक्षु उपगुप्त हूँ वासवदत्ता ! अपने वायदे के अनुसार ठीक वक्त पर आ गया हूँ।"

भिक्षु की आवाज सुनकर उस दयनीय एव यन्त्रणामय स्थिति मे भी वासवदत्ता बुरी तरह चौक पडी और उससे परे हटने की कोशिश करती हुई वेदनापूर्ण स्वर से बोली—

"उपगुप्त ! तुम अव आए हो। जवकि मेरा धन, यौवन एव सौन्दर्य आदि सभी कुछ नष्ट हो गया। अब क्या है मेरे पास ? केवल जानलेवा और भयानक रोग से ग्रस्त शरीर और इससे फूटती असह्य दुर्गन्ध। मुझे देखकर तुम्हे अपार ग्लानि हो रही होगी भिक्षु ! जाओ यहाँ से, चले जाओ ! मुझे इसी प्रकार एकाकी मरना है। वह समय गया जवकि मेरी एक झलक प्राप्त करने के लिए लोग मुट्ठियाँ भर-भरकर मोहरे लुटाने के लिए तैयार रहते थे। आज वे सब भँवरो के समान उड गये हैं, कोई भी इस जिन्दा लाश के पास नही फटकता, इसे एक नजर देखना भी पसन्द नही करता। तुम भी जाओ उपगुप्त, यहाँ से भाग जाओ ! तुम्हे तो मैंने दिया ही क्या है, क्यो तुमसे कुछ अपेक्षा रखूं ? मेरे घावो की दुर्गन्ध से तुम्हारी नाक सड रही होगी और मेरी इस घिनौनी शकल को देखकर तुम्हारी आँखें तुमसे विद्रोह कर रही होगी। इसलिये तुम अविलम्ब यहाँ से चले जाओ।"

"ऐसा नही हो सकता वासवदत्ता ! तुमने एक दिन मुझे बुलाया था पर उस समय अपनी आवश्यकता न समझकर मैं चला गया था। आज तुम्हे मेरी जरूरत है और मुझे खुशी है कि मै समय पर आ गया हूँ।"

यह कहते हुए भिक्षु उपगुप्त बराबर उसके घावो को धोते रहे, उन पर शहर से लाकर दवा का लेप किया और वस्त्र-शुद्धता आदि अन्य सभी आवश्यक सेवाओ मे जुट गये।

तो बधुओ ! मैं आपको यह बता रहा था कि सेवा-कार्य बडा दुस्तर होता है और कोई साधारण व्यक्ति इसे सम्पन्न नही कर सकता। आप श्रीमन्त हैं, दान दे सकते हैं पर सेवा जिसे वैयावृत तप कहते हैं, वह आपके वस का रोग नही है। पर यह भी ध्यान रखें कि दान से जहाँ केवल पुण्य की उपलब्धि होती है वहाँ तप मे कर्मो की निर्जरा होती है। तो वे सत महापुरुष जो ग्लानि परिषह को जीत लेते हैं, और वे सद् श्रावक जो रात-दिन धन कमाने की चिन्ता मे वावले नही रहते, वे ही निराकुल स्नेह एव करुणा के भाव से सेवा कर सकते हैं।

तो हमारी मूल वात यह चल रही थी कि समाज और सघ मे उसके प्रत्येक सदस्य को समान महत्त्व मिलना चाहिए। आपको विचार करना चाहिए कि अगर किसी व्यक्ति मे एक गुण हो सकता है तो अन्य व्यक्तियों मे दूसरे गुण भी छिपे रह सकते हैं। एक दान दे सकता है तो दूसरा तपस्या कर सकता है, सेवा कर सकता है या समाज को किसी भी अन्य प्रकार का सहयोग प्रदान कर सकता है। इसलिए

केवल धनी होने के कारण ही व्यक्ति को सम्मानित और निर्धन होने के कारण किसी को उपेक्षित नही करना चाहिए।

दोहे मे यही बात बडा सुन्दर उदाहरण देकर भी समझाई है कि—

"जहाँ काम आवे सुई, कहा करे तरवारि।"

अर्थात् तलवार बहुत बडी होती है और वह सहज ही मनुष्यो का गला काटकर रख देती है किन्तु इतनी तेज धारवाली होने पर भी और आकार मे बडी होने पर भी क्या कपडा सीने के काम आ सकती है ? जरा प्रयत्न कीजिये कभी तलवार से कपडा सीने का और फिर देखिये कि कपडे की क्या दशा होती है ? स्पष्ट है कि उसके द्वारा कपडा सिल नही सकता और यह काम केवल छोटी सी सुई ही बखूबी करती है।

इसलिए हमे इस उदाहरण को समझते हुए भली-भाँति जान लेना चाहिए कि सघ मे भी केवल श्रीमन्त ही हर जगह काम नही आ सकते यानी प्रत्येक कार्य वे सम्पन्न नही कर सकते। इसमे तो धनी और निर्धन सभी अपने-अपने स्थान पर उपयोगी और आवश्यक हैं।

अपने भवन का निर्माण करवाते समय आप बडे-बडे पत्थर उसमे लगवाते है और छत बनाने के लिए लम्बी-लम्बी पट्टियाँ भी उस पर डलवाते हैं, किन्तु क्या छोटी-छोटी दरारें या पाचर भरने के लिए भी आप शिलाओ का उपयोग करेंगे ? नही, वहाँ तो छोटे-छोटे टुकडे ही काम आएँगे।

तो बडे और छोटे सभी अपने-अपने स्थान पर समान महत्त्व रखते हैं अत उन्हे सगठन मे रहना चाहिए। समाज मे अगर सगठन न होगा तो कभी कोई महान कार्य सम्पन्न नही होगा और किसी भी महत् उद्देश्य की पूर्ति नही हो सकेगी। उलटे सब आपस मे एक दूसरे की निन्दा-बुराई करेंगे और एक दूसरे के अवगुण ढूँढते रहेगे। परिणाम यह होगा कि यहाँ मुश्किल से मिला हुआ यह आपका श्रेष्ठ जन्म और सभी उत्तम साधन निरर्थक चले जायेंगे।

गुजराती भाषा के एक कवि ने कहा है—

मल्या छे साधनो मोघा, महा पुण्योतणा योगे,
छता सत्कार्य नहि करता, कहो क्यारे पछी करशो ?

कवि ने मानवो को मधुर झिडकी देते हुए कहा है—"अरे नादान भाइयो ! जरा विचार करो कि अनन्त पुण्यो के फलस्वरूप तुम्हे ये उत्तम शरीर, जाति, कुल, क्षेत्र एव सत्सगति आदि साधन प्राप्त हुए हैं। दूसरे शब्दो मे कितने पुण्य खर्च करने पर तुम ये सब प्राप्त कर सके हो। फिर भी इन मँहगे साधनो का तुम कोई

उपयोग नही करते, यानी इनके द्वारा सत्कार्य करके पुन. पुण्य-रूपी पूंजी इकट्ठी नही करते तो फिर कब यह कार्य करोगे ?"

"यह मत भूलो कि इस जन्म के साथ जो ये समस्त अनुकूल, उत्तम और आत्म-हित मे सहयोगी बनने वाले साधन मिले हैं, इन्हें प्राप्त करने मे तुम पूर्वकृत समस्त पुण्य खर्च कर चुके हो और अब पुन उसका सचय किये बिना मनुष्य जन्म मिलना असभव है। अत इस शरीर के द्वारा सेवा, परोपकार, त्याग, तप एव दानादि सत्कार्य कर लो और इस जन्म मे ही ईश्वर की भक्ति, चिंतन, मनन एव ध्यान आदि के द्वारा अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचान लो। अन्यथा आयु समाप्त हो जायेगी और तुम्हारे हाथ कुछ भी नही आयेगा।"

सत दीन दरवेश ने भी एक स्थान पर मनुष्य को उद्‌बोधन देते हुए आत्म-हितकारी चेतावनी दी है—

बन्दा कर ले बन्दगी, पाया नर तन सार,
जो अब गाफिल रह गया, आयु बहै झखमार।
आयु बहै झखमार, कृत्य नहि नेक बनायो,
पाजी बेईमान कौन विधि जग मे आयो।।
कहत दीन दरवेश फंस्यो माया के फन्दा,
पाया नर तन सार बन्दगी कर ले बन्दा।

अपनी कुन्डलिया मे दरवेश कहते हैं—"अरे बन्दे! तूने नर-तन पाया है तो खुदा की बन्दगी भी तो कर। अगर अभी भी गाफिल ही रह गया तो यह आयु पानी के प्रवाह के समान बहती चली जाएगी। अफसोस की बात है कि इस अमूल्य जीवन को पाकर भी तूने कोई नेक कृत्य नही किया और माया के फन्दे मे पडा हुआ बेईमानी और अनैतिकता से पाप-कर्मों को इकट्ठा करता रह गया। मैं अभी भी तुझे यही कहता हूँ कि तू सम्हल और नर-तन का सार निकाल ले।"

गुजराती काव्य मे भी आगे दिया गया है—

मल्ये नहीं आपता नाणूं, तरवानू आखरू ताणू,
छताये तू नथी तरतो, कहो क्यारे पछी तरशो ?

कवि का कहना है कि—"ससार-सागर पार करने के लिए तू व्रत-नियम ग्रहण नही करता, त्याग-तपस्या नही अपनाता और चिंतन, मनन, ध्यान, स्वाध्याय तथा ईश-भक्ति आदि भी नही कर सकता तो अन्तिम उपाय दान को तो कम से कम काम मे ले। तेरी आवश्यकता से बहुत अधिक धन तुझे मिला हुआ है पर उसे देने मे भी इतनी सकीर्णता क्यो ? दान के द्वारा परोपकार करके भी तू भव-समुद्र को काफी मात्रा मे तैर कर पार कर सकता है पर वह भी तुझ से नही होता तो फिर बता कैसे और कब तू तिरेगा।

वस्तुत निन्यानवे के चक्कर मे फँसे रहने वाले प्राणी दान के महत्व को नही समझ पाते। वे नही जानते कि सुपात्र को दिया हुआ दान अनन्तगुना अधिक होकर पुण्य के रूप मे पुन प्राप्त हो जाता है—"पात्रेऽनतगुण भवेत्।"

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इसी बात को ममझाते हुए एक अनुपम कल्पनाचित्र खीचा है। उसमे कहा है—

"मैं गाँव मे घर-घर भीख माँगने के लिए निकला हुआ था। उसी समय तेरा स्वर्ण-रथ मुझे दूर से दिखाई दिया। मैं ताज्जुव करता हुआ विचार करने लगा कि यह कोई सम्राटो के भी सम्राट हैं और आज इनके द्वारा मेरे दुर्दिनो का अन्त होने वाला है।

मैं चुपचाप अयाचित दान प्राप्त करने की प्रतीक्षा मे खडा रहा और तेरा रथ मेरे पास आकर रुक गया। तेरी नजर मुझ पर पडी और तू मुस्कुराता हुआ रथ से उतरा। मैं साँस रोके हुए अपने सौभाग्य सूर्य के उदय होने की प्रतीक्षा कर रहा था। किन्तु महान आश्चर्य के साथ मैंने देखा कि तूने अपना दाहिना हाथ मेरे आगे फैला-कर कहा—"लाओ मुझे क्या दोगे?"

मैं भिखारी इसे मजाक समझा और उलझन मे पड गया। किन्तु फिर धीरे से मैंने अपनी झोली मे हाथ डाला और अन्न का केवल एक दाना निकालकर तेरे हाथ पर रख दिया। तू उसे लेकर पुन मुस्कुराता हुआ आगे बढ गया।

किन्तु शाम होने पर जव मैंने अपनी झोली को उलटा किया तो भिक्षा के अन्य दानो के साथ स्वर्ण का एक दाना भी पृथ्वी पर गिरा तव मैं अपने दिये हुए अन्न के एक दाने के दान का महत्व समझ गया और पश्चात्ताप पूर्वक जोर-जोर से रोते हुए सोचने लगा—"काश! मैंने अपना सर्वस्व ही तुझे दे दिया होता।"

वन्धुओ, टैगोर की यह कल्पना सत्य है। व्यक्ति का नि स्वार्थ भाव से दिया हुआ दान कभी निरर्थक नही जाता, अपितु अनेक गुना वढकर लौट आता है। द्वार पर आया हुआ प्रत्येक याचक उसी परम पिता परमात्मा का अश है जिसकी हम उपासना और भक्ति करते हैं। इसलिए किसी को भी निराश करना स्वय परमात्मा की उपेक्षा करना है। आप लोगो के [illegible] तो यद्यपि आवश्यकता से अधिक धन है, किन्तु जिनके पास वह प्रचुर मा[illegible] धनो मोघा, नहि क [illegible]ेता वे भी आपसे वढकर दानी सावित होते हैं, क्योकि वे अपने पास रह[illegible] थोडे मे से भी थोडा दूसरो को विना दानदाता कहलवाने की और विना ख्याति प्राप्ति की इच्छा से देते है।

सन्त कवि वाजिद का कहना है—

> भूखो दुर्वल देख नाहि मुख मोडिये।
> जो हरि सारी देय तो आधी तोडिये।

दे आधी की आधि अरध की कोर रे।
अन्न सरीखा पुन्न नहीं कोई और रे।

कवि का कथन है कि अन्न के समान दूसरा दान या पुण्य का कारण और कोई नही है। हमारे धर्मग्रन्थ दान के चार प्रकार बताते हैं—(१) औषध दान, (२) शास्त्र दान, (३) अभय दान और (४) आहार दान।

यद्यपि ये चारो ही दान श्रेष्ठ हैं और आत्मा के कल्याणकारी है। किन्तु तनिक ध्यान से समझने की बात यह है कि इनमे से आहार-दान को अधिक महत्वपूर्ण क्यो बताया गया है ?

इसका कारण यही है कि ऊँची से ऊँची और कष्टकर साधना करने वाले को भी शरीर चलाने के लिए सर्वप्रथम आहार ग्रहण करना पडता है। आप यह मनोरजक पर सत्य उक्ति प्राय सुनते भी हैं—'भूखे भजन न होहि गोपाला।'

यानी भगवान की भक्ति भी खाली पेट नही हो सकती। पहले पेट-पूजा फिर और काम दूजा।

पहले भोजन, पश्चात् भक्ति

कहा जाता है कि भगवान बुद्ध के शिष्य एक बार कही जा रहे थे। उन्होंने मार्ग मे एक व्यक्ति को पडा हुआ देखा। बुद्ध के शिष्यो ने सोचा—'चलो इसे ही अपने धर्म का मर्म समझाएँ।' यह विचार कर उन्होने लेटे हुए व्यक्ति के पास बैठकर धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया। किन्तु उस व्यक्ति ने उपदेश-श्रवण मे तनिक भी रुचि नही दिखाई और करवट बदल कर मुँह फेर लिया।

यह देखकर शिष्य अपने विहार मे आ गये और बुद्ध से बोले—"भगवन् ! आज हमने एक अजीब व्यक्ति देखा। वह व्यक्ति सडक के एक किनारे आराम मे लेटा हुआ है। कोई काम उसके पास है नही, फिर भी उसने हमारी धर्म-सम्बन्धी कोई बात नही सुनी, उलटे मुँह फेर कर पड गया।"

बुद्ध ने शिष्यो की बात सुनी और कुछ क्षण उस पर विचार किया। तत्पश्चात् वे अपनी झोली मे कुछ आहार और पात्र मे जल लेकर शिष्यो के साथ उस स्थान पर आये जहाँ वह व्यक्ति लेटा हुआ था। बडे मधुर स्वर से बुद्ध बोले—

"वत्स ! तुम भूखे हो, यह लो थोडा आहार करो और जल पियो।"

बुद्ध के वचन सुनकर व्यक्ति उठा, उसने पेट भर खाना खाया और जल पीकर तृप्ति की साँस ली। उसके बाद स्वय उसने आग्रह करके बुद्ध से कुछ उपदेश देने की प्रार्थना की और उपदेश सुनकर बुद्ध के साथ ही प्रव्रज्या लेने का निश्चय कर चल पडा।

बन्धुओ, इस उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि मनुष्य को सर्वप्रथम किस दान की अपेक्षा होती है ? जब तक पेट खाली रहता है, वह ज्ञान आदि किसी अन्य दान से सन्तुष्ट नही हो सकता। इसीलिए कवि वाजिद ने अन्नदान को सबसे बडा पुण्य कार्य माना है।

गुजराती कविता मे भी धन होने पर उसे जरूरतमद लोगो को देकर परोपकार करने की और इस प्रकार पुण्योपार्जन करने की प्रेरणा दी है। आगे कहा है—

धरो छो ध्यान मायानूं, करो छो काम कायानूं।
प्रभुने नथी ध्यानमा धरता, कहो क्यारे पछी तरशो ?

कवि कह रहा है—"ससारी प्राणियो ! तुम रात-दिन पैसे की चिन्ता मे पडे रहते हो कि किस प्रकार इसे अधिक से अधिक इकट्ठा कर सकें। यहाँ तक कि स्वप्न मे भी माल खरीदना, बेचना और जमा-खर्च का हिसाब रखना ही तुम्हे दिखाई देता है। और इससे समय बचता है तो अपने शरीर को सजाने-सँवारने और पुष्ट करने की कोशिश मे लगे रहते हो। तुम भूल जाते हो कि यह शरीर तो एक दिन नष्ट होकर खाक मे मिलने वाला है, चाहे कितने ही पौष्टिक पदार्थ इसे क्यो न खिलाओ और इत्र-फुलेल आदि लगाकर क्षणिक समय के लिए सुगन्धित बना लो, अन्त मे इसका नाश होगा और इसके द्वारा जिस महान् उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है वह कभी न हो सकेगी।

वस्तुतः मानव-जन्म केवल क्षण-भगुर भौतिक सम्पदा को बटोरने के लिए प्राप्त नही हुआ है और न ही इस नाशवान शरीर को क्षणिक सुख पहुँचाने के लिए। अपितु यह जन्म आत्म-कल्याण करने के लिए मिला है और शरीर आत्म-साधना का माध्यम है। इसके द्वारा ही जप, तप, ध्यान, साधना एव ईश-भक्ति की जा सकती है। किन्तु तुम ईश्वर का ध्यान नही करते तो फिर बताओ कौन-से जन्म मे यह करोगे ?

हिन्दी के एक कवि ने भी जीवन का महत्त्व बताते हुए अपनी कविता मे कहा है—

जिन्दगी है प्यार की, जिंदगी है धर्म की,
धर्म के ही काम मे कदम बढाए जा।
शीश चढ़ाये जा।
जिन्दगी एक नाव है, तिरने का दाव है,
वक्त लाजवाब है, व्यर्थ न गवाये जा।
जिन गुण गाये जा।

व्यक्तियो की सहायता और सेवा करने का जो बीडा आपने उठाया है वह सराहनीय है। परोपकार और सेवा का महत्त्व कम नही है। इसके द्वारा जीव तीर्थंकर पद की प्राप्ति भी कर सकता है।

झुककर ही ऊँचा उठा जाता है

आप प्राय स्कूलो में देखते हैं कि विद्यार्थी खेलते समय जब ऊपर की ओर उछलना चाहते हैं तब एक बार खूब झुकते हैं और फिर पूरी शक्ति लगाकर ऊपर की ओर उछलते है। इसी प्रकार आत्मा को उन्नत बनाने के लिए मनुष्य को झुकना चाहिए, तभी उसकी आत्मा ऊँची उठ सकती है।

यहाँ झुकने का अर्थ शरीर को नीचा झुकाने से ही नही है, अपितु अपने अहकार, गर्व, अकड या बडप्पन की भावना को झुकाने से है। जो व्यक्ति ऐसा करता है वही परोपकार और सेवा कर सकता है। देखने मे सेवा साधारण मालूम देती है, किन्तु उसका फल ऊँचा मिलता है। पैर शरीर मे सबसे नीचे रहते हैं और सिर अकड के कारण ऊपर। किन्तु नमस्कार पैरो को किया जाता है, सिर को नही। इसका कारण यही है कि पैर शरीर की सेवा करते हैं। स्वय वे कटकाकीर्ण, ककर-पत्थर तथा मिट्टी-कीचड आदि से भरे हुए मार्ग पर चलकर नाना प्रकार के कष्ट उठाते हैं पर शरीर पर एक खरोच भी नही आने देते। इसीलिए लोग उन पर अपना मस्तक रखते है।

पैरो के इस उदाहरण से शिक्षा लेते हुए हमे भी सेवा के महत्त्व को समझना चाहिए तथा जितनी भी शक्य हो, जरूरतमन्दो की सेवा करने मे हिचकिचाहट नही रखनी चाहिए। तभी हम अपनी आत्मा को कर्मो से हलकी बनाकर भवसागर तैरने मे समर्थ बन सकेंगे और मानव-जन्म का सच्चा लाभ उठाकर इस लोक और परलोक मे सुख प्राप्त करेंगे।

२ | धर्मो रक्षति रक्षितः

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

प्राचीन काल मे हमारे भारतवर्ष को आर्यावर्त कहा जाता था क्योकि इस भारतभूमि पर आर्यों का निवास था।

आर्य कौन कहलाते थे ?

जिन आर्यों के कारण भारत को आर्यावर्त कहा जाता था, वे कैसे होते थे, यह जानने की जिज्ञासा प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है। अत उनके विषय मे सक्षिप्त रूप से यही कहा जा सकता है कि ऐसे व्यक्ति जो हेय कार्यों से दूर रहकर धर्म का यथाशक्ति आचरण करते थे वे शिष्ट और सस्कारी पुरुप ही आर्य कहलाते थे तथा उनके इस भूमि पर निवास करने के कारण भारत की भूमि धर्मभूमि कहलाती थी।

इस देश के लोग धर्म को प्राणो से भी प्रिय मानते थे तथा अपने जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त की क्रियाओ मे धर्म की भावना सतत् बनाये रखते थे। उन आर्यों के लौकिक आचार-विचार मे भी धर्म का पुट सदा विद्यमान रहता था तथा धर्म से भिन्न वे किसी व्यवहार-आचरण की कल्पना नही करते थे।

भारत के प्राचीन इतिहास मे ऐसे अनेक धर्मवीरो के उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने अपने सर्वस्व का त्याग करना उचित समझा किन्तु धर्म का परित्याग करना कदापि ठीक नही माना। अनेको व्यक्तियो ने तो अपने प्राणो का उत्सर्ग करके भी धर्म की रक्षा का प्रयत्न किया था। उनका दृढ विश्वास था कि—

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित ।

अर्थात् जो अपने धर्म का विनाश करता है, उसका नाश हो जाता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा होती है।

यहाँ रक्षा से अभिप्राय शरीर अथवा सम्पत्ति आदि की रक्षा से नही है वरन् आत्मा की रक्षा से है। इससे स्पष्ट है कि धर्म का त्याग करने वाले प्राणी की आत्मा कर्मों के भार से लद जाती है तथा अनन्तकाल तक ससार-परिभ्रमण करती हुई नाना प्रकार की यातनाओ को भोगती है। उसे उन यातनाओ से बचाने मे कोई भी समर्थ नही होता यानी उन कष्टो से कोई भी आत्मा की रक्षा नही कर सकता।

किन्तु इसके विपरीत जो व्यक्ति धर्म की रक्षा करता है, यानी धर्ममार्ग पर दृढता से चलता है और कभी भी उसका परित्याग नही करता, वह अपने कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को परमात्मा वना लेता है तथा सदा के लिए ससार के कष्टो से वच जाता है ।

तो प्राचीनकाल मे आर्य कहलाने वाले भव्य प्राणी धर्मप्रधान मनोवृत्ति के होते थे अत पूर्ण सन्तोष एव शान्ति के साथ अपना जीवन यापन किया करते थे । उनके जीवन मे आज के व्यक्तियो के जैसी असन्तुष्टि, अशान्ति, व्याकुलता और भाग-दौड नही थी । धन के लिए वे हाय-हाय नही करते थे, क्योकि धर्म उनकी तृष्णा पर अकुश लगाये रहता था । उनके हृदय मे धन के प्रति मोह नही होता था उल्टे धर्म के लिये वे जान देने को भी तैयार रहते थे । इसका कारण केवल यही था कि वे मानवजन्म के उद्देश्य को समझते थे और इसीलिए इस जीवन का लाभ उठा लेने मे तत्पर रहा करते थे । सन्त-महापुरुषो का कथन भी है—

> तू कछु और विचारत है नर,
> तेरो विचार धर्यो ही रहैगो ।
> कोटि उपाय किये धन के हित,
> भाग लिख्यो तितनो ही लहैगो ।।
> भोर की सांझ परी पर मांझ,
> सो काल अचानक आइ गहैगो ।
> राम भज्यौ न कियौ कछु सुकृत,
> सुन्दर यो पछिताई वहैगो ।।

वस्तुत मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ है । इसका कारण यही है कि वह इस जीवन मे जो कुछ भी प्राप्त करता है वह पूर्वोपार्जित शुभ एव अशुभ कर्मों के फलस्वरूप पाता है । अत किस प्रकार वह कर्म-फल को वदल सकता है ? पूर्व मे अधिक पुण्यो का सचय हो तो मनुष्य इस जन्म मे सागोपाग शरीर, सम्पत्ति एव अन्य सुख के साधन प्राप्त करता है पर अगर पूर्व-पुण्य न हो तो कोटि प्रयत्न करने पर भी किस वल पर वह उन्हे पा सकता है ? यानी नही पा सकता । इसी को ललाट का लिखा कहते हैं । किन्तु सुन्दरदास जी कहते हैं कि और कुछ मिले या न मिले, यह शरीर तो मनुष्य को मिल ही चुका है जो कि मेटा नही जा सकता, तो फिर इसके द्वारा ईश्वर-भक्ति, सेवा तथा परोपकार आदि सुकर्म वह क्यो नही करता ? इन सवके लिए तो वह आज और कल ही करता रहता है पर जव काल अचानक आकर उसे ले जाने लगेगा तो फिर केवल पश्चात्ताप के अलावा और उसके साथ क्या चलेगा ?

नुसार मिला हुआ मानकर सन्तोष रखे तथा जितना भी बन सके आगे के लिए शुभ-कर्मों का सचय करे। पर यह तभी होगा जबकि वह अपने जीवन को धर्ममय बनाये रखे तथा कैसी भी परिस्थितियाँ क्यो न सामने आयें धर्म-पथ से विचलित न हो। व्यक्ति को दृढ विश्वास होना चाहिए कि धर्मानुसार चलने से कभी भी आत्मा का अहित नही होता तथा भविष्य मे दु ख-प्राप्ति की सभावना नही रहती।

तारीफ की बात तो यह है कि धर्म के प्रताप से उसे अगले जन्मो मे तो सुख हासिल होता ही है, इस जन्म मे भी सभी भौतिक सुखो की उपलब्धि हो जाती है।

सस्कृत के एक श्लोक मे बताया गया है कि धर्म के प्रभाव से मानव इस जन्म मे भी जो सासारिक सुख होते हैं, उन्हे प्राप्त कर लेता है। ये सुख मुख्य रूप से सात प्रकार के माने गये हैं और इस प्रकार हैं—

> आरोग्य प्रथम द्वितीयकमिदं लक्ष्मीस्तृतीय यश।
> पूर्णस्त्री पतिचित्तगाश्च विनयी पुत्रस्तथा पचमः॥
> षष्ठो भूपति सौम्यदृष्टिरतुला, बालोऽभय सप्तम।
> सप्तैतानि सुखानि यस्य भवने धर्मप्रभावंस्फुट॥

श्लोक मे बताया है कि आरोग्य, लक्ष्मी, यश, पतिव्रता स्त्री, विनयी पुत्र, प्रजापालक राजा एव भयरहितता, ये सातो सुख जिसे प्राप्त हुए हैं वे धर्म की शक्ति और प्रभाव से ही प्राप्त हुए हैं, यह निश्चय रूप से मानना चाहिए। अब हम इन सातो का सक्षिप्त वर्णन करेंगे।

१ पहला सुख निरोगी काया

यह उक्ति आप अनेको बार कहते हैं और दूसरो से सुनते भी हैं। वास्तव मे इस ससार के भौतिक सुखो मे से सबसे बडा सुख शरीर का निरोग रहना है। भले ही व्यक्ति को धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र आदि अनेक प्रकार के सुख प्राप्त हो जायँ किन्तु शरीर से वह रोगी और निर्बल बना रहे तो अन्य सभी सुख उसके लिए नही के बराबर होते हैं।

उदाहरण स्वरूप एक व्यक्ति के पास लाखो की सम्पत्ति है, किन्तु उसे सग्रहणी हो गई है और डाक्टर ने केवल छाछ-रोटी पर रहने के लिए आदेश दिया है तो वह सम्पत्ति उसे क्या सुख पहुँचाएगी? जीभ को स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ मिलें, इसीके लिए तो व्यक्ति नाना प्रकार के अनैतिक कार्य करके भी धन इकट्ठा करता है किन्तु जब केवल छाछ-रोटी या पालक की भाजी खाकर ही रहना पडे तो वह धन फिर किस काम का?

यह तो हुई शरीर के निरोग रहने पर सासारिक सुखो के उपभोग की बात। पर अब हमारे सामने आध्यात्मिक सुख-प्राप्ति की बात भी आती है। आप जानते ही हैं कि परलोक मे सुख प्राप्त करने के लिए भी शरीर का स्वस्थ्य और

निरोग रहना आवश्यक है। अगर शरीर स्वस्थ न रहे तो व्यक्ति किस प्रकार सामायिक, प्रतिक्रमण, ध्यान, स्वाध्याय जप एव तप कर सकता है ? ये सभी कार्य स्वस्थ शरीर के द्वारा ही हो सकते हैं। शरीर ही तो इन सबका माध्यम है। कहा भी है—

धर्मार्थकाममोक्षाणा, मूलमुक्तं कलेवरम् ।

धर्म का, धन का, विविध इच्छाओ का और मोक्ष का साधन यह शरीर ही है।

हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य के शरीर मे साढे तीन करोड रोमरध्र है और प्रत्येक रोम के मूल मे पौने दो के हिसाब से रोग पाये जाते हैं। इस प्रकार साढे पाँच करोड से भी अधिक रोग शरीर को रोगी और निर्बल बनाने के लिए तैयार रहते हैं। आज के समय मे हम देखते हैं कि प्रत्येक गाँव और शहर के हॉस्पीटल रोगियो मे भरे रहते हैं। तो ऐसे काल मे शरीर का रोगमुक्त रहना और उससे धर्म-साधन करना कितना कठिन और सौभाग्य का सूचक होता है। पर वह तभी होता है जबकि पिछला पुण्य पल्ले मे हो और आज भी व्यक्ति धर्म के मार्ग पर चले।

मनुष्य को यह कभी नही सोचना चाहिए कि शरीर को अनेक कष्ट पहुँचा कर सत्कार्य या पुण्य-कार्य करने से क्या लाभ है ? क्योकि उनका फल तो न जाने कौन से अगले जन्म मे मिल पाएगा और कब वह जन्म हमे प्राप्त होगा। यथार्थ बात तो यह है कि शुभ-कर्म अगले जन्म मे तो शुभ-फल प्रदान करते ही हैं, इस जन्म मे भी अपना फल प्रदान करने मे नही चूकते।

हमारे स्थानाग सूत्र मे स्पष्ट बताया गया है—

इह लोगे सुचिन्ना कम्मा,
इह लोगे सुहफलविवाग सजुत्ता भवति ।
इह लोगे सुचिन्ना कम्मा,
पर लोगे सुहफलविवाग सजुत्ता भवति ।

अर्थात्—इस जीवन मे किये हुए सत्कर्म इस जीवन मे भी सुखदायी होते हैं तथा इस जीवन मे किये हुए सत्कर्म अगले जीवन मे भी सुखदायी होते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति को यथाशक्ति धर्माराधन करना चाहिए और कभी भी धर्म-मार्ग से उन्मुख नही होना चाहिए। अगर वह धर्म पर दृढ आस्था रखता हुआ अपने जीवन को धर्ममय बनाए रखता है तो उसका सबसे पहला फल तो शरीर की स्वस्थता के रूप मे इसी जन्म मे मिलेगा, इसमे सन्देह नही है। यही बात सस्कृत के श्लोक मे भी कही गई है कि धर्म के द्वारा निश्चय ही प्राप्त होने वाला सर्वश्रेष्ठ और सर्व-प्रथम सुख आरोग्य है।

२ दूसरा सुख घर मे माया

'पहला सुख निरोगी काया, दूसरा सुख घर मे माया।' इस उक्ति के दो खड है। पहले मे एक सुख निरोगी शरीर बताया है और दूसरे खड मे दूसरा सुख बताया है घर मे माया अर्थात् लक्ष्मी का होना।

लक्ष्मी से प्राप्त होने वाले सुखो से आप अपरिचित नही है। आप जानते हैं कि दो पैसे पास मे होने से आपका जीवन सुख-सुविधा के साधनो से परिपूर्ण रहता है तथा समाज मे भी लोग इज्जत कराते हैं। पैसे के अभाव मे व्यक्ति कितना भी विद्वान और धर्मात्मा क्यो न हो, आपके समाज मे वह प्रतिष्ठा प्राप्त नही कर पाता, जो एक धनी व्यक्ति प्राप्त करता है।

आप कहेंगे कि हम साधु तो धन को हेय मानते हैं और इसे त्याग करने का उपदेश देते हैं फिर धन को महत्त्व क्यो देते है तथा इसे सुख क्यो मानते हैं?

बधुओ, यहाँ जरा विचार करने की बात है कि साधु एकान्त रूप से और प्रत्येक स्थिति मे ही धन का त्याग करने और उसे न छूने का उपदेश नही देते। और वे ऐसा करेंगे भी क्यो? क्या उन्हे आहार-जल लेने की आवश्यकता नही पडती? क्या उन्हे आपसे वस्त्र नही लेना पडता और शिक्षा प्राप्त करने के लिए पडितो की जरूरत नही पडती जिनको आप रुपये देते हैं? यह सब आखिर पैसे से ही तो होता है।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि आप श्रावक हैं और सद्गृहस्थ हैं अत आपका कार्य पैसे के बिना नही चलता। किन्तु हमारा कहना यह होता है कि प्रथम तो आप अनीति से धन का उपार्जन न करें। अनीति अर्थात् बेईमानी और धोखे। बाजी से पैसा कमाने पर अनेको व्यक्तियो को कष्ट होता है, उन्हे भूखा मरना पडता है तथा घोर दरिद्रावस्था मे समय गुजारने के कारण नाना तकलीफें उठानी पडती हैं। और इस सबका मूल कारण आपकी अनैतिकता होती है तथा इसके फलस्वरूप आपके अशुभ कर्मो का बध होता है। तो साधु आपको नीति एव सदाचारपूर्वक जीवन बिताने की शिक्षा देते हैं ताकि आपकी आत्मा निर्मल और निष्कलक बने।

दूसरी बात हम आपको बार-बार यह कहते हैं कि आप अपनी जरूरत से अधिक धन इकट्ठा करने का प्रयत्न न करें क्योकि ऐसा करने से आपकी पेटियाँ तो भर जाती हैं किन्तु अन्य सैकडो व्यक्तियो के पेट भी खाली रह जाते हैं। तो गरीबो के पेट खाली रखकर और उन्हें अधनगा रहने पर मजबूर करके आप लाखो और करोडो का धन इकट्ठा कर भी लेंगे तो वह आपके क्या काम आएगा? आखिर आप कितना खायेंगे और कितना पहनेंगे? पेट मे समाने लायक अन्न और लज्जा ढकने जितना वस्त्र ही तो पहनेंगे। तब फिर अधिक परिग्रह इकट्ठा करने की लालसा क्यो रहती है? क्यो आप लोगो की तृष्णा कभी समाप्त नही होती?

सन्त इस तृष्णा को समाप्त करने की प्रेरणा देते हैं। उनका यही उपदेश होता है कि आपके पास थोडा या अधिक कितना भी धन हो, पर आपका मन सदा हाय-हाय न करता रहे। प्रत्येक आत्मोन्नति का इच्छुक व्यक्ति महाराज भरत के समान ऐश्वर्य और सुख के असख्य साधनो के बीच मे रहते हुए भी उनमे आसक्ति न रखे। साथ ही प्राप्त धन के द्वारा दानादि देकर परोपकार करता हुआ उसका सदुपयोग करे। इस प्रकार सन्त-महापुरुष आपको धन का एकदम ही त्याग करने के लिये न कहकर उसमे आसक्ति न रखने की, औरो का गला काटकर आवश्यकता से अधिक इकट्ठा न करने की और आपके पास रहे हुए धन का दुरुपयोग न करने की प्रेरणा देते हैं।

यद्यपि कर्मों की सम्पूर्ण रूप से निर्जरा करके सदा के लिये ससार-मुक्त होने के लिये तो आपको धन का सर्वथा त्याग करना ही होगा और उसकी तरफ झाकने की भावना भी न हो ऐसा प्रयत्न करना होगा। किन्तु जब तक आप साधना की उस स्थिति पर नही पहुँच सकते और सासारिक कर्तव्यो से बधे रहते हैं, तब तक कम से कम शुद्ध श्रावक-धर्म का तो आपको पालन करना ही चाहिए। और इसीलिये सम्पूर्ण रूप से न हो सके तो भी आशिक रूप से व्रतो को ग्रहण करना चाहिए। ऐसा होने पर ही आप स्वय धर्म के प्रभाव से प्राप्त लक्ष्मी का सुख प्राप्त कर सकेंगे तथा अन्य अनेक जीवो को भी सुखी बना सकेंगे।

धर्म-मार्ग पर चलने का अर्थ आपके लिये यही है कि आप लालसा, तृष्णा एव आसक्ति का परित्याग करें और जो कुछ भी धन आपको मिले उसमे पूर्ण सन्तोष-पूर्वक स्वय उपयोग करते हुए अन्य अभावग्रस्तो मे भी बाँटें। धन बुरा नही है पर इच्छा और आशाएँ बुरी है। अगर व्यक्ति धन-सम्पत्ति का त्याग करके साधु बन जाय पर इच्छाओं का त्याग न कर सके तो उसकी समस्त साधना व्यर्थ है।

कवि सुन्दरदास जी ने भी यही कहा है—

> गेह तज्यो पुनि नेह तज्यो,
> पुनि खेह लगाइके देह सवारी।
> मेघ सहैं सिर सीत सहैं तन,
> धूप समै जु पचागिनि बारी।।
> भूख सहे रहि रूख तरे पर,
> सुन्दरदास सहे दुख भारी।
> आसन छाडि के कासन ऊपर,
> आसन मारि पै 'आस' न मारी।।

कवि ने बडी सुन्दर और मार्मिक बात कही है कि—"कोई व्यक्ति स्वर्ग और मोक्ष-प्राप्ति की लालसा के कारण धन, सम्पत्ति और घर को छोड़ देता है तथा परिवार के प्रति रहे हुए मोह का भी त्याग करके साधु बन जाता है। इतना ही नही

वह अपने शरीर के सौन्दर्य को ढकने के लिये उस पर राख मलता है। किसी वृक्ष के नीचे रहकर भूख महन करता है, भयकर शीत और घनघोर वर्षा की परवाह न करता हुआ जब कडी धूप पडती है तो पचाग्नि तप भी तपता है। इस प्रकार अनेको घोर कष्ट सहते हुए अपने कोमल आसन का त्याग करके घास-फूस एव कास आदि कष्ट-कर वस्तुओ पर आसन जमाकर तपस्या मे मग्न होना चाहता है किन्तु आसन बदल लेने पर भी वह 'आस' को नही त्याग पाता तो उसे क्या लाभ हो सकता है? ऐसे प्राणी न घर के रहते है और न घाट के। उनकी दशा अत्यन्त दयनीय बन जाती है।

तो बन्धुओ! श्लोक मे बताया गया है कि धर्म के प्रभाव से दूसरा सुख लक्ष्मी के रूप मे मनुष्य को मिलता है। पर अगर उसके द्वारा सच्चा सुख प्राप्त करना है तो उसे लालच एव तृष्णा का परित्याग करके परोपकारादि करते हुए सन्तोष-रूपी धन को हासिल करना चाहिए।

३ यश-प्राप्ति

धर्म के प्रभाव से मनुष्य को जो सात सुख इस ससार मे प्राप्त होते हैं, उनमे से तीसरा सुख यश प्राप्त करना है। यश की प्राप्ति कर लेना भी सहज नही है। यह कोई ऐसी वस्तु नही है, जिसे धन देकर खरीद लिया जाय या किसी से छीन लिया जाय। यश की प्राप्ति व्यक्ति को तभी हो सकती है, जबकि वह अपने जीवन को ही औरो के लिये अर्पण कर दे तथा सर्वस्व से मुँह मोड ले। कीर्ति तो फिर भी मानव जल्दी प्राप्त कर लेता है पर यश प्राप्त करना उसके लिये टेढी खीर है।

आप सोचेंगे कि कीर्ति और यश मे क्या फर्क है? दोनो ही तो समानार्थक हैं। पर ऐसी बात नही है। अगर बारीकी से देखा जाय तो इन दोनो मे काफी अन्तर पाया जाता है। सस्कृत मे कहा गया है—

"एकदिक्व्यापिनी कीर्ति, सर्वदिक्व्यापी यश।"

अर्थात् कीर्ति एक दिशा मे व्याप्त रहती है तथा यश सम्पूर्ण दिशाओ मे फैल जाता है। कीर्ति तो किसी की महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश अथवा बगाल मे होती है, किन्तु यश प्रत्येक दिशा मे व्याप्त हो जाता है। आज गाँधीजी की केवल हिन्दुस्तान मे ही नही वरन् विदेशो मे भी प्रशसा और सराहना की जाती है। वह उनका यश है जो प्रत्येक और ममान है।

आज लक्ष्मीपति तो बहुत होते है किन्तु यशस्वी विरले ही मिल सकते है। तारीफ की बात तो यह है कि धन के पीछे दौडने वाले कीर्ति का उपार्जन तो कर लेते हैं पर उससे मुँह मोड लेने वाले यश पाते है।

सुकरात ने एक स्थान पर कहा है—

'Fame is the perfume of heroic deeds'

कीर्ति वीरोचित कार्यों की सुगन्ध है।

सुकरात का कथन सत्य है कि वीरता एक बार तो मनुष्य को कीर्ति की प्राप्ति करा ही देती है और उस व्यक्ति के नाम का डका बज जाता है। किन्तु कालान्तर के बाद कोई पुरुष श्रद्धा या भक्ति के साथ उसका नाम स्मरण नही करता।

उदाहरण के लिये हम नेपोलियन बोनापार्ट को ले सकते हैं, जो कहता था-- शब्दकोष से असम्भव शब्द को निकाल देना चाहिए। वह अपने समय में जिधर गया अपनी वीरता से कीर्ति को गले लगाता रहा। किन्तु उसका अन्त कहाँ हुआ? एक साधारण कैदी के रूप मे किसी छोटे से टापू मे वह मरा।

मुसोलिनी भी वीरता के मद मे चूर होकर कहता था—"युद्ध विश्व की अनिवार्य आवश्यकता है।" अपने जीवन काल मे उसने समस्त देशो को एक बार हिला दिया। पर अन्त मे उसके गले मे फाँसी का फन्दा पडा।

यही हाल हिटलर का हुआ। उसने तो सारे विश्व को ही मानो चुनौती दी थी कि "मेरी अधीनता स्वीकार करो अन्यथा सबको समाप्त कर दूँगा।" वही वीर हिटलर कब और कैसे मरा इसका किसी को पता ही नही चला।

इन उदाहरणो से मेरा तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपनी शक्ति और बहादुरी के बल पर एक बार कीर्ति का उपार्जन कर लेता है, किन्तु कुछ समय बाद ही कोई उसकी प्रशसा करने वाला या श्रद्धापूर्वक स्मरण करने वाला नही होता।

किन्तु यशस्वी पुरुष अपने जीवन काल मे तो लोगो के लिये मार्ग-दर्शक एव आदर्श-रूप होते ही हैं, मरने के पश्चात् भी उसी प्रकार भक्ति और श्रद्धा के पात्र बने रहते हैं तथा अपने गुणो के कारण पूज्यनीय बनते हैं।

इस विषय मे एक पाश्चात्य दार्शनिक 'हैजलिट' ने बडी मर्मस्पर्शी और यथार्थ बात कही है। वह इस प्रकार है—

"The temple of fame stands upon the grave, the flame upon its altars is kindled from the ashes of the dead"

यानी कब्र पर यश का मन्दिर खडा होता है और मृतक की राख से उस पर चिराग जलता है।

वस्तुत समस्त सासारिक वैभव तो काल पाकर क्षय हो जाता है, किन्तु यश रूपी धन अक्षय है। इसे काल कभी भी नष्ट नहीं कर सकता। प्राचीन काल से लेकर आज के युग तक मे राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा एव गाँधीजी आदि जो अनेकानेक महापुरुष हुए हैं उनका यश उस समय भी वही था, आज भी वैसा ही है और भविष्य मे भी ऐसा ही रहेगा।

इसका कारण यही है कि उन्होंने धन के बल पर या शारीरिक शक्ति के बल पर यश का उपार्जन नही किया। दूसरे शब्दो मे यश-प्राप्ति की उन्होंने आकाक्षा ही

नही की। वे तो उलटे त्याग के बल पर यशस्वी बने है। वे अपने नाम और यश के पीछे नही दौडे, अपितु यश ने उनका पीछा किया है। सच्चे सन्त और महापुरुष जो कि धर्म के मार्ग पर चलते हैं, 'नेकी कर और कुंए मे डाला' वाली कहावत को चरितार्थ करते है। अपने शत्रु पर भी वे क्रोध नही करते तथा उससे बदला लेने की भावना नही रखते। इसका कारण यही है कि वे सभी प्राणियो को आत्मवत् समझते हैं और अपना अनिष्ट करने वाले को अज्ञानी मानते हैं।

सत का क्षमाभाव

अयोध्या मे एक वैष्णव सत सरयू नदी को पार करने की इच्छा से उसके घाट पर आये। उस समय वर्षा ऋतु का जोर और नदी मे बाढ होने के कारण घाट पर एक ही नाव थी। और उस नाव मे अनेक अशिष्ट एव दुष्ट प्रकृति के लोग बैठे हुए थे।

सत को देखते ही लोग उपहास और व्यग से बोले—"हमारे साथ कोई ढोंगी बाबा नही बैठ सकता। साधुओ को किसी दूसरी नाव से जाना चाहिये। वही रहो, इधर मत आओ।" इस प्रकार जिस व्यक्ति को जो सूझा उसने वही कहा।

किन्तु रात्रि का समय था और नाव एक। अत सत ने मल्लाह से नम्रता पूर्वक कहा—

"भाई! अगर तुम मुझे अपनी नाव से नही ले चलोगे तो मुझे पूरी रात यहाँ पडे रहना पडेगा।"

मल्लाह बेचारा भला और श्रद्धालु आदमी था अत उसने सत से कहा—"भगवन्, इसमे कहने की क्या बात है? आप इसी नाव मे एक ओर विराज जाइये।"

नाव मे बैठे हुए दुष्ट लोग मल्लाह के कारण उस समय तो कुछ नही बोले, किन्तु नाव चलते ही उन्होंने सत को कटूक्तियाँ और गालियाँ देनी प्रारम्भ कर दी। सन्त कुछ नही बोले। वे चुपचाप शान्तिपूर्वक ईश्वर का जप करते रहे।

यह देखकर वे लोग और चिढे तथा उनमे से किसी ने सन्त पर पानी डाला, किसी ने पीठ पर मुक्के लगाये और दो-चार ने मिलकर उन्हे पानी मे गिरा देने का प्रयत्न किया।

इतना होने पर भी सन्त का चेहरा पूर्ववत् मधुर मुस्कान से भरा रहा और वे सम्पूर्ण उत्पात शान्ति से सहन करते रहे। पर जब दुष्ट व्यक्ति उन्हे धकेल कर पानी मे गिराने लगे और साधु के जीवन को खतरा हो गया तो देवताओ को क्रोध आया और उन्होंने आकाशवाणी के द्वारा पूछा—

"महात्मन्! आप आज्ञा दे तो इन सब दुष्ट व्यक्तियो को हम क्षण भर मे भस्म कर दें।"

आकाशवाणी जिस प्रकार सन्त ने सुनी, उसी प्रकार उन सभी असभ्य और दुष्ट व्यक्तियो ने भी सुनी। उसे सुनकर सब काठ के मारे से बैठे रह गये और मृत्यु के डर से कांपने लगे। किन्तु उसी समय सन्त ने हाथ जोडकर गद्-गद् स्वर से आकाशवाणी के उत्तर मे कहा—

"नही, कृपा करके ऐसा अनर्थ मत करना। ये सब अज्ञानी प्राणी हैं और क्षमा करने के लिए पात्र हैं। भूले हुए व्यक्तियो को क्षमा करना ही ज्ञानियो का कर्तव्य है, अत इन्हे कोई कष्ट न पहुँचाया जाय।"

सन्त के ये वचन सुनते ही सब आततायी उनके चरणो पर गिर पडे और अपने अपराधो के लिए क्षमा मांगते हुए सदा के लिए ईश्वर के और सन्तो के सच्चे भक्त बन गये।

तो बधुओ, सच्चे साधु एव महापुरुष अपने शत्रुओ का भी उपकार करते है। और वह भी किसी के द्वारा प्रशसा प्राप्त करने के लिए या अपनी सराहना किये जाने के लिए नही वरन् अपने आत्म-तोष एव करुणा की भावना के कारण वे ऐसा करते है। इसी के फलस्वरूप यश स्वय आकर उनके नाम के साथ जुड जाता है।

४ पतिव्रता स्त्री की प्राप्ति

अब धर्म के प्रभाव से प्राप्त होने वाले चौथे सुख के विषय मे बताना है। श्लोक में कहा गया है कि चौथा सुख है पतिव्रता अर्थात् पति मे ही अपना चित्त अनुरक्त रखने वाली स्त्री की प्राप्ति होना।

इस ससार मे ऐसी स्त्रियो का मिलना भी कठिन है जो अपनी सम्पूर्ण निष्ठा पति मे रखती है। आज हम देखते हैं कि जब तक पति अपनी पत्नी की सारी जरूरतें पूरी करता रहे तथा उसे नित्य नये वस्त्र और आभूषण बनवाता रहे, तब तक तो वह पति मे भक्ति और उसके प्रति प्रेम रखती किन्तु उन सबमे जरा सी भी कसर पडते ही उसे कटूक्तियाँ और व्यगोक्तियाँ सुनाना प्रारम्भ कर देती है।

तुलसीदासजी से कहा भी है—

> **काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।**
> **तिन्ह मह अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि॥**

कहते हैं कि मनुष्य को काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह आदि सभी कषाय अति दुखदायी होते है, किन्तु अगर नारी पतिव्रता, सुघड और सुसस्कृत न मिले तो वह महान् *असह्य दुख का कारण बनती है।*

आपने सत तुकाराम की पत्नी के बारे मे अनेक बार सुना होगा। वह इतनी फूहड और दुष्ट थी कि मौका पाते ही समय-असमय पति से लडती-झगडती और मार देने से भी बाज नही आती थी।

तुम कितनी अच्छी हो !

कहा जाता है कि सत तुकाराम पैसे के अभाव मे बडी कठिनाई से अपना गुजारा चलाते थे। एक बार उनके घर मे अन्न नही था अत वे अपने खेत से गन्ने काट लाने के लिए गये।

गन्ने उन्होने काटे और उनकी भारी बनाकर सिर पर रखते हुए घर की ओर रवाना हुए। पर मार्ग मे बहुत से बच्चे मिले और बच्चो को स्वभावत ही गन्ने प्रिय होते हैं अत उन्होने तुकारामजी से गन्ने मागे। तुकाराम सच्चे सत और भगवान के भक्त थे। उन बच्चो मे भी उन्होने भगवान का रूप देखा और सबको एक-एक गन्ना दे दिया। बच्चे अत्यन्त प्रसन्न होकर गन्ने चूसते हुए इधर-उधर चले गये।

अब तुकाराम जी के पास केवल एक गन्ना बचा और उसे ही लिए हुए वे घर आए। उनकी पत्नी रखुमाई बडी चिडचिडी और क्रोधी स्वभाव की थी। अत ज्यो ही उसने पति को एक गन्ना घर लाते हुए देखा तो आग-बबूला हो गई और वही गन्ना छुडाकर उनकी पीठ पर दे मारा। गन्ने के दो टुकडे हो गये।

तुकारामजी तो कषाय-विजयी थे अत वे मुस्कुराते हुए बोले-"वाह कितनी अच्छी स्त्री हो तुम। अभी मुझे हम दोनो के लिए गन्ने के दो टुकडे करने पडते पर मुझे तकलीफ न देकर तुमने स्वय ही यह कार्य कर दिया।"

बधुओ सत तुकाराम तो क्रोध-जित थे अत उन्होने पत्नी की मार को भी मधुरता से सहन कर लिया। किन्तु क्या सभी पुरुष ऐसे हो सकते है? नही, परिणाम यह होता है कि स्त्रियो के ताने-बाने और दुर्वचनो के कारण घर मे सदा कलह मची रहती है।

पर जो व्यक्ति पुण्यवान होते है और अपने जीवन को धर्ममय बनाये रहते है, उन्हे सुभार्या प्राप्त होती है और घर स्वर्ग बना रहता है।

आचार्य चाणक्य ने एक स्थान पर लिखा है—

सा भार्या या शुचिर्दक्षा, सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्रीता, सा भार्या सत्यवादिनी॥

वही भार्या सुभार्या है जो पवित्र और चतुर है, वही भार्या है जो पतिव्रता है, वही भार्या है जिस पर पति की प्रीति है और वही भार्या है जो सत्य बोलती है।

वस्तुत ऐसी सती स्त्रियां बडे भाग्य से और धर्म के प्रताप से ही प्राप्त होती है। जो पति के द्वारा और ससुराल के अन्य व्यक्तियो के द्वारा नाना कष्ट दिये जाने पर भी अपने पातिव्रत्य-धर्म से विचलित नहीं होती और सत्य एव शील पर दृढ रहती हैं।

सती सुभद्रा की कथा आप सब अच्छी तरह जानते है, जो फरेब करके उमसे विवाह करने वाले पति से भी क्रोधित नही हुई और माम के द्वारा दुश्चरित्रता का कलक लगाये जाने पर भी आप मे वाहर नही हुई। उसने अपने धर्म पर दृढ विश्वास रखा और उसके फलस्वरूप ही धर्म ने उसके शील की शुद्धता का प्रमाण देत हुए ससार मे पूजनीय बनाया और सदा के लिए अमर कर दिया। ऐसी नारियाँ स्वय अपने को यशस्वी बनाती हुई अपने पितृकुल और श्वसुरकुल, दोनो को ही उज्ज्वल बना देती हैं।

५ विनयी पुत्र

(श्लोक मे छठा सुख पुत्र का विनयी होना कहा गया है।) आज के युग मे अनेक व्यक्ति हमारे पास भी शिकायत लेकर आते हैं कि उनके लडके उनकी बात नही मानते तथा मनमानी करते है। वे हमसे कहते है कि आप उन्हे समझाइये। पर हम क्या-क्या कहे, उत्तम सस्कार तो बालक की शैशवावस्था मे ही डाले जाने चाहिए। कच्ची मिट्टी को कुम्हार चाहे जैसा गढ लेता है, पर उसके पक जाने पर फिर कुछ नही होता। इसी प्रकार बालक जब तक छोटा है, उसमे माता-पिता के द्वारा सतत सुन्दर-सुन्दर आदतें डाली जानी चाहिए। गुरुजनो का आदर करना तथा सुबह-शाम उनके पैर छूना सिखाना चाहिए। इसी प्रकार उनके हृदय म सच बोलने की, चोरी न करने की, किसी से झगडने या गालियाँ न देने की प्रवृत्ति जन्म ले, इसकी कोशिश करनी चाहिए।

आज हम चारो ओर यानी कॉलेजो मे, स्कूलो मे, घरो मे और यहाँ तक कि सत समाज मे भी देखते हैं कि शिक्षार्थी शिक्षक का आदर नही करते, पुत्र माता-पिता की परवाह नही करते और शिष्य गुरु की आज्ञानुसार नही चलते।

ऐसी स्थिति, समय और काल मे अगर पुत्र विनयी हो और शिष्य आज्ञाकारी हो तो वह धर्म के प्रताप से ही माना जाना चाहिए।

पुत्र की प्राप्ति तो सभी को होती है और एक ही नही कई-कई पुत्र होते है। पर अगर वे सुपुत्र न हो तो उनके होने से क्या लाभ है? कुछ भी नही, उल्टे वह माता-पिता के लिए सदा चिन्ता और दुख के कारण बने रहते हैं।

महात्मा विदुर ने कहा है—

> जनक वचन निदरत निडर,
> वसत कुसगति माँहि।
> मूरख सो सुत अधम है,
> तेहि जनमे सुख नाँहि॥

विदुर जी कौरवो और पाण्डवो के समय मे हुए थे। उन्होने प्रत्यक्ष देखा था कि दुर्योधन जैसे सौ पुत्र होने पर भी पिता धृतराष्ट्र कभी सुखी नही रह सके और उनके कारण उस समय सम्पूर्ण कुल का नाश हुआ सो तो हुआ ही, साथ ही सदा के लिए भी कुल कलकित हो गया। आज भी कौरवो के विषय मे पढकर लोगो का हृदय क्रोध और घृणा से भर जाता है।

और इसके विपरीत राजा दशरथ के चार ही पुत्र थे किन्तु उन चारो के सुपुत्र होने के कारण आज भी लोग रघुकुल को निष्कलक, उज्ज्वल और आदर्श मानते है। पिता के प्रति भक्ति एव उनकी आज्ञा का पालन करके राम जगत-पूज्य बने और आज उन्ही के कारण घर-घर मे रामायण परम श्रद्धा और भक्ति के साथ पढी जाती है।

आचार्य चाणक्य ने एक स्थान पर लिखा है—

एकोऽपि गुणवान्पुत्रो, निर्गु णैश्च शतैर्वर ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति, न च तारा सहस्रश ।।

अर्थात्—सैकडो गुणरहित पुत्रो की अपेक्षा एक गुणी पुत्र श्रेष्ठ है। एक चन्द्रमा ही अन्धकार नष्ट कर देता है, सहस्र तारे नही।

तो बन्धुओ, कुल को प्रकाशित करने वाले सुपुत्र क्या बिना पुण्यवानी और धर्म के अभाव मे मिल सकते हैं? कभी नही, इसीलिए कहा जाता है कि धर्माराधन करो, इसके द्वारा परलोक मे तो सुख मिलेगा तब मिलेगा पर इस लोक मे भी सात महान सुखो की उपलब्धि हो जाती है।

६ राजा की कृपा

हम प्राचीनकाल के इतिहास को उठाकर देखते हैं तो मालूम होता है कि मनुष्य के जीवन मे राजा का कितना महत्व था। अगर उसकी कृपादृष्टि होती तब तो लोग निहाल हो जाते थे, और जरा सी आँख टेढी होते ही नाना प्रकार के कष्टो का सामना करने को बाध्य हो जाते थे। छोटे-छोटे अपराधो के कारण ही राजा लोग अपराधियो को देशनिकाला, मृत्यु-दण्ड, मुंह काला करवा कर गधे की सवारी आदि-आदि सजाएँ दे दिया करते थे।

कई बार तो वे अपना क्रोध केवल अपराधी पर ही उतार कर सन्तुष्ट नही होते थे। वरन् उसके सम्पूर्ण कुल या परिवार को भी सजा देते थे। अकबर बादशाह ने कवि गग पर नाराज होकर उसके सारे परिवार को घानी मे पिलवा दिया था।

ऐसी स्थिति मे राजा की सौम्य-दृष्टि या कृपा-दृष्टि का होना भी महान् सुख का कारण माना जाता था।

७ अकुठावास

अकुठावास का अथ है—भयरहित स्थान मे निवास करना। भयरहित स्थान मे रहने का सुयोग भी वडी पुण्यवानी के वल पर मिलता है। आप लोग अखवार पढते है और जानते हैं कि विहार जैसे क्षेत्रो मे वर्षा ऋतु के समय इतनी भयकर वाढे आती है कि सैकडो लोग अपने मकानो, झोपडो और घर की चीजवस्त ही नही वरन् परिवार के लोगों सहित वह जाते हैं। अनेको व्यक्ति उस समय अपने प्राण खोते हैं पर जो वचते है वे पुन उन्ही स्थानो पर अपने घर वनाते है। इस प्रकार हमेशा अपना सर्वस्व खोकर भी वे वही रहते हैं और सदा भयभीत रहते हुए भी वही अपना जीवनयापन करते हैं।

इसी प्रकार मध्यप्रदेश के ग्वालियर आदि अनेक स्थानो मे जहाँ सघन जगलो की अधिकता है, वहाँ डाकुओ का भय सदा जनता के लिए वना रहता है। जव वे डाका डालते हैं, तव धन-पैसा तो ले ही जाते हैं, विरोध करने वालो को जान से भी खत्म कर जाते हैं। कई वार तो वे श्रीमन्तो के पुत्रो को ही पकडकर ले जाते हैं और अपनी माँग के अनुसार हजारो रुपये लेकर उन्हे छोडते हैं, अन्यथा मार डालते हैं।

इसी प्रकार कई प्रदेशो मे कुछ विशेष प्रकार के रोगो का भय सदा वना रहता है। यही कारण है कि भयरहित स्थान को सुख माना गया है और यह सुख भी पुण्य के वल पर मिलता है।

तो वधुओ, आप समझ गये होंगे कि धर्म के प्रभाव से पुण्यवानी वढती है और तभी इस ससार मे रहने पर भी मनुष्य को श्लोक के आधार पर वताये गये सात सुख प्राप्त होते हैं। ये सातो सुख जव व्यक्ति को मिल जाते है तो फिर और कोई भी कमी भौतिक सुखो मे नही रह जाती। समस्त सासारिक सुख इन्ही मे समाविष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार इस लोक के सुख भी मनुष्य प्राप्त कर लेता है तथा शुभ कर्मों का सचय कर लेने पर परलोक मे भी सदा के लिए शाश्वत सुख और अकुठावास यानी मोक्ष-स्थान प्राप्त करने मे समर्थ वनता है, जहाँ से फिर कभी भी जन्म लेकर मृत्यु आदि के दुख पाने की आवश्यकता नही रहती।

पर ऐसा होगा तभी, जवकि मुमुक्षु दृढ श्रद्धा रखता हुआ धर्माराधन करे। दान, शील, तप एव भाव को जीवनसात् करे तथा मन, वचन एवं शरीर को साध-कर सम्यक प्रकार से ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की साधना करे।

यहाँ एक बात आपको ध्यान मे रखनी चाहिए कि पुण्यो का सचय करके सासारिक सुखो की उपलब्धि कर लेना ही मनुष्य-जीवन का ध्येय नही है । यह सब तो धर्मपरायण व्यक्ति को स्वत ही मिल जाता है और इसके लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता नही रहती । आवश्यकता तो हमे अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने की है । और इसके लिए उत्कृष्ट साधना एव तपाराधन की जरूरत है ।

आजकल आप अन्तगढ सूत्र सुन रहे हैं । इसमे बताया जा रहा है कि बडे-बडे सेठ-साहूकार एव राजा-महाराजा अपने समस्त वैभव और ऐश्वर्य का त्याग करके सयम की आराधना मे जुट गये थे । यह ठीक है कि आप गृहस्थ हैं और आपको गृहस्थ धर्म का पालन करना है, किन्तु बन्धुओ, ये सासारिक उलझने और कर्तव्य तो आपके कभी समाप्त होगे नही और जीवन पूरा हो जाएगा । तो फिर मुक्ति-प्राप्ति के लिए प्रयत्न आप कब करेंगे ?

यह तो निश्चित है कि इस जन्म मे न सही पर किसी न किसी जन्म मे तो आपको कर्मों के नाश का प्रयत्न करना ही होगा, अन्यथा आत्मा ससार-भ्रमण करती रह जाएगी । तो फिर जब यह करना ही है तो इसी जन्म मे क्यो न किया जाय ? किसी अगले जन्म की प्रतीक्षा किसलिए करना ? कौन जाने पुन यह मनुष्य का जीवन कब मिलेगा और मिलेगा भी या नही ।

इसलिए श्रेष्ठ यही है कि जीवन की क्षणभगुरता होने पर भी इसके अनुपम महत्व को समझकर इसे सार्थक बनाने का प्रयत्न किया जाय ।

कवि बाजिद ने भी अज्ञानी प्राणियो को उद्बोधन देते हुए कहा है—

गाफिल हुए जीव कहो क्यूं बनत है ?
या मानुष के सास जो कोऊ गनत है ।
जाग लेय हरिनाम कहाँ लौं सोय है,
चक्की के मुख पर्‌या सो मैंदा होय है ।।

कहते है—"अरे जीव ! गाफिल रहने से तेरा क्या बनेगा ? यानी सासारिक कार्यों मे तो तू सदा तत्पर रहता है किन्तु आत्म-हित के लिए साधना करने मे कल, परसो और उसके बाद भी कहता है बुढापे मे कर लेंगे । यह प्रमाद तुझे ले डूबेगा । क्योकि यह कौन व्यक्ति जानता है कि इस शरीर मे मुझे इतने श्वास अवश्यमेव लेने हैं । अर्थात् जीवन की यह डोरी कब तक मजबूत रहेगी, यह कौन कह सकता है ?

इसलिए अच्छा यह है कि आज और इसी क्षण अपनी प्रमाद-निद्रा का त्याग कर दे तथा चैतन्य होकर हरि का नाम ले । सोते रहने से काम नहीं चलेगा क्योकि

समय किसी की प्रतीक्षा नही करता। वह तेरे जागने की भी परवाह नही करेगा और जिस प्रकार चक्की के दो पाटो के बीच मे आया हुआ प्रत्येक दाना पिसता है, उसी प्रकार इस जन्म और मरण रूपी चक्की के पाटो मे फसा हुआ तू भी एक दिन नष्ट हो जाएगा और पश्चात्ताप करता हुआ इस लोक से प्रयाण करेगा।"

कवि का कथन अक्षरश यथार्थ है। जीवन का कोई ठिकाना नही है कि वह कब समाप्त हो जाएगा। अत प्रत्येक मानव को बिना एक क्षण भी व्यर्थ गँवाए आत्मकल्याण का प्रयत्न करना चाहिए। जो भव्य प्राणी ऐसा करेंगे वे इहलोक एव परलोक, दोनो मे सुखी बनेंगे।

३ | पराये दुःख दूबरे

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं—'मानव जन्म पाया है तो कुछ आत्म-साधना करो। अपनी वुद्धि और विवेक को काम मे लेते हुए स्व और पर का कल्याण करने का प्रयत्न करो।

दूसरो के चरखो मे तेल किसलिए डालना ?

यह एक कहावत है, जो यह कहती है कि औरो की तुम्हे क्या पडी है जो उनके भले-वुरे की फिक्र करते फिरते हो। अपनी निपटाओ वही ठीक है।

एक दृष्टि से यह कहावत निरर्थक नही है, उचित भी है। पर केवल उस स्थिति मे जव कि लोग अपनी व्यक्तिगत समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हो अथवा निरर्थक वाद-विवाद मे उलझकर झगडे झझट मे पडे हो। उस हालत मे विना वुलाये जाकर अपनी अक्लमन्दी जाहिर करना अथवा जवरदस्ती के पच वनकर फैसला करने का प्रयत्न करना कोई अच्छी वात नही है।

परन्तु जो अज्ञानी हैं और सही मार्ग की पहचान न कर सकने के कारण गलत मार्ग पर चल रहे हैं उन्हे स्वय जाकर मार्ग सुझाना भी उत्तम, आवश्यक और श्रेयस्कर है। साथ ही महान परोपकार का कार्य है। उदाहरण स्वरूप अगर कोई शिशु आग की ओर वढता है तो क्या आप दौडकर उसे पीछे नही हटाएँगे ? अवश्य हटाएँगे। वह क्यो ? इसलिए कि शिशु अनजान, अज्ञानी और भोला है।

इसी प्रकार आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले कार्यों को करने वाला व्यक्ति चाहे वृद्ध ही क्यो न हो, वह भी अज्ञानी ही माना जाता है। अगर वह भली-भाँति यह समझ ले कि इन कार्यों को करने से उसकी आत्मा भविष्य मे नाना कष्ट और भयकर यातनाएँ भोगेगी तो वह ऐसा करे ही क्यो ? जान वूझकर तो कोई आग मे कूदना नही चाहता। पर वह इन वातो को या तो समझ नही पाता या सुनकर भी अज्ञान के कारण उन पर विश्वास नही कर पाता। इसीलिए वह पतन के मार्ग पर वढता चला जाता है और उस हालत मे उसे पतित होने से वचाना सज्जन महापुरुषो का और ज्ञानियो का अनिवार्य कर्तव्य है।

साधु शब्द की व्याख्या करते हुए कहा भी है—

साध्नोति आत्मपरकार्यम् इति साधु ।

साधु वही होता है जो अपने और पर के कल्याण का प्रयत्न करे।

यहाँ विचार किया जा सकता है कि साधु को पहले अपना ही भला करने के लिए क्यो कहा गया ? यह तो खुदगर्जी हुई, उसे दूसरो का भला करना चाहिए।

इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि जब तक वह स्वय भला नही बनता, तब तक औरो का भला कैसे करेगा ? जब तक वह स्वय सही मार्ग पर नही चलता तब तक औरो को उस मार्ग पर कैसे चलाएगा ? इसके अलावा जब तक वह स्वय सम्यक् ज्ञान यानी आध्यात्मिक ज्ञान हासिल नही करेगा तब तक दूसरो को कैसे ज्ञानी बनायेगा ?

आज सासारिक विषयो का ज्ञान छात्रो को देने के लिए भी शिक्षक कई वर्षो तक स्वय पढते है तब स्कूलो, कालेजो मे पढाते हैं। फिर आध्यात्मिक ज्ञान जिसके द्वारा आत्मा ससार-मुक्त होती है, उसे प्राप्त करना क्या सहज चीज है ? नही, उसे प्राप्त करना बडा कठिन है और उससे भी कठिन उस ज्ञान को जीवनसात् करना है। केवल धर्मग्रन्थ और धर्मशास्त्र पढ लेने से तो काम नही चलता जब तक कि उनमे बताई हुई बातो को आचरण मे न लाया जाय।

कोई भी साधु या सज्जन व्यक्ति केवल औरो को ही उपदेश दे कि सत्य बोलो, अहिंसा का पालन करो, अन्य जीवो की रक्षा करो, परोपकार करो, किन्तु वह स्वय इन बातो पर अमल न करे तो क्या सुनने वाले उसकी बात मानेगे ? नही, वे तुरन्त ही कह देंगे—'पर उपदेश कुशल बहुतेरे।' यानी दूसरो को उपदेश देने मे तो सभी कुशल होते हैं, स्वय इन बातो को क्यो नही अपनाते ?

कहने का तात्पर्य यही है कि सभी उत्तम गुणो को समझकर उन्हे आचरण मे लाना धर्माराधन का मूल है। अगर इस मूल में भूल हो गई तो जीवन भर उपदेश देने से, तर्क-वितर्क करने से और थोथी क्रियाओ मे उलझे रहने से रचमात्र भी लाभ नही होगा और उत्थान के पथ पर प्राणी एक कदम भी नही बढ सकेगा।

अभी-अभी रतनमुनिजी ने आपको एक उदाहरण दिया कि नाविक ने रात भर नाव चलाई किन्तु प्रात काल देखा तो पाया कि वह उसी स्थान पर है, जहाँ नाव मे बैठा था। इसका कारण यही था कि उसने प्रारम्भिक भूल कर दी थी, यानी किनारे पर जिस रस्सी से नाव बँधी थी उस रस्सी को नही खोला था। शुरुआत की इस भूल से उसका रात भर नाव चलाना निरर्थक चला गया।

ठीक यही हाल आत्म-कल्याण के इच्छुक साधक का भी हो सकता है। अगर वह साधना से पूर्व मन मे रही हुई विषय-वासना की डोर को नही खोल लेता है तथा आत्मोपयोगी गुणो को अपने जीवन मे नही उतार लेता है तो फिर जीवन भर तप

एव साधना की क्रियाओ को करके भी क्या हासिल कर सकता है ? कुछ भी नही । वह जीवन-पर्यन्त धर्माचरण का ढोग भले ही करे तथा दूसरो को भी उपदेश दे-देकर अपने वाग्जाल मे फाँस ले, किन्तु स्वय उसकी आत्मा शुद्धता की ओर एक कदम भी नही वढ सकेगी ।

तो वन्धुओ, सच्चा साधु वही होता है जो प्रथम तो अपने जीवन को निर्मल और निष्कलक वनाकर साधना के क्षेत्र मे उतरता है, और तव अन्य अज्ञानी प्राणियो को भी कल्याण का मार्ग सुझाता है । ससार-सागर मे डूवते-उतराते प्राणियो के प्रति साधु मे स्वय ही दया का भाव जागृत होता है । हमारे यहाँ दया के आठ प्रकार वताये गये है । उनमे स्व-दया और पर-दया भी है । स्व-दया से तात्पर्य यह है कि साधक अपनी आत्मा पर दया करके उसे जन्म-मरण के दु खो से छुटकारा दिलाये और पर-दया का अर्थ है औरो की आत्माओ को भी ससार के दुखो से मुक्त कराने का प्रयत्न करे । परदु ख-कातर महापुरुषो का यही कर्तव्य है और यह कर्तव्य वे विना किसी अन्य की प्रेरणा और दवाव के करते हैं । दूसरे शब्दो मे दया की भावना उनके मानस मे इस प्रकार रम जाती है कि वे औरो के दु खो को देखकर द्रवित हुए विना और उन्हे दु खो से मुक्त करने का प्रयत्न किये विना रह ही नही सकते ।

पडौसी का कर्तव्य

एक छोटा-सा दृष्टान्त है कि दो व्यक्तियो ने एक ही समय मे एक-दूसर के पास ही अगूर के वगीचे लगाये ।

उन वगीचो मे से एक का मालिक वडी होशियारी और सतर्कता से अपने वगीचे का सरक्षण करता था । समय पर पानी देना, कूडा-कर्कट साफ करना और वेलो को हानि पहुँचाने वाले जीव-जन्तुओ से उनकी रक्षा करने मे वह पूरी सावधानी रखता था ।

किन्तु अगूरो के दूसरे वगीचे का मालिक लापरवाह और प्रमादी था अत वह न तो उसकी सार-सम्हाल ही करता था और न ही उसे हानि पहुँचाने वाले जीवो से वचा पाता था । परिणाम यह हुआ कि एक वार उसके वगीचे मे गधा घुस गया और आराम से अगूर खाने लगा ।

वगल के वगीचे के मालिक ने अपने पडौसी के यहाँ गधे को अगूर खाते हुए देखा तो विचार किया—

> **यद्यपि न भवति हानि , परकीया चरति रासभो द्राक्षाम ।**
> **वस्तुविनाश दृष्ट्वा तथापि मे परिखिद्यते चेत. ।।**

अर्थात् 'मेरे पडौसी के वगीचे मे गधा अगूर खा रहा है । उससे मेरी कोई हानि नही हो रही है क्योकि वह वगीचा मेरा नही है । किन्तु गधे के लिए जव घास

और अगूर समान हैं तो ऐसी कीमती और स्वादिष्ट वस्तु के विनाश होने से मेरे मन को खेद होता है।"

यह विचार आने पर उसने एक डण्डा उठाया और गधे को पडौसी के वगीचे मे निकाल दिया।

वन्धुओ! यह एक छोटा-सा दृष्टान्त है किन्तु गूढ रहस्य और शिक्षा मे परिपूर्ण है। आप प्रश्न करेंगे कि ऐसा क्यो? तो आपका समाधान करने के लिए इमका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि आप और हम भी अगूरो के वगीचो के मालिक हैं। आपका वगीचा श्रावकधर्म या गृहस्थाश्रम है और हमारा सन्यास-आश्रम या माधुधर्म है।

अव जरा गम्भीरता से विचार कीजिये कि साधु और गृहस्थ दोनो मे मे कौन अपने वगीचे की रखवाली और सार-सम्हाल वरावर करता है? अगर आपसे मैं यह प्रश्न पूछूं तो आप चट से यही उत्तर देंगे—"महाराज वगीचे की रक्षा तो आप ही वरावर करते हैं, हमे तो मरने की फुरसत भी नही मिलती, कैसे अपना वगीचा मम्हाले?"

वस्तुत सच्चे सन्त अपने सयम रूपी वगीचे में लगे हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप-रूप अगूरो की वेलो की वडी सजगता, सावधानी एव विवेकपूर्वक रक्षा करते हैं। इम वगीचे मे आते हुए विषय-विकारो के कचरे को साफ करते रहते हैं तथा दया, करुणा एव स्नेह के जल मे उन्हे मींचते रहते है। यही कारण है कि उनका सयम एव भावना-रूपी वगीचा मदा साफ-सुथरा रहता है एव शुभ-फल रूपी अगूर फूलते-फलते हुए सुरक्षित भी रहते हैं।

किन्तु इसके विपरीत आज के श्रावक या गृहस्थ अपने वगीचे के प्रति पूर्णतया लापरवाही रखते हुए उसकी ओर तनिक भी ध्यान नही देते। परिणाम यह होता है कि क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारो का कचरा वहाँ जमा हो जाता है और करुणा, सहानुभूति एव प्रेम-रूपी जल के अभाव मे वह सूखने लगता है। इसके अलावा प्रमाद अथवा आलस्य रूपी गधा रही-सही कसर पूरी करता है यानी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एव शील रूपी अगूरो की वेलो को जड-मूल मे खा चलता है।

यह देखकर साधु-पुरुष द्रवित होते हैं और अपने पडौसी श्रावक को सावधान करने का वार-वार प्रयत्न करते हैं। वे यह नही सोचते कि श्रावक का वगीचा सूख जाय या उसे प्रमाद रूपी गधा चर जाय तो हमारा क्या विगडता है, हम तो अपने वगीचे की रक्षा कर ही रहे हैं। उनके ऐसा न सोचने का कारण उनकी करुणा की भावना होती है। दया का जो अजस्र स्रोत उनके हृदय मे प्रवाहित होता है, उसके कारण वे औरो को भी दुखी नहीं देख सकते।

ध्यान मे रखने की बात है कि गृहस्थ, जो सासारिक सुख-भोगो मे ही निमग्न रहता हुआ सुख का अनुभव करता है वह अपनी आत्मा को भविष्य मे मिलने वाले दु खो के विषय मे नही समझ पाता। अर्थात् अपने दु ख को वह खुद ही नही जानता। परन्तु साधु दीर्घ-दृष्टि होते है अत वे आत्मा का अदृश्य रूप से पीछा करने वाले पाप-कर्म रूपी चोरो को पहचानते हैं और उनसे बचाने के लिए अपने पडौसी श्रावको को सदा उद्बोधन देते हैं। उनकी आत्माओ पर उन्हे तरस आता है। यही कारण है कि वे अपने कल्याण के प्रयत्न के साथ-साथ पर-कल्याण का प्रयास भी करते रहते हैं। और तो वे कर भी क्या सकते है ? अगर उनका वश चले तो वे अन्य प्राणियो के दु खो का भार भी स्वय ढो लेवें किन्तु यह तो प्राण दे देने पर भी सम्भव नही होता। अर्थात् निश्चय रूप से प्रत्येक प्राणी को अपने-अपने कर्मों का फल भोगना पडता है। कर्म-फल का कभी बँटवारा नही किया जा सकता, उन्हे बेचा नही जा सकता और न ही किसी को उनका दान दिया जा सकता है।

हमारे शास्त्रो मे स्पष्ट कहा गया है—

> न तस्स दुक्ख विभयति नाइओ,
> न मित्तवग्गा न सुया न बधवा।
> इक्को सय पच्चणुहोइ दुक्ख,
> कत्तारमेव अणुजाइ कम्म ॥
>
> —श्री उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १३, गा० २३

अर्थात्—पाप करने वाले उस व्यक्ति के दु ख को जाति के लोग, मित्र-मण्डली, पुत्र-पौत्र आदि कुटुम्बीजन अथवा भाई-बन्द कोई भी बाँट नही सकते। पाप-कर्म करने वाला स्वय ही अकेला दु ख भोगता है क्योकि कर्म, कर्त्ता का ही अनुसरण करता है।

यद्यपि अनेक अज्ञानी व्यक्ति अपने पितरो की सुगति प्राप्त हो, इसके लिए श्राद्ध-तर्पण आदि करते है और यह समझते है कि उनके निमित्त से किया हुआ श्राद्ध उन्हे सन्तुष्ट करेगा और उस पुण्य का फल उन्हे मिल जायगा। किन्तु यह मान्यता सर्वथा गलत है। किसी भी व्यक्ति के द्वारा किये हुए सुकर्म या कुकर्म, दूसरे व्यक्ति को कभी फल प्रदान नही कर सकते। अगर ऐसा होने लग जाय तब तो धनी व्यक्ति कभी त्याग, तपस्या और व्रत-नियम अपनायेंगे ही नही, वे तो गरीबो से शुभ-कर्म भी खरीद लेंगे, जिस प्रकार अन्य वस्तुएँ खरीदी जाती हैं।

कोई प्रश्न कर सकता है कि जब ससार के सगे-सम्बन्धी सासारिक पदार्थों मे हिस्सा बँटा लेते हैं और भौतिक सुखो के भोग मे शरीक होते हैं तो फिर दु ख मे भाग क्यो नही ले सकते ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि आत्मा का ससार की किसी भी जड या

चेतन वस्तु से सम्बन्ध नही है। और तो और यह शरीर जो सबसे अधिक आत्मा के निकट रहता है, वह भी आयु पूर्ण होने पर जीव से अलग हो जाता है। तो जब शरीर भी इसी पृथ्वी पर रह जाता है, साथ नही जाता। तब पुत्र-कलत्रादि दु ख मे भाग लेने के लिए कैसे साथ जा सकते हैं ?

इसीलिए प० शोभाचन्द्र जी 'भारिल्ल' ने मानव को चेतावनी देते हुए बडी सुन्दर सीख दी है। वे कहते हैं—

> घिरे रहो परिवार से पर भूलो न विवेक।
> रहा कभी मैं एक था, अन्त एक का एक ॥
> पापो का फल एकले, भोगा कितनी बार।
> कौन सहायक था हुआ, कर ले जरा विचार ॥
> कर जिनके हित पाप तू, चला नरक के द्वार।
> देख भोगते स्वर्ग-सुख, वे ही अपरम्पार ॥

मनुष्य को उद्‌बोधन दिया है कि—'भले ही तुम लम्बे-चौडे परिवार मे रहो, पर अपने विवेक को मत छोडो और सदा यह ध्यान रखो कि मैं अकेला ही आया था और अन्त मे अकेला ही जाऊँगा।'

और भी कहा है—'देख, तूने पहले भी पापो का फल अनेक बार भोगा है पर क्या कभी भी कोई और उस समय तेरा सहायक बना था ? अर्थात् किसी ने तेरे दु ख मे हिस्सा लिया था क्या ? इसका तनिक विचार तो कर !'

भारिल्ल जी ने अन्तिम दोहे मे तो बडी ही मार्मिक बात कही है। उन्होंने मनुष्य को जाग्रत और सावधान करने के लिए झिडकी देते हुए कहा—'भोले जीव ! जिन कुटुम्बी जनो को सुख पहुँचाने के लिए तूने जीवन भर नाना प्रकार के पाप किये है और अब उन पापो के फलस्वरूप नरक की ओर प्रयाण करने की तैयारी कर रहा है, वे ही तेरे सगे-सम्बन्धी स्वर्ग मे अपार सुख भोग रहे हैं।'

कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य अपने पुत्र, पौत्र, पत्नी आदि निकट सम्बन्धियो को सुखी रखने के लिए घोर अनैतिकता, धोखेबाजी, बेईमानी और कपटाचरण करके पापो की भारी पोट बाँध लेता है। पर जिनके लिए वह असख्य पाप करता है वे उसके द्वारा अर्जित धन के भोग मे ही भाग लेते हैं, धन के लिए किए हुये पापों का फल भोगने मे हिस्सा नही बँटाते। उन पापो को भोगने के लिए नरक मे तो व्यक्ति अकेला ही जाता है।

इसीलिए कहा जाता है कि ससार मे कोई किसी का नही है। सब स्वार्थ के सगे-सम्बन्धी है। यहाँ तक कि परलोक की बात तो दूर, इस लोक मे भी कोई दु ख

को बाँटने वाला नही होता । माता, पिता और पत्नी जो कि स्वार्थ-सिद्ध होते समय व्यक्ति के लिए प्राण तक दे देने की तत्परता दिखाते हैं, वे ही समय पर मुकर जाते हैं। एक उदाहरण से यह बात समझ मे आ जायगी ।

प्रेम की परीक्षा

किसी स्थान पर एक वडे विद्वान और क्रियानिष्ठ सन्यासी रहते थे । उनके पास एक ब्राह्मण आया-जाया करता था तथा सासारिक एव आध्यात्मिक सभी विषयो पर उनमे बातचीत हुआ करती थी ।

एक दिन इसी प्रकार जव वे बातचीत कर रहे थे तो वार्तालाप के दौरान सन्यासी ने ब्राह्मण से कहा—"भाई ! कुछ धर्माराधन किया करो । ससार के कार्य तो कभी समाप्त होते ही नही हैं और आयु समाप्त हो जाती है । तुम जीवन भर मर-खपकर पापो का उपार्जन करते रहोगे और जिनके लिए पाप करोगे वे भी तुम्हे छोड देंगे, जबकि तुम्हारी वृद्धावस्था आ जायगी और शारीरिक बल क्षीण हो जायगा ।"

सन्यासी की बात सुनकर ब्राह्मण चिहुँक पडा और बोला—"महाराज ! यह बात तो आप गलत कह रहे हैं । मेरी माता और पत्नी तो मुझ पर जान देने को तैयार रहती हैं, इतना उनका मुझ पर प्रेम है ।"

सन्यासी ब्राह्मण की बात सुनकर अर्थपूर्ण दृष्टि उस पर डालते हुए मुस्कराये और बोले—

"अगर ऐसी बात है तो एक दिन उनके प्रेम की परीक्षा लेकर देख लो !"

"हाँ यह बात ठीक है । पर याद रखिये महाराज, मेरी बात सत्य साबित होगी । मेरी माँ तो मेरे सिर मे दर्द होते ही बेहाल हो जाती है और पत्नी का तो पूछना ही क्या है, वह जीवित रहती हुई भी अपने आपको मृतक समझने लगती है । और ऐसा हो भी क्यो नही, उनका मेरे ऊपर अपार स्नेह है । पर आप देखना चाहते है तो बताइये, अब मुझे क्या करना है और किस प्रकार परीक्षा लेनी है ।" ब्राह्मण ने पूर्ण विश्वास पूर्वक पूंछा ।

सन्यासी ब्राह्मण की लम्बी-चौडी बातो को चुपचाप सुन रहे थे । उनका उत्तर देना उन्होंने जरूरी नही समझा, केवल यही कहा—"तुम आज ही घर जाकर पेट-दर्द का बहाना करना और जोर-जोर से चिल्लाने लगना । ठीक उसी समय मैं वहाँ आकर तुम्हे एक तमाशा बताऊँगा ।"

ब्राह्मण ने इसे स्वीकार किया और घर चला गया । शाम होते-होते उसने

सन्यासी के कथनानुसार पेट-दर्द का वहाना वनाया और जैसे असह्य दर्द हो रहा हो, इस प्रकार चीखने लगा।

उसकी माँ एव पत्नी आदि सभी चिन्ता मे पड गये और एक के वाद एक डॉक्टर, वैद्य एव हकीमो को वुलाया गया। पर दर्द को तो विना परीक्षा लिए ठीक नही होना था अत वह नही मिटा।

इतने मे ही वहाँ सन्यासी महाराज आ पहुँचे। ब्राह्मण की माता ने रोते हुए सन्यासी से कहा—"महाराज! आप ही किसी प्रकार मेरे वेटे को ठीक कर दीजिए। यही तो मेरा कमाऊ पूत है जो सवका पालन-पोषण करता है।"

सन्यासी जी ने वीमार को कुछ देखा-भाला और वृद्धा से वोले—"माताजी! आपके पुत्र की वीमारी तो वडी गहरी है पर यह ठीक हो सकती है अगर एक शर्त पूरी की जाय।"

"आप वताइये महाराज! मैं वेटे के लिए सभी कुछ करने को तैयार हूँ।"

ब्राह्मण माँ की वात सुनकर मन ही मन वडा प्रसन्न हुआ और सोचने लगा—'आज सन्यासी जी की वात झूठ सावित होगी। मेरी माँ मेरे लिए सव कुछ करने को तैयार है। वह जान भी इस समय दे सकती है।' पर प्रत्यक्ष मे वह झूठे पेटदर्द के वहाने छटपटाता और चीखता-चिल्लाता रहा।

इधर सन्यासी ने जव ब्राह्मण की माँ की वात सुनी तो गम्भीरता से वोले—"माता जी! आपका पुत्र आज तभी ठीक हो सकता है जवकि इसके वदले कोई भी एक व्यक्ति अपने प्राणो की आहुति दे दे। मैं समझता हूँ कि आप वृद्ध हैं और इस उम्र मे आपके लिए जीना-मरना समान है। अत क्या आप अपने कमाऊ पुत्र के लिए अपनी जान देने को तैयार हैं? अगर ऐसा हो तो मैं अभी इसे पूर्णतया ठीक कर सकता हूँ।"

सन्यासी की वात सुनकर वृद्धा के तो मानो पैरो तले से जमीन ही खिसक गई। वह कुछ क्षण जडवत् वैठी रही, पर फिर वोली—

"वावा जी! आपका कहना सत्य है। मैं अपने प्यारे पुत्र के लिए प्राण भी दे सकती हूँ, पर वात यह है कि मेरे ये दूसरे छोटे-छोटे वच्चे मुझसे वहुत लगे हैं अत मेरे मरने पर इन्हे वडा दु ख होगा। इसलिये मैं अभागी अपने वेटे के लिए प्राण भी नही दे सकती।"

माँ की वात सुनकर वावा जी ने अपनी निगाह ब्राह्मण की पत्नी की तरफ डाली और उससे कहा—"पुत्री! मैं समझता हूँ कि अपने प्राणो से भी प्रिय पति के लिए तुम अवश्य ही इस नश्वर देह को छोड सकती हो। इससे वढकर सौभाग्य

तुम्हारे लिए और क्या हो सकता है कि अपने पति को तुम जीवनदान दो और इसके कन्धे पर चढकर मांग मे सिन्दूर लिए हुए स्वर्ग की ओर जाओ।"

"हाँ महाराज ! इससे बढकर सौभाग्य मेरे लिए और कोई नही हो सकता। पर मेरे मर जाने से ये सास-ससुर जीवित ही मर जायेंगे। अत मैं इनकी हत्या अपने सिर नही ले सकती।" मर जाने के डर से विकल हुई पत्नी ने चट से उत्तर दे दिया।

इस प्रकार सभी ने अपने प्राण देने के लिए बहाने किये और एक भी ब्राह्मण के लिए मरने को तैयार नही हुआ।

तब सन्यासी ने ब्राह्मण को सम्बोधित करते हुए कहा—"अब उठ जाओ वत्स ! सबकी परीक्षा हो गई। देख लो प्राणो से भी ज्यादा प्यार करने वाले तुम्हारे इन सम्बन्धियो मे से एक भी तुम्हारे लिए प्राण देने को तैयार नही है। इसीलिए मैं कहता था कि कोई किसी का नही है, सब स्वार्थ के सगे हैं।"

ब्राह्मण की आँखें खुल गई और वह भलो-भाँति समझ गया कि जिनके लिए मर-खप कर वह सुख के साधन जुटा रहा है, वे केवल सुख के भागी हैं, उसके दु ख को बांटने वाला एक भी ससार मे नही है। यह विचार करता हुआ वह उठा और उसी वक्त सन्यासी के साथ घर छोडकर रवाना हो गया।

ससार की ऐसी स्थिति को देखकर ही महापुरुष जीव को उद्बोधन देते हुए कहते हैं—

ये दिन चार कुटुम्ब सो लार,
सो झूठ पसार के सग बंधानो।
मात-पिता सुत दार निहारि,
सो सार बिसारि कै फंद फंदानो।।
पानी से पिंड संवारि कियो,
नर ताहि बिसारि अनद सो मानो।
तुलसी तब की सुधि याद करो,
उलटे मुख गर्भ रह्यो लटकानो।।

पद्य मे कहा है—"हे जीव जीवन के इन चार दिनो मे भी तू कुटुम्ब के मोह मे पडा हुआ धन के पसारे मे लगा हुआ है। माता, पिता, पुत्र और पत्नी के झूठे प्यार के कारण आत्मा के लिए कल्याणकारी सार-तत्व को भूल गया है।

तू यह भी भूल गया है कि जब तक तुझमे इन सबको खिलाने-पिलाने की शक्ति है तभी तक ये तेरे हैं और जिस दिन भी तू आंख मूंद लेगा ये सब केवल तुझे पिण्डदान करके निश्चिन्त हो जायेंगे और अपने जीवन के सुखो का उपयोग करते

हुए पुन आनन्द-मग्न हो जायेंगे। कोई भी सगा-सम्बन्धी तेरी स्मृति मे दो बूंद आंसू नही वहायेगा।

इसलिए नादान प्राणी ! तू इन सब स्वार्थ के सगो का मोह छोडकर यह विचार कर कि इनके लिए नाना प्रकार के पापो को करके तू अकेला ही उन्हे भोगेगा और मृत्यु के पश्चात पुन पुन गर्भावस्था के घोर कष्टो को सहन करने के लिए बाध्य हो जायेगा।"

तो बन्धुओ, ससार के साधु-पुरुष अज्ञानी प्राणियों को मोह-माया मे फँसकर अपना जीवन निरर्थक करते हुए देखते हैं तो उन्हे तरस आता है और वे उनकी आत्मा पर दया एव करुणा का भाव लाकर उन्हे बार-बार ससार की वास्तविक स्थिति समझाते हैं। और इतना ही वे कर भी सकते हैं, क्योकि कर्ता केवल प्रत्येक प्राणी की अपनी आत्मा ही होती है। एक व्यक्ति कभी दूसरे के लिए शुभ या अशुभ कर्मों का उपार्जन नही कर सकता, न वह अपने शुभ कर्म दूसरे को किसी भी प्रकार दे ही सकता है।

अगर ऐसा न होता तो बडे-बडे तीर्थंकर और चक्रवर्ती स्वय ही अपने अपार वैभव और साम्राज्य को छोडकर आत्म-साधना के लिए गृह-त्याग क्यो करते? कहा भी है—

> **बडे-बडे भूपालों ने क्यों जग से नाता तोड़ा ?**
> **अपना विस्तृत निष्कटक क्यो राज उन्होंने छोडा ?**

वस्तुत जब हम देखते हैं कि आत्मकल्याण का इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह राजा हो, श्रेष्ठि हो और फकीर ही क्यो न हो, स्वय साधना करता है और स्वय ही कर्मों को नष्ट करने का प्रयत्न करता है तो यह बात समझ मे आ जाती है कि अपना भला-बुरा करने की क्षमता स्वय अपनी आत्मा मे ही है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे स्पष्ट बताया गया है—

> **अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।**
> **अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥**

—अध्ययन २०, गा० ३७

अर्थात् आत्मा ही अपने सुख-दुख को उत्पन्न करने वाला जनक है और आत्मा ही उनका विनाशक है। सन्मार्ग पर लगा हुआ चारित्रवान आत्मा अपना मित्र है और कुमार्ग पर गमन करने वाला दुराचारी आत्मा ही दुश्मन है।

इस यथार्थ को अज्ञानी पुरुष नही समझ पाते। जिस प्रकार कुत्ता लाठी मारने वाले व्यक्ति को छोडकर लाठी को पकडने के लिए दौडता है, उसी प्रकार

वास्तविक तथ्य से अनभिज्ञ प्राणी अपने से भिन्न प्राणियो को अपने सुख-दु ख का कारण मान वैठते हैं और उन पर राग या द्वेष करते हैं। वे यह नही समझते कि अपने सुख-दु ख का सृष्टा तो मैं ही हूँ। मेरे पूर्वोपार्जित कर्मों के कारण ही कोई व्यक्ति निमित्त वन गया है। और अगर वह न वनता तो कोई दूसरा निमित्त वन जाता।

अभिप्राय यही है कि आत्मा स्वय ही कर्म-वन्धन करता है और निश्चय ही वही भोगता है। ज्ञानी पुरुष यही विचार कर पूर्ण सम-भाव से कष्टो को सहन करते हैं और इस प्रकार से भविष्य मे अशुभ कर्मों के वन्ध से वच जाते हैं।

प्रत्येक प्राणी को ऐसा ही विचार कर अपने दुर्लभ मानव-जन्म को सार्थक करने के लिए विवेक से काम लेना चाहिए तथा अनन्त काल से घोर दु ख और नाना प्रकार की जो यातनाएँ आत्मा भोगती आ रही है, उसे इनसे छुटकारा दिलाने का प्रयत्न करना चाहिए। एक कवि ने भी यही कहा है—

कव तलक सोते रहोगे इस गजब की नींद मे,
मुद्दतें तो आपको रजोगम खाते हो गया।
फिर भी नफरत न हुई तुमको इस टेढ़ी चाल से,
सैंकडो वरस तुमको सदमे उठाते हो गये।

सरल भाषा मे ही कहा गया है कि—"वन्धुओ, अव सोने का वक्त नही है। अनन्त काल से इस प्रमाद रूपी गजव की निद्रा मे तो तुम सोते ही रहे हो और इसके फलस्वरूप अनन्त दु ख पाते रहे हो। पर अव जवकि तुमने मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट योनि प्राप्त की है और विशिष्ट विवेकवुद्धि और ज्ञान के अधिकारी वन गये हो तो अपनी अव तक की उलटी चाल को छोड दो और होश मे आकर अपना मार्ग वदलो।"

अभी मैंने वताया था कि अगूर के वगीचे के सतर्क मालिक ने अपने पडौसी के वगीचे को नष्ट होते हुए देखा तो तरस खाकर उसमे घुसे हुए गधे को निकालकर वाहर कर दिया। इसी प्रकार हम साधु हैं और आप श्रावक। दोनो ही पडौसी हैं। फर्क इतना ही है कि आप अपने आध्यात्मिक वगीचे की ओर से लापरवाह हैं इसीलिए हमारे हृदय मे आपकी हानि होती हुई देखकर उथल-पुथल मच रही है। फलस्वरूप हम आपको वार-वार समझाने का प्रयत्न करते हैं तथा आपकी दृष्टि को भौतिक सुखो की ओर से हटाकर आध्यात्मिक सुखो की ओर मोडना चाहते हैं। आप सोचेंगे हम सेठ-साहूकार हैं, मिलो और फैक्टरियो के मालिक हैं अथवा सैंकडो वीघे जमीन और मकानो के स्वामी हैं, फिर किस वात की चिन्ता है?

पर भाइयो! यह तो आप यहाँ पर है। परलोक मे आप कुछ भी नही रहेंगे। चन्द दिनो की इस जिन्दगी के समाप्त होने पर केवल आपकी आत्मा होगी और साथ

मे रहेगे शुभा-शुभ कर्म । यहाँ की दौलत, वडी-वडी पदवियाँ और मालिकी वहाँ कुछ भी काम नही आएगी क्योकि वहाँ पक्षपात नही है । परलोक मे तो आपके प्रत्येक कर्म का फल ठीक उसी के अनुसार मिलेगा, जरा भी फर्क नही होगा । जिस प्रकार दर्पण व्यक्ति की शकल को जैसी होती है ठीक वैसी ही वताता है, एक वाल का भी अन्तर उसमे दिखाई नही देता, उसी प्रकार कर्म भी ठीक उनके अनुसार ही फल प्रदान करते हैं, उनकी प्राप्ति मे रचमात्र भी कमी-वेसी नही होती ।

इसलिए नितान्त आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी छोटी से छोटी क्रिया भी वडी सावधानी पूर्वक करे एव मन की भावनाओ पर पूर्ण नियत्रण रखे । क्योकि पाप केवल शरीर से ही नही होता अपितु मन और वचन से भी होता है । कोई व्यक्ति भले ही अपने शरीर से कुछ भी न करे, उसे हिलाए-डुलाए भी नही किन्तु अपने वचनो के द्वारा भी वह हत्या के पाप का भागी वन सकता है । और इससे भी वढकर तारीफ की वात तो यह है कि शरीर से कुछ भी न करके और जवान से एक शब्द का उच्चारण किये विना भी व्यक्ति केवल मन की गर्हित भावनाओ से ही किसी महापाप का भागी वन जाता है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि कर्म-वन्धन वडी वारीकी से दर्पण मे पडने वाले प्रतिविव के समान हो जाता है । अत आत्मा का हित चाहने वाले प्राणी को केवल शरीर और वाणी के लिए ही नही अपितु मन की भावनाओ के प्रति भी वहुत सजग और सावधान रहना चाहिये । अपनी अशुभ भावनाओ को शुभ रूप मे परिणत करने और उसके पश्चात् उन्हे विशुद्ध रूप मे लाने के लिए मन को त्याग, तपस्या तथा व्रत-नियमादि के द्वारा भावने का प्रयत्न करना चाहिए । कहा भी है—

मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक ।
जो मन पर असवार है, सो साधु कोई एक ।।

दोहे मे भी यही कहा है कि आत्म-कल्याण के इच्छुक व्यक्ति को मन के अनुसार क्रियाएँ नही करते जाना चाहिए, वरन् अपने मन पर अकुश रखते हुए उसे अपनी वुद्धि और विवेक के अनुसार चलाना चाहिए । जो ऐसा करता है वह सच्चा साधु होता है और ऐसे सच्चे साधु विरले ही पाये जाते हैं ।

तो वन्धुओ ! सच्चे साधु वहुत कम होते हैं और जो होते हैं, वे अपनी आत्मा के समान ही अन्य प्राणियो की आत्माओ को भी समझते हैं अत उनको दु ख से वचाने का प्रयत्न करते हैं । अपने सहज स्वभाव के अनुसार ही वे किसी अन्य को दुखी नही देख सकते । इसलिए सतो के उपदेशो को यथार्थ और आत्मोपयोगी मानकर प्रत्येक व्यक्ति को उनके अनुसार अपना जीवन विशुद्ध और क्रियानिष्ठ वनाना चाहिये ।

इस ससार मे हम मनुष्यो को तीन श्रेणियो मे वाँट सकते हैं । उत्तम पुरुष वे होते है जो विना किसी के मार्ग सुझाने पर भी अपनी वुद्धि और विवेक को जगाकर

आत्मकल्याण के पथ पर चलते हैं। दूसरे मध्यम पुरुष कहलाते हैं जो स्वय सही दिशा निर्धारित नही कर सकते, किन्तु सत महापुरुषो के द्वारा वताये हुए सत्पथ पर उत्साह और प्रसन्नतापूर्वक चल पडते हैं। किन्तु तीसरी श्रेणी के व्यक्ति ऐसे अधम होते हैं जो स्वय की बुद्धि को तो ताक पर रखे हुए होते ही हैं पर सत पुरुषो के बार-बार समझाने और मार्ग वताने पर भी पतन की विपरीत दिशा पर निस्सकोच वढते चले जाते है।

अव आपको देखना है कि आप किस श्रेणी मे आते हैं। हम तो सदा आपको नाना प्रकार से समझाने का प्रयत्न करते ही हैं पर आप उस पर किस प्रकार अमल करते हैं और हमारी वात कहाँ तक जीवनसात् करते हैं, इसका हिसाव आप स्वय ही लगा सकते हैं।

आपको विचार करना चाहिए कि आखिर साधु अपने ज्ञान-ध्यान एव साधना का अमूल्य समय नष्ट करके कडाके की सर्दी, भीषण गर्मी और मार्ग की अनेकानेक परेशानियो को सहन करते हुए क्यो नगे पाँव और नगे सिर एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हैं। वे भूख और प्यास सहन करते है तथा आपके मानने या न मानने पर भी जिनवाणी को आप तक पहुँचाते हैं और धर्म के स्वरूप को तथा ससार की वास्तविक स्थिति को नाना प्रकार के उदाहरण देते हुए वार-बार समझाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने मे आखिर उन्हे क्या लाभ है? उलटे समय की हानि और परेशानियो का सामना ही तो उनके पल्ले पडता है। पर फिर भी वे आपके लिए दौड-धूप करते हैं और जहाँ तक समव होता है, अपना प्रयास जारी रखते हैं।

इससे स्पष्ट है कि वे "**पराये दु ख दूबरे**" वाली कहावत चरितार्थ करते हैं। अर्थात् आप लोग अपनी आत्मा को भविष्य मे प्राप्त होने वाले जिन दुखो का अदाजा नही लगाते, उन्हीको दूर करने का साधु प्राणपण से प्रयत्न करते है। दूसरे शब्दो मे आप अपने दु.ख की कल्पना नही करते पर सत आपके दु खो के विषय मे विचार कर दुखी होते हैं। इसीलिए तुलसीदासजी ने सत के हृदय को नवनीत से भी कोमल वताया है। उन्होंने कहा है—

निज परिताप द्रवइ नवनीता।
परदुख द्रवहिं सत सुपुनीता॥

यानी नवनीत स्वय को आँच लगते ही पिघलने लगता है, किन्तु पुनीत सत का हृदय तो दूसरे प्राणियो को दु ख की आँच लगते हुए देखकर ही द्रवित या दुखी होने लगता है।

ऐसी स्थिति मे वन्धुओ, आपको सत-पुरुषो की नि स्वार्थ शिक्षा एव आत्म-हितैषी उपदेश का महत्त्व समझकर उसे जीवन मे उतारते हुए आत्म-कल्याण का प्रयत्न करना चाहिए। तभी सन्तो का परिश्रम सार्थक होगा तथा आपका जीवन विशुद्ध बनेगा।

४ | चार दुर्लभ गुण

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

आज पर्युषण पर्व का महत्त्व समझते हुए समाज के अग्रगण्य महानुभावो ने अपने समाज के हितार्थ वहुत कुछ उत्तम कार्य करने का जो निश्चय किया है, वह हमारे लिए भी अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है और समाज के लिए भी गौरवपूर्ण है। समाज की सेवा जितनी और जिस प्रकार की जा सके प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए, क्योकि सासारिक दृष्टि से यह उसका पुनीत कर्तव्य है और आध्यात्मिक दृष्टि से भी पुण्य-सचय का मार्ग है।

शुभ कर्मों के साथ भावनाएं भी शुभ हो

वन्धुओ, अभी आपने समाज-हित के लिए जो कुछ भी करने का विचार किया है वह सराहनीय है और मुझे विश्वास है कि आप वह सव करेंगे। किन्तु यहाँ मैं एक महत्त्वपूर्ण वात और आपको समझाना चाहता हूँ जिससे आपके द्वारा किये जाने वाले उत्तम कार्य सोने मे सुगन्ध पैदा करने वाले भी सावित हो सकें। यह इस प्रकार हो सकता है कि आपने सेवा, परोपकार और दानादि के द्वारा जो कुछ करने का वीडा उठाया है, उसके साथ आपकी भावनाएँ भी आपके कार्यों की अपेक्षा अधिक उत्तम हो। अगर ऐसा नही हुआ और आपने उत्तम कार्य करते हुए भी मन को खिन्न, विवश या निरुत्साह वनाये रखा तो आपके किये हुए पर सम्पूर्ण रूप से पानी फिर जायेगा।

इस विषय को एक श्लोक के द्वारा वडे सुन्दर ढग से समझाया गया है और वताया है कि शुभ कार्यों के पीछे किस प्रकार की शुभ भावनाएँ भी होनी चाहिए। श्लोक इस प्रकार है—

"दान प्रियवाक्सहित, ज्ञानमगर्वं क्षमान्वित शौर्यम्।
वित्त त्यागनियुक्त दुर्लभमेतत् चतुर्भद्रम्॥"

यह श्लोक श्री विमलगणी जी आचार्य के द्वारा लिखा गया है और इसमे चार वातो की दुर्लभता के विषय मे वताया गया है। ये चारो ही वाते जैसा कि अभी मैंने कहा है, मनुष्य के उत्तम कार्य और उसके साथ ही कैसी उत्तम भावनाएँ

होनी चाहिए इसे स्पष्ट करता है। हम इन चारो पर क्रम से सक्षिप्त विचार करेंगे।

१ प्रियवाक्य-सहित दान देना

श्लोक मे बताई हुई चारो बातो मे से पहली बात है, दान मधुर वचनो के साथ दिया जाय। इस कथन से स्पष्ट है कि दान देने वाले की भावनाएँ दान देते समय अत्यन्त स्नेह एव सहानुभूतिपूर्ण होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही जबान से भी मधुर और प्रिय वाक्यो का उच्चारण हो सकेगा।

हम प्राय देखते हैं कि बडे-बडे सेठ साहूकार अपनी पेढियो पर प्रसन्न और सन्तुष्ट भाव से बैठे हुए देखे जाते हैं, किन्तु अगर कोई चन्दा लेने वाला आ जाता है तो उसे देखते ही पल भर मे उनका चेहरा परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् उसी क्षण प्रसन्नता और सन्तुष्टि के स्थान पर खिन्नता और झुझलाहट उनके आनन पर स्पष्ट देखी जा सकती है। यद्यपि अपनी साख के कारण और धन होने पर भी कन्जूसी को उनके नाम के साथ न जोडा जाय तथा समाज मे हेठी न दिखाई दे, इस कारण वे दान देते हैं तथा जिस प्रकार लोग वस्तुओ का मोल-भाव करते समय उसकी कीमत कम से कम करवाना चाहते हैं, इसी प्रकार चन्दा भी कम देना पडे, इसलिए बकझक करते हुए जितना दिये बिना चलता ही नही, उतना ही देते हैं।

इसी प्रकार द्वार पर भिक्षुक को देखते ही लोगो की त्योरियाँ चढ जाती हैं। पहले तो वे उसे आलसी, हराम का खाने वाले, चोर तथा उचक्के आदि आदि सुन्दर पदवियो से विभूषित करते हुए जी भर कर कटु वाक्य तथा व्यगोक्तियाँ कहते हैं और कमा कर खाने का उपदेश देते हैं। पर इस पर भी भिखारी अपने धर्मानुसार बिना कुछ लिए टलने का नाम ही नही लेता तो मारे गुस्से के रूखी-सूखी एकाध रोटी लाकर उसे देते हैं पर वह भी अनेक गालियो के साथ।

यही हाल हमारी अधिकाश बहनो का भी होता है। अगर उनकी इच्छा के विपरीत घर मालिक अगर दो-चार व्यक्तियो को जिमाने के लिए ले आएँ तो वे चम्मच-करछुल पटकना या बडबडाना शुरू कर देती हैं। अरे भाई! मेहमान आये हैं तो उन्हें चाहे हँसते-हँसते खिलाओ या रोते-रोते, खिलाना तो पडेगा ही, फिर प्रसन्न-चित्त और मधुर-समापण के साथ खिलाने मे आखिर क्या हानि है?

वैष्णव धर्मग्रन्थो मे महाराज अम्बरीष की कथा आती है। राजा अम्बरीष भगवान के सच्चे भक्त थे। वे भगवद्भक्ति मे इतने लीन रहा करते थे कि स्वय भगवान को उनकी और उनके राज्य की रक्षा के लिए अपने सुदर्शन चक्र को नियुक्त करना पडा।

अम्बरीष सदा एकादशी का व्रत करते थे और उसका पारणा द्वादशी को। क्योकि एकादशी का पारणा द्वादशी को करने का ही विधान है। सयोगवश जबकि एक

वार अम्वरीष के पारणे का दिन था, ठीक पारणे के समय दुर्वासा ऋषि वहाँ पहुँच गये। राजा महर्षि को अतिथि के रूप मे आया पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने दुर्वासाजी से भोजन ग्रहण करने की प्रार्थना की। ऋषि ने निमन्त्रण को स्वीकार किया और वे स्नान एव सन्ध्या आदि करने के लिए नदी-तट की ओर चल दिये।

इधर महाराज अम्वरीष वडे धर्मसकट मे पड गये। क्योकि द्वादशी का समय वहुत थोडा रहा था और दुर्वासा ऋषि को स्नान एव सन्ध्या का ध्यान करते हुए कितना समय लगेगा यह निश्चित नही था। द्वादशी का पारणा करना आवश्यक था अन्यथा व्रत-भग होता और उधर अतिथि को खिलाये विना खाने से भी महान् दोष का भागी वनना पडता।

अतएव राजा ने केवल गङ्गाजल से आचमन करके व्रत की रक्षा की और भोजन नही किया क्योकि अतिथि लौटे नही थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी समझ से दोनो ही अपराधो से वचाव किया।

किन्तु दुर्वासा ऋषि जव लौटे तो उन्होने राजा के गङ्गाजल से आचमन करने को जान लिया और उसके कारण ही क्रोध से आगववूला हो गये। साथ ही दुर्वासा ऋषि तो ठहरे अत क्रोध करके भी शान्त नही हुए, अपितु उन्होंने अपनी जटाओ मे से एक जटा उखाड ली और उससे राजा को भस्म करने के लिए कृत्या उत्पन्न कर दी।

राजा अम्वरीष दुर्वासा के क्रोध पर और उनके कृत्या उत्पन्न करने पर भी निर्भय और विना हिले-डुले शान्त भाव से वही खडे रहे। वे प्रत्येक परिणाम के लिए तैयार थे और निकट ही था कि दुर्वासा ऋषि की जटा से उत्पन्न कृत्या उन्हे नष्ट कर देती, भगवान के उनकी रक्षा के लिए नियत किये हुए चक्र ने उनकी रक्षा की। चक्र ने कृत्या को तो नष्ट किया ही साथ ही वह दुर्वासा के पीछे पड गया। उनके लिए लेने के देने पड गये। अपनी प्राणरक्षा के लिए वे भागे पर उनके पीछे-पीछे चक्र भी चला।

भागते-भागते ऋषिराज ब्रह्मलोक मे ब्रह्माजी के पास शरण लेने पहुँचे पर उन्होंने टका-सा उत्तर दे दिया—"यहाँ जगह नही है आपके लिए।" कैलाश पर्वत पर शकरजी के पास जाने पर उन्होंने भी रूक्षभाव मे कहा—"मैं असमर्थ हूँ आपको वचाने मे।" अव दुर्वासाजी के देवता कूच कर गये पर उसी समय नारदजी ने प्रकट होकर उन्हे स्वय नारायण भगवान के पास भेजा। पर चक्र के अधिकारी नारायण भगवान भी उन्हे सकट से त्राण नही दिला सके और वोले—

"ऋषिराज मैं तो स्वय ही भक्तो के आधीन हूँ अत आप पुन राजा अम्वरीष के पास ही जाइये, अगर आपको अपना वचाव करना है तो।"

अब दुर्वासाजी को अपनी रक्षा की कोई सूरत नही दिखाई दी और इधर चक्र की ज्वाला उनके शरीर को जलाये दे रही थी। अत वे विवश होकर पुन महाराज अम्बरीप के पास आये और उनके पैरो पर गिर पडे।

अम्बरीप यह देखकर महान् दु ख से भर गये एव उसी क्षण उन्होने ऋषि को उठाकर अपने आपको ब्राह्मण एव अतिथि के पैर छूये जाने पर लगने वाले पाप से बचाया तथा हाथ जोडकर अत्यन्त विनम्रतापूर्वक प्रार्थना की—"भगवान नारायण अगर मुझ से तनिक भी सन्तुष्ट हो और मेरा कुल सदा से ब्राह्मणो का भक्त रहा हो तो महर्षि दुर्वासा चक्रोत्पन्न ताप से पूर्णतया रहित हो जायँ।"

अम्बरीप के यह प्रार्थना करते ही चक्र ताप-रहित हो गया और दुर्वासा ऋषि सकट से मुक्त हो गये। पर इन सब घटनाओ के घटते हुए एक वर्ष का समय व्यतीत हो गया था। इस बीच राजा अम्बरीप ने भोजन नही किया था, क्योकि वे अपने अतिथि को भोजन नही करा सके थे। अब जब दुर्वासाजी एक वर्ष बाद लौटे तो उन्होंने एक वर्ष तक जल के ऊपर निर्वाह करने के पश्चात् उस दिन परम प्रसन्नता एव नम्र वचनो से स्वय सामने बैठकर अतिथि को भोजन कराया और फिर स्वय अन्न ग्रहण किया।

इसे कहते हैं अतिथि-सत्कार एव प्रीति-युक्त अन्न-दान। अतिथि को भोजन न करा पाने के कारण एक वर्ष तक केवल जल पीकर उनकी प्रतीक्षा करना क्या साधारण व्यक्तियो का कार्य है?

आज तो देखा जाता है कि शहर मे ठहरे हुए सन्त-मुनिराजो की प्रतीक्षा भी लोग दस-पाँच मिनिट के लिए भी नही करते। इतना ही नही, अगर उनके भोजन करते समय सन्त घर पर भिक्षा के लिए पहुँच जायँ तो वे उठकर खडे होना भी पसन्द नही करते, अपने हाथ से भावना पूर्वक आहार देना तो दूर की बात है। साथ ही साधु-साध्वी को आहार देना ऐसे व्यक्तियो के घरो मे नौकर-चाकरो के जिम्मे होता है और उन्हे स्वय यह देखने का समय नही होता कि सन्तो ने आहार लिया है या नही?

वे यह भी विचार नही करते कि शुद्ध हृदय से एव आन्तरिक भावना-पूर्वक दिया हुआ आहारदान कितने महान् फल की प्राप्ति कराता है। और किसी कारण से अगर सन्त-मुनिराज बिना आहार लिये लौट जाएँ तो सद्गृहस्थ को जो असह्य पश्चात्ताप होता है वह भी देवगति के बन्ध का कारण बनता है।

'पचतन्त्र' मे कहा गया है—

ग्रासादर्धमपि ग्रासमर्थिभ्य किं न दीयते?

मनुष्य के लिए कहा गया है कि अगर तुम अधिक दान नही दे सकते तो

अपने भोजन मे से ही आधा या कुछ ग्रास ही जिसे आवश्यकता है उसे क्यो नहीं देते ? क्योकि—

'अन्नदानात् परं नास्ति।'

यानी सभी दानो से श्रेष्ठ अन्न-दान होता है, उसका मुकावला कोई अन्य दान नही कर सकता।

वन्धुओ, प्रसगवश मैंने आहारदान के विषय मे वताया है। वैसे सभी दान महान पुण्य के कारण वनते हैं वशर्ते कि वे अत्यन्त प्रेम की भावना से दिये जायें। करुणा, सहानुभूति एव स्नेहभाव के अभाव मे हृदय मे रूक्षता रहती है और उस स्थिति मे दान आन्तरिक मधुरता के द्वारा नही दिया जा सकता।

कवीर जी ने अपने एक दोहे मे कहा भी है—

जा घर प्रेम न सचरे, सो घर जान मसान।
जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिन प्रान॥

दोहे मे स्नेह का वडा भारी महत्व वताया गया है। इसमे प्रेम-शून्य हृदय को श्मशान की तुलना मे रखा है। हमारा धर्म ससार के समस्त प्राणियो पर प्रेम रखना सिखाता है। और ऐसा होने पर ही व्यक्ति एक दूसरे की सहायता करता है, सेवा करता है और अभावग्रस्त व्यक्तियो के अभाव की पूर्ति करने मे प्रसन्नता का अनुभव करता है। प्रेम के न होने पर यह सव सम्भव भी कैसे हो सकता है ?

सन्त कवीर ने प्रेम-रहित हृदय को लुहार की धोकनी के समान वताते हुए कहा है कि जिस प्रकार वह निर्जीव मशीन के समान चलती रहती है। उसी प्रकार अगर व्यक्ति के हृदय मे स्नेह का निर्झर प्रवाहित न होता हो तो उसका हृदय केवल धोकनी के समान ही साम लेता है तथा जीवन को वनाए रखता है। किन्तु वह किसी का उत्साह, उमग एव प्रेम से भला नही कर पाता। अगर वह कुछ करता भी है तो अपनी प्रतिष्ठा वनाने और दिखावा करने के लिए। पर उत्तम भावना के अभाव मे उसका किया हुआ उत्तम कार्य क्या शुभ फल प्रदान कर सकता है ? कुछ भी नही। इसीलिए विमलगणी जी आचार्य ने अपने श्लोक मे कहा है कि मधुर भावनाओ और प्रिय वचनो के साथ दान दो।

२ ज्ञान का गर्व न होना

प्राय देखा जाता है कि व्यक्ति थोडा-सा भी लिख-पढ लेता है तो वह अपने आपको वडा चतुर और योग्य समझने लगता है। और तो और, अपने माता-पिता को भी वह अपने से हीन मानने लगता है, फिर औरो की तो वात ही क्या है ?

वह भूल जाता है कि अहकार मनुष्य का सवसे वडा शत्रु है। जिसके हृदय मे भी यह पनप जाता है उसे अवश्यमेव पतन की ओर ले जाता है तथा जन्म-जन्मा-

न्तर के दु ख का कारण वनता है। अहकारी पुरुप इस जन्म मे भी अपयश का भागी वनता है और मर जाने पर भी सदा कलकित के रूप मे ससार के द्वारा स्मरण किया जाता है।

एक अग्रेजी की कहावत मे भी यही कहा गया है—

"Pride goes before, and shame follows after."

पहले गर्व चलता है, उसके वाद कलक आता है।

रावण कम ज्ञानी नही था, अपने ज्ञान के वल पर ही उसने अनेक सिद्धियाँ हासिल की थी किन्तु ज्ञान का, शक्ति का और दौलत का गर्व उसे पतन की ओर ले गया तथा सदा के लिए ले डूवा। आज भी लोग दशहरे पर रावण का पुतला वनाकर जलाते हैं और उस पर थूकते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि गर्व व्यक्ति को किसी भी वात का नही होना चाहिए। हमारे धर्मग्रन्थ अभिमान के आठ कारण वतलाते हैं, जिन पर व्यक्ति अहकार करता है और उनमे से एक, दो या जितने भी कारणो पर वह घमण्ड करता है, वे कारण उसे ले डूवते हैं।

योगशास्त्र मे वताया गया है—

> जाति-लाभ-कुलैश्वर्य-वल-रूप-तप -श्रुतै ।
> कुर्वन् मद पुनस्तानि, हीनानि लभते जन ॥

अर्थात् जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, वल, रूप, तप एव ज्ञान का मद करता हुआ जीव भवान्तर मे हीन जाति आदि को प्राप्त करता है।

और इसके विपरीत—

> समणस्स जणस्स पिओ णरो,
> अमाणी सदा हवदि लोए।
> णाण जस च अत्थ,
> लभदि सकज्ज च साहेदि ॥
>
> —भगवती आराधना १३७९

निरभिमानी मनुष्य जन और स्वजन सभी को सदा प्रिय लगता है। वह ज्ञान, यश और सम्पत्ति प्राप्त करता है तथा अपना प्रत्येक कार्य सिद्ध कर सकता है।

मान मोहनीय कार्य के उदय से होता है तथा जाति, कुल एव ज्ञान आदि का अहकार करना आत्मा का विभाव परिणाम कहलाता है। इसके कारण जन्म-मरणरूप ससार की वृद्धि होती है और इस लोक मे भी अहकारी पुरुप लोगो का सम्माननीय नही वनता। अभिमानी व्यक्ति अपने रत्तीभर गुण को सुमेरु के वरावर

मानता है और अन्य व्यक्तियो के महान गुणो को भी न कुछ के समान समझता है। अगर उसे थोडा-सा भी ज्ञान हासिल हो जाय तो उसका उपयोग औरो से वाद विवाद करने मे तथा कुतर्कों के द्वारा दूसरो को चुप करने मे करता है। किन्तु ऐसा करने से ज्ञानी जनो की तो कोई हानि नही होती, उलटे उसका ज्ञान ही निष्फल जाता है—

'विद्या स्तब्धस्य निष्फला ।'

यह भगवद्गीता की उक्ति है कि दुराग्रही और अभिमानी की विद्या सर्वथा फलहीन हो जाती है।

कहने का आशय यही है कि किसी भी व्यक्ति को अपने ज्ञान का रच-मात्र भी गर्व नही होना चाहिए। साथ ही उसे अपने ज्ञान को कजूस के धन की भाँति गोपनीय भी नही रखना चाहिए अपितु जितना भी उसे ज्ञान हासिल हुआ हो उसे औरो को अत्यन्त स्नेह एव नि स्वार्थ भाव से प्रदान करना चाहिए।

प्राचीनकाल मे विद्वान आचार्य शहर से वाहर वनो मे अपने आश्रम वनाकर रहते थे तथा जो भी छात्र ज्ञान-प्राप्ति के हेतु उनके पास आते थे, उन्हे विना अर्थ-लालसा के अपने समान ही ज्ञानी वनाने का प्रयत्न करते थे। इसी का सुफल होता था कि वे अपना परिचय ही अपने ज्ञानदाता गुरुओ के नाम से देते थे। अमुक गुरु ने मुझे ज्ञान-दान दिया है, यह वताने मे वे वडा गौरव और हर्ष का अनुभव करते थे। अपनी विद्वत्ता और अपने ज्ञान का उन्हे रच-मात्र भी गर्व नही होता था। इसीलिए उन व्यक्तियो का ज्ञान गम्भीर और गहन वनता था तथा यश की प्राप्ति कराता था। आज भी ऐसे महापुरुषो की कमी नही है जो अपनी विद्वत्ता की प्रशसा सुनना कतई पसन्द नही करते।

निरभिमानी सन्त विनोवा भावे

कहते है कि एक वार सन्त विनोवा भावे अपने आश्रम मे छात्रो को किसी विपय पर कुछ समझा रहे थे कि एक व्यक्ति ने उन्हे महात्मा गाँधी की ओर से लाया हुआ पत्र उनके हाथ मे थमाया।

विनोवा जी ने पत्र लिया, उसे खोलकर पढा और उसी समय उसके टुकडे-टुकडे कर दिये। उनके छात्रों को यह देखकर वडा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पत्र के विपय मे वडे आग्रह से पूछा। विनोवा जी ने उत्तर दिया—"पत्र महात्मा जी का था, किन्तु उन्होंने इसमे गलत वात लिखी थी अत मैंने इसे फाड दिया।"

छात्र वोले—"गुरुदेव ! यह कैसे हो सकता है ? महात्मा गाँधी भला झूठी वात कभी लिख सकते है ? कृपया हमे वताइये कि क्या वात इसमे थी ?"

छात्रो की जिज्ञासा के कारण विनोवा जी ने उन्हे वताया—"इस पत्र मे ़्ात्मा गाँधी जी ने लिखा था कि ऐसी ज्ञानवान और महान् आत्मा मेरे देखने मे ़ी आई। उनकी यह वात झूठ है। दुनिया मे वहुत से मनुष्य और स्वय गाँधी जी मुझसे महान् तथा श्रेष्ठ हैं। इसके अलावा यह पत्र अगर मेरे पास रहता तो ते अपने आप के लिए गर्व का अनुभव होता और मेरी अवनति का कारण वनता। ं सदा उन्नति मे वाधक होता है अत त्याज्य है। यही कारण है कि मैंने इस पत्र । फाड दिया और अपने पास रखना उचित नही समझा।"

इसी प्रकार जव विनोवा जी वनारस मे सस्कृत का अध्ययन कर रहे थे तो न्हे कई प्रमाण-पत्र उनकी प्रशसा से भरे हुए मिले। किन्तु एक दिन उन्होने उन त्रको इकट्ठा करके गगाजी को समर्पित कर दिया। केवल यही विचार करके कि नके कारण कही मुझमे अभिमान न जाग जाय।

सन्त विनोवा जी के जीवन के इन सस्मरणो से सहज ही प्रगट होता है कि हापुरुष कभी अपने ज्ञान का गर्व नही करते, उसे अपने तक ही सीमित नही रखते था नि स्वार्थ भाव से उसे ज्ञान-पिपासुओ को प्रदान करते हैं।

३ क्षमान्वित शौर्य

यह श्लोक मे वताई हुई तीसरी वात है। इसका अर्थ है—शूरवीरता तथा ामर्थ्य होते हुए भी क्षमा धारण करना। जो व्यक्ति निर्वल और शक्तिहीन होता है ह तो किसी के द्वारा अपमानित होकर अथवा मारा-पीटा जाकर भी चुप हो जाता , कोई प्रतिकार नही करता। क्योकि उसमे वदला लेने की शक्ति ही नही होती। सा व्यक्ति अगर यह कहे कि मैंने अपने आततायी को क्षमा कर दिया, तो उसकी ामा कोई महत्व नही रखती।

किन्तु वदला लेने की शक्ति होते हुए भी जो शूरवीर अपने शत्रु को अथवा ापना अपमान करने वाले को क्षमा कर देते हैं, वे ही क्षमा-धर्म के अधिकारी हलाते हैं।

भस्म कर देने के वजाय सेवा की

एक सन्त वडे तपस्वी थे। घोर तपस्या के वल पर उन्हे अनेक सिद्धियाँ ़ासिल हो गई थी। वे चाहते तो वात की वात मे किसी को भी भस्म कर सकते थे। ़िन्तु वे सच्चे सत थे और सत का स्वभाव क्षमामय एव करुणामय होना है।

एक वार वे घूमते-घामते हुए कही जा रहे थे। मार्ग मे एक जगल आया। ाव वे जगल मे से गुजर रहे थे, एक दुप्ट व्यक्ति ने उन्हे देखा। उस व्यक्ति को ाधु-सतो से वडी चिढ थी अत उन्हे देखते ही वह गुस्से मे भर गया और वोला—'मैं यहाँ रहता हूँ, फिर भी तूने यहाँ आने की हिम्मत कैसे की?"

"भाई ! मैं तो साधु हूँ रमता राम। कही भी और किधर भी चला जाता हूँ। पर अगर तुम्हे मेरा यहाँ आना पसन्द नही आया तो अभी चला जाता हूँ।" सत ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

पर दुष्ट अपनी दुष्टता से वाज कैसे आता ? वह और भी आगबबूला होता हुआ एक पत्थर उठाकर सत को मारने दौडा और चिल्लाया—"एक तो अपने बाप का राज्य समझकर सीधा यहाँ चला आया और ऊपर से जबान लडाता है। बोल यहाँ आया ही क्यो ?" कहते हुए उस क्रूर व्यक्ति ने पत्थर उठा-उठाकर सत को मारना प्रारम्भ कर दिया।

सत के शरीर पर बहुत चोटें लगी और सम्पूर्ण शरीर से रक्त बहने लगा। किन्तु उन्होने उस व्यक्ति से कुछ नही कहा और धीरे-धीरे वहाँ से उठकर चल दिये।

कुछ दिनो बाद वे सत उस घटना को भूल गए और फिर उसी जगल मे आ निकले। जब वे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ कि कुछ समय पूर्व उन्हे दुष्ट व्यक्ति ने पत्थरो से मारा था तो उन्हे उसकी याद आ गई। वे विचार करने लगे कि आज वह कहाँ होगा ? दिखाई तो नही दिया, कही बीमार न हो गया हो।

वे उसे खोजते हुए व्यक्ति की झोपडी के समीप आ गए और अन्दर घुस गये। अन्दर जाकर उन्होंने देखा कि उनकी आशका सही थी। वह व्यक्ति खाट पर बेसुध पडा था। तीव्र ज्वर उसे हो रहा था।

सत करुणा से भर गये और उसी क्षण से उसकी सेवा-शुश्रूषा मे लग गये। जब व्यक्ति का ज्वर कुछ कम हुआ और उसने अपनी आँखें खोलीं तो देखा कि वही सत जिन्हे उसने मारा था उनकी सेवा मे लगे हुए हैं।

व्यक्ति ने चौंक कर क्षीण स्वर मे कहा—

"आप ? मेरी सेवा कर रहे हैं ?"

"हाँ, पर तुम्हे तीव्र ज्वर है बेटा ! तुम चुपचाप लेटे रहो, अशक्त बहुत हो गये हो। लो यह दूध पी लो।"

दुष्ट व्यक्ति कुछ बोल नही सका पर उसकी आँखो से पश्चात्ताप के आँसू बह निकले। वह विचार करने लगा—"धन्य हैं यह सत, मैंने इन्हें मारा था और अगर ये चाहते तो मुझे श्राप देकर उसी समय भस्मीभूत कर सकते थे। किन्तु इन्होंने वैसा नही किया और मुझे क्षमा कर दिया। ऊपर से आज मेरी सेवा मे लगे हुए है।"

तो बन्धुओ ! क्षमा ऐसी ही होनी चाहिये कि अपराधी को दड देने की क्षमता होते हुए भी उसे क्षमा कर दिया जाय। आपने अनेक स्थानो पर पढा और सुना होगा कि भगवान विष्णु को भृगु ऋषि ने लात मारी थी। क्या वे चाहते तो

उन्हे दड नही दे सकते थे ? पर नही, दड देने के बजाय उन्होंने ऋषि के चरण पकड कर पूछा—"ऋषिराज ! आपको चोट तो नही आई ?"

इसी प्रसग को लेकर कहा गया है—

"कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ।"

अभिप्राय यही है कि बुराई का बदला बुराई से देने वाला व्यक्ति कभी महान् नही कहलाता अपितु बुराई के बदले भलाई करने वाला और शक्तिशाली होने पर भी क्षमा कर सकने वाला व्यक्ति ही महत्ता को प्राप्त करता है ।

इसीलिये श्लोक मे कहा गया है कि शौर्य के साथ अगर क्षमा का गुण भी हो तो व्यक्ति के चारित्र मे चार चाँद लग जाते हैं ।

४ वित्त त्यागनियुक्त

यह बात श्लोक मे चौथे नम्बर पर दी गई है । प्रत्येक व्यक्ति को इसे समझ कर जीवन मे उतारना चाहिए तथा अपने जीवन को सतोषमय एव नि स्वार्थी बनाना चाहिए ।

कवि ने कहा है कि धन को त्यागयुक्त होना चाहिए अर्थात् धन की प्राप्ति होने पर उसे परोपकार एव दानादि कार्यों मे खर्च करना चाहिए ।

श्लोक मे पहली बात बताई थी कि दान प्रिय शब्दो के साथ दिया जाना चाहिए और अब चौथी बात यह बताई जा रही है कि धन की वृद्धि होने के साथ ही साथ व्यक्ति के हृदय मे उसके त्याग की भावना भी उत्तरोत्तर बढती जानी चाहिए । कजूस बनकर धन इकट्ठा करने से आखिर व्यक्ति को क्या लाभ हो सकता है ? क्योकि अन्त मे तो मृत्यु से सामना होते ही वह छोडना पडता है, इससे यही अच्छा है कि उस धन से औरो का परोपकार करके पुण्य रूपी पूँजी को साथ ले लिया जाय । जड द्रव्य आत्मा के साथ नही आता पर पुण्य-कर्म साथ चलते हैं ।

इसके अलावा मानवता के नाते भी व्यक्तियो का कर्तव्य है कि वे एक-दूसरे की जिस प्रकार भी बने तन, मन या धन से सहायता करें । ऐसा न करना निर्दयता एव क्रूरता का द्योतक है । भगवान के सच्चे भक्त तो ससार के समस्त जीवो को परमात्मा का ही अश मानते हैं । किसी भी अन्य प्राणी को दु ख हो तो उन्हे महान् पीडा का अनुभव होता है । सत ज्ञानेश्वर ऐसे ही महापुरुष थे ।

संत का एकात्मभाव

एक बार वे पैठण के शास्त्रज्ञ ब्राह्मणो से शुद्धिपत्र लेने के लिए आलन्दी से पैदल यात्रा करके गये ।

ज्ञानेश्वर जी पैठण पहुँचे और उनके साथ ही उनकी अन्य जीवो के प्रति एकात्म-भावना की प्रशसा भी पहुँच गई । सभी स्थानो पर अच्छे और बुरे व्यक्ति

पाये जाते हैं। पैठण मे भी एक व्यक्ति उनकी प्रशसा से जल उठा। वह सत ज्ञानेश्वर को चिढाने के लिए एक भैसा पकड लाया और वोला—"इस भैसे का नाम भी ज्ञानदेव है।"

ज्ञानेश्वर ने देखा, उनके चारो ओर अनेक ब्राह्मण एव अन्य व्यक्ति तमाशा देखने के लिये खडे हुए थे। ज्ञानदेव इससे तनिक भी विचलित नही हुए और गम्भीरता पूर्वक वोले—

"आप सत्य कह रहे हैं भैसे मे और हममे अन्तर ही क्या है? केवल नाम और रूप कल्पित हैं, किन्तु आत्मतत्त्व तो एक ही है।"

दुष्ट व्यक्ति यह सुनकर और भी क्रोधित हुआ और कह उठा—"अच्छा यह वात है तो लो!" कहने के साथ ही उसने भैसे को सडासड कई चावुक मार दिये।

किन्तु उन समस्त तमाशवीनो की आँखें फटी की फटी रह गईं जव उन्होंने देखा कि चावुक तो भैसे की पीठ पर पडे हैं, किन्तु उसके निशान लकीरो के रूप मे ज्ञानदेव के शरीर पर पड गए हैं तथा उनसे खून छलछला रहा है।

भैसे को चावुक मारने वाला व्यक्ति भी यह दृश्य देखकर चकरा गया तथा सत ज्ञानेश्वर की एकात्म-भावना का कायल होकर पश्चात्ताप करते हुए उनके चरणो पर गिरकर क्षमा माँगने लगा।

ज्ञानेश्वर जी ने उसे तुरन्त उठाकर अपने हृदय से लगाया और कहा—"भाई तुम भी तो ज्ञानदेव हो। क्षमा कौन किसे करेगा?"

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि जो महान् आत्माएँ होती हैं वे अपने समान ही औरो को समझती हैं तथा औरो के दु ख-दर्द से स्वय दुखी होती हैं। साथ ही जव दूसरो के दु.ख को वे अपना दु ख मानती हैं तो तन, मन और धन से उसका प्रतिकार करने के लिए प्रस्तुत रहती हैं।

तो हमारा विपय यही चल रहा है कि धन त्याग-युक्त होना चाहिए। अर्थात् जहाँ और जिसको भी उसकी आवश्यकता हो वहाँ उसे खर्च करने के लिए व्यक्ति को तत्पर रहना चाहिए। इतना ही नही, धनी मनुष्य का तो यह कर्तव्य है कि उसके पास अगर धन अधिक हो जाय तो वह अभावग्रस्त प्राणियो की खोज करे और उनका अभाव अविलम्व दूर करे। अन्यथा धन का तो नाश होना ही है, और न भी हुआ तो उसे मृत्यु का आगमन होते ही छोडना है।

मिश्र देश मे कारू नामक एक महान धनी राजा हुआ है, जिसके उदाहरण स्वरूप अगर किसी को अचानक वहुत धन प्राप्त होता है तो लोग कहते हैं—"अमुक व्यक्ति को कारू का खजाना मिल गया है।"

तो कहा जाता है कि कारू का खजाना इतना विशाल था कि उसके धन का अन्दाजा ही नही लगाया जा सकता था। किन्तु एक बार उसके देश मे भयानक अकाल पडा और लोग भूख से छटपटा कर मरने लगे। सैकडो व्यक्ति अपने राजा कारू के पास भी अन्न की याचना करने गये, किन्तु उसने किसी को न तो पैसा ही दिया और न अन्न। पर कुछ समय पश्चात् मिश्र की नदी मे ऐसी भयकर बाढ़ आई कि उसका सम्पूर्ण धन यानी खजाना बह गया। ऐसा धन किस काम का ? शास्त्रकार कहते भी हैं—

"अभोगस्य हत धनम्।"

अर्थात् धनवान होने पर भी जिसने अपने धन का उपयोग नही किया है, उसका धन निर्धन की स्थिति के समान विनष्ट रूप ही है।

वस्तुत धन को त्यागने की इच्छा न रखने वाला व्यक्ति उससे कुछ भी लाभ नही उठा सकता। वह जीवन भर उसे इकट्ठा करने का प्रयत्न करता हुआ नाना कष्ट उठाता है और अन्त मे यही छोडकर चल देता है।

कवि वाजिद का कथन है—

मन्दिर माल विलास खजाना मेड़ियाँ।
राज भोग सुख साज औ चचल चेड़ियाँ॥
रहता पास खवास हमेस हुजूर मे।
ऐसे लाख असख्य गये मिल धूर में॥

पद्य का अर्थ स्पष्ट और सरल है कि इस पृथ्वी पर असख्य व्यक्ति ऐसे हुए हैं, जिनके पास महल-मकान, खजाने, राज्य, दास-दासियाँ और अनेक प्रकार के सुख के साधन मौजूद रहे हैं। किन्तु मृत्यु के आ जाने पर वे ही व्यक्ति धूल मे मिलकर अपना नामोनिशान ही खो चुके है।

इसलिए बन्धुओ ! हमारा बार-बार यही कहना है कि पूर्वकृत पुण्य से आपको जो धन मिला है उसका सदुपयोग करो। सतो को आपसे कुछ लेना नही है पर वे आपको लाभ का मार्ग बताते हैं और वह यही है कि यहाँ पर ही छूट जाने वाले जड पदार्थों का त्याग करके आत्मा के साथ चलकर उसे कष्टो से बचाने वाले शुभ-कर्मों का सचय करो। दूसरे, धन का दान करने से उसमे कभी कमी नही आती। हमारे धर्मशास्त्र कहते है—"पात्रेऽनन्तगुण भवेत्।"

यानी सुपात्र को दिया हुआ दान अनन्त गुना फलदायक होता है। साराश यही है कि धन का सदुपयोग उसका त्याग करने मे अर्थात् दान देने मे है। महापुरुष धन की तीन गति बताते हैं—

"दान भोगो नाश स्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।"

धन की पहली गति है दान देना, दूसरी उसका भोग करना और अगर ये दोनो नही किये गये तो तीसरी गति उसका नाश होना है। इसलिए आवश्यकता से अधिक धन होने पर परोपकार एव दानादि के द्वारा उसका सदुपयोग कर लेना चाहिए।

आप जानते ही हैं कि तालावो मे चारो ओर से पानी आया करता है। किन्तु उनमे भी एक-एक मोरी बनी हुई होती है यानी बाँध पर एक ऐसा स्थान रखा जाता है जहाँ से अगर तालाब मे अधिक पानी आ जाय तो निकाला जा सके। अगर ऐसा नही किया जाय तो तालाब फूट जाता है और धन-जन की अपार हानि होती है। इसके अलावा तारीफ की बात तो यह है कि मोरी के द्वारा अधिक बढ जाने वाला पानी निकालते रहने पर न तो तालाब को ही नुकसान होता है और न ही लोगो को हानि पहुँचती है।

ठीक यही हाल धन का है। उसके अधिक हो जाने पर अगर दान रूपी मोरी के द्वारा व्यक्ति उसे निकालता रहे तो उसका तनिक भी नुकसान नही होता और अन्य व्यक्तियो को भारी लाभ हो जाता है। धन का त्याग करने से कभी घाटा नहीं होता उल्टे अनेक प्रकार से नफा ही होता है।

तो बन्धुओ, श्लोक मे कहा गया है कि मधुर वचनो के साथ दान देना, ज्ञान का गर्व न होना, शौर्य होते हुए भी क्षमा-भाव का विद्यमान रहना और धन के साथ त्याग की भावना का जुडा रहना, ये चारो बातें मिलना बडा कठिन होता है। किन्तु जो भव्य-पुरुष इन्हे जीवन मे उतार लेते हैं, वे अपना यह लोक तो उत्तम बनाते ही हैं, परलोक भी सुधार लेते हैं। अर्थात् इस जीवन मे भी वे यशस्वी बनते है और अगले जन्म मे भी अनेकानेक दु खो से बच जाते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को ये महान् गुण अपनाने चाहिए और आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर होना चाहिए।

❁

५ | देवत्व की प्राप्ति

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

आपने अन्तगढ सूत्र मे अनेक महान् सन्तो और सतियो के विषय मे सुना है। उनका वर्णन शास्त्र मे इसलिए नही किया गया है कि वे पूर्वावस्था मे राजा या राजकुमार थे अथवा राजकुमारियाँ या रानियाँ थी, वरन् इसलिए शास्त्र उनकी गुण-गाथा गाता है कि उन्होंने आत्मा को ससार-मुक्त करने की उत्कृष्ट करनी की थी। उन्होंने धर्म को समझा, उसे जीवनसात् किया और घोर परिषहो तथा उपसर्गों के आने पर भी उसे छोडा नही। उन महान् आत्माओ ने प्राणत्याग करना स्वीकार किया किन्तु धर्म का त्याग करने की कल्पना भी नही की। इसीलिए उन्होने देवत्व और उससे भी ऊपर उठकर मुक्ति को हासिल किया।

विचार आता है कि धर्म मे ऐसा क्या है, जिसे रखने के लिए भव्य प्राणी अपना सर्वस्व और अन्त मे प्राणो का भी विसर्जन कर देता है। एक श्लोक मे इस वात को समझाया है—

> सकल्प्य कल्पवृक्षस्य, चिन्त्य चिन्तामणेरपि ।
> असकल्प्यमसचिन्त्य फल धर्मादवाप्यते ॥
>
> —आत्मानुशासन, २२

अर्थात् कल्पवृक्ष से सकल्प किया हुआ और चिन्तामणि से चिन्तन किया हुआ पदार्थ प्राप्त होता है, किन्तु धर्म से असकल्प्य एव अचिन्त्य फल मिलता है।

इसीलिये मुमुक्षु प्राणी ज्ञान, दर्शन एव चारित्र-रूपी धर्म का मर जाने पर भी त्याग नही करते। धर्म का आराधन करने पर ही व्यक्ति इहलौकिक एव पारलौकिक सुख हासिल करता है तथा सदा के लिए ससार के दुखो से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

जो व्यक्ति धर्म को सच्चे अर्थो मे ग्रहण कर लेते हैं, उनके लिए मुक्तकठ से कहा जाता है—

> "पुंसा शिरोमणीयन्ते, धर्मार्जनपरा. नरा. ।
> आश्रयन्ते सपद्‌भि लताभिरिव पादपा. ॥

जो व्यक्ति धर्मपरायण होता है वह मनुष्यो से सर्वश्रेष्ठ और मस्तक पर रखे जाने वाले मुकुट की मणि के समान वहुमूल्य माना जाता है। ऐसे धर्मात्मा व्यक्ति का सम्पत्ति आदि समस्त सासारिक सुख-सुविधा की वस्तुएँ आश्रय ग्रहण करती हैं। अर्थात् धर्माचरण करने वाले व्यक्ति का लक्ष्मी भी वरण कर लेती है तथा उसके सहारे से इस प्रकार रहती है जैसे लताएँ वृक्षो के सहारे रहा करती हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म-रूपी कल्पवृक्ष के द्वारा सभी कुछ हासिल हो जाता है। हमारे धर्मग्रन्थ तो कहते हैं—

प्राज्य राज्य सुभगदयिता नन्दना नन्दनाना,
रम्य रूप सरसकविताचातुरी सुस्वरत्वम्।
नीरोगत्व गुणपरिचयः सज्जनत्व सुबुद्धि,
किंनु ब्रूम. फलपरिणति धर्मकल्पद्रुमस्य ॥

—शान्तसुधारस-धर्मभावना

अर्थात्—विस्तृत राज्य, सुभग स्त्री, पुत्र-प्रपौत्र, सौन्दर्य, सरस कवित्वशक्ति, मधुरस्वर, आरोग्यता, गुणानुराग, सज्जनता एव सद्बुद्धि आदि सभी कुछ धर्मरूपी कल्पवृक्ष के फल हैं। इस विषय मे जिह्वा से कितना कहा जाय ?

तो वन्धुओ, ऐसे धर्म का आत्मसात् करने वाले नर-पुगव, पुरुष-शिरोमणि कहलाते हैं तथा जन्म-मरण के वन्धनो से मुक्त होकर सदा के लिए अमर हो जाते है। उन मुक्तात्माओ की कथाएँ ही आप सुन रहे हैं और हम सुना रहे हैं ताकि ऐसे आदर्श पुरुपो के गुणो को आप जानें, समझें और आचरण मे उतारकर जीवन को निर्मल वनाएँ।

एक का अक

हिन्दी के एक कवि ने कहा है—

रामनाम को अक है, सव साधन हैं शून्य।
अंक गये कछु होत नहीं, अक रहे दस गून ॥

पद्य मे वडे सरल और सुन्दर ढग से कवि ने राम-नाम को एक का अक वताया है। आप लोग हिसाव करते हैं तो एक पर विंदियाँ लगाते हुए रकम को क्रमश दस गुनी वढाते जाते हैं, किन्तु केवल एक के अक को हटा दिया जाय तो विंदियाँ चाहे जितनी हो, सव व्यर्थ हो जाती हैं। स्पष्ट है कि एक का अक होने पर ही उस पर लगाई हुई विंदियाँ सोने मे सुगन्ध का काम करती हैं और उनके न होने पर निरर्थक चली जाती हैं।

कवि ने राम के नाम को भी एक का अक वताया है तथा पूजा, भक्ति, सेवा आदि अन्य समस्त साधनो को विंदियो के समान कहा है। उनका कहना है कि

मनुष्य के हृदय मे जव राम या भगवान के प्रति दृढ आस्था, श्रद्धा एव विश्वास घर कर जाता है तो उसकी अन्य क्रियाएँ भी दस-दस गुना फल प्रदान करती जाती है। किन्तु अगर भगवान के प्रति ही प्रगाढ श्रद्धा न रही या कि विश्वास डोलता रहा तो भक्ति की अन्य क्रियाओ मे सच्चाई नही आ सकती और वे दिखावा मात्र वनकर रह जाती हैं।

हम भी आपको यही कहते है कि भगवान की आज्ञानुसार ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप-रूप धर्म की आराधना करना एक के अक से समान है और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील, अपरिग्रह, क्षमा, दान, सेवा एव परोपकार आदि समस्त उत्तम गुण और क्रियाएँ बिंदियो के समान हैं जो कि धर्म के महत्त्व या फल को उत्तरोत्तर दस गुना वढाते जाते हैं। पर आवश्यक यह है कि एक के अक को स्थिर रखा जाय। अन्यथा विना भावना के आपका दान-पुण्य या सामायिक-प्रतिक्रमण आदि सव कुछ करना एक के अक से रहित बिंदियो के समान निरर्थक चला जाएगा।

सज्जनो ! यह ससार मृग-मरीचिका के समान है। जिस प्रकार मृग चमकती हुई वालू-रेत को जलाशय समझकर उस ओर दौडता रहता है किन्तु उसे जल प्राप्त नही होता, इसी प्रकार मानव सासारिक पदार्थों मे सुख प्राप्ति की कामना से उनके लिए अहर्निशि प्रयत्न करता रहता है पर उन्हे इकट्ठा करके भी वह सच्चा सुख कभी हासिल नही कर पाता और सदा व्याकुल वना रहता है।

सच्चा सुख और शाति किसमे है ?

एक महात्माजी को वचनसिद्धि हासिल हो गई थी। एक वार घूमते-घूमते वे किसी शहर मे जा पहुँचे। सिद्ध पुरुष होने के कारण उनकी शोहरत शीघ्र ही शहर मे फैल गई और अनेक व्यक्ति आकर उनसे इच्छित वर प्राप्त करने लगे।

एक दिन उनके पास चार व्यक्ति आए। महात्मा जी ने उनसे भी आने का कारण पूछा। इस पर पहले व्यक्ति ने कहा—"भगवन् ! जन्म से लेकर आज तक दरिद्रता की चक्की मे पिस रहा हूँ। न कभी दोनो जून पेट भर दाना मिल पाया है और न तन ढकने के लिए पूरे वस्त्र। अत कृपा करके आप मुझे ऐसा वरदान दीजिए कि मेरे पास खूव धन हो जाय, किसी तरह की कमी न रहे।"

महात्मा जी उस व्यक्ति की प्रार्थना पर मुस्कराये और वोले—"तथास्तु, जाओ तुम्हें इच्छित धन मिल जायगा।" धन का इच्छुक व्यक्ति खुश होकर वहाँ से चल दिया।

अव दूसरे व्यक्ति की वारी आई। सन्त ने उससे आने का कारण जानना चाहा। अत दूसरा व्यक्ति कहने लगा—"महाराज ! मेरे पास धन तो प्रचुर मात्रा मे है पर सन्तान नही है। कृपा करके मुझे पुत्र-प्राप्ति का वर दीजिए।"

महात्मा जी ने उससे भी कह दिया—"तुम्हारी इच्छा पूरी हो जाएगी और तुम पुत्र प्राप्त कर लोगे।" व्यक्ति चला गया।

अब महात्मा जी ने तीसरे आगन्तुक की ओर निगाह फेरी। यह देखकर वह बोल पडा—"महात्मा! मैं अपना अभाव आपसे किस प्रकार बताऊँ? इस ससार में स्त्री के बिना तो कुछ सुख है ही नही, और मैं अब तक कुवारा हूँ। मुझे आज तक पत्नी नही मिल सकी है अत आप दया करके मुझे यही वर दीजिए कि मेरा विवाह हो जाय। बस, इसके अलावा मैं और कुछ भी नही चाहता। धन-वैभव की कामना मेरी नही है।"

सन्त ने स्त्री-सुख के अभिलाषी उस व्यक्ति को भी निराश नही किया और उसे वरदान दे दिया—"जाओ शीघ्र ही तुम्हारा विवाह हो जाएगा।" वह व्यक्ति भी परम हर्ष का अनुभव करता हुआ महात्मा जी के चरण छूकर चला गया।

अब वहाँ केवल एक व्यक्ति रह गया था। सन्त ने उसे भी स्नेह-दृष्टि से देखा और पूछा "भाई तुम क्या चाहते हो?"

वह व्यक्ति बोला—"भगवन्! मैं तो ससार के झमेलो से परेशान हो गया हूँ, अत मुझे तो ऐसा वरदान दीजिए कि मेरे हृदय मे प्रभु के प्रति गहरी आस्था और भक्ति जाग्रत हो उठे।"

सन्त उसकी बात सुनकर तनिक चौंके, क्योकि उनके पास सभी व्यक्ति सासारिक सुखो के साधनो की इच्छा से आया करते थे। किन्तु यह व्यक्ति ऐसा था जो उनसे विपरीत माँग कर रहा था। वे प्रसन्न हुए और बोले—"भाई! तुम्हारी मनोकामना भी पूर्ण हो जाएगी।" व्यक्ति सहर्ष सन्त के चरणो मे मस्तक झुकाकर धीरे-धीरे वहाँ से चला गया।

सन्त भी कुछ समय पश्चात् वह शहर छोडकर अन्यत्र चले गये। पर काफी अर्से बाद वे पुन उधर आ निकले और सयोग ऐसा बना कि उसी शहर के निवासी होने के कारण वे चारो व्यक्ति एक ही दिन उनके दर्शनार्थ आए।

सन्त ने उन्हे पहचान लिया और पहले व्यक्ति से पूछा—"बन्धु! अब तो तुम धनीमानी दिखाई दे रहे हो। अपनी स्थिति से सन्तुष्ट हो न?"

व्यक्ति उदास होकर बोला—"महाराज, पहले मैं भूखो मरता था, और आपकी कृपा से खूब धन हासिल हो गया पर एक ओर तो दुकानो और फैक्टरियो का काम इतना अधिक रहता है कि दिन-रात चैन नही मिलती, दूसरे दिन भर बैठे रहने से पेट खराब हो गया है अत इच्छानुसार कुछ भी खा नही सकता। पालक की भाजी और रूखी रोटी खाकर रहना पडता है।"

पहले व्यक्ति की यह वात सुनते ही समीप वैठा हुआ दूसरा व्यक्ति बोल पडा—"भगवन्! मैंने भी आपसे सन्तान-प्राप्ति के लिए वरदान माँगा था। उसके अनुसार पुत्र तो हो गये किन्तु सब कपूत और स्वार्थी हैं। न कोई मेरी बात मानता है और न ही इस वृद्धावस्था मे मुझे एक गिलास पानी भी भर कर पिलाता है। दिन-रात पडा-पडा कराहता रहता हूं, पर सेवा करना तो दूर, कोई पास भी नही फटकता। इसीलिए आप जैसे सन्त-महात्मा कहते हैं—

हरि विन और न कोई अपना,
हरि विन और न कोई रे।
मात पिता सुत वन्धु कुटुम सब,
स्वारथ के ही होई रे॥
घर की नारि वहुत ही प्यारी,
तन मे नाहीं दोई रे।
जीवत कहती सग चलूंगी,
डरपन लागी सोई रे॥

वस्तुत जीव का भला भगवान के अलावा और किसी से नही हो सकता। वही उसका अपना है। माता-पिता, पुत्र, एव वन्धु-वान्धव तो सव स्वार्थ के सगे हैं। और तो और, जो स्त्री पति के जीवित रहने पर तो कहा करती है—"मैं तुम्हारे विना जीवित नही रहूंगी, साथ ही चलूंगी, वह भी पति को मृत देखकर डरने लगती है और भूत-भूत कहकर दूर चली जाती है।

तो वचनसिद्ध सन्त के समक्ष उनसे वरदान प्राप्त करने वाला दूसरा व्यक्ति कहता है कि मेरे पुत्र हो गये पर सव स्वार्थी और कपूत है, मेरी फिक्र वे तनिक भी नही करते।

अव तीसरे व्यक्ति का नम्बर आया जिसने स्त्री-प्राप्ति का वर सन्त से मागा था। वह सन्त के सामने हाथ जोडता हुआ वोला—"महाराज! आपकी कृपा से विवाह हो गया और स्त्री मिली। किन्तु अव तो मैं सोचता हूँ कि जिस प्रकार आधी जिन्दगी कुँवारा रहकर विता दी थी, उसी प्रकार वाकी भी निकल जाती तो वहुत अच्छा रहता। क्योंकि स्त्री ऐसी कर्कशा मिल गई है कि हवा मे लड पडती है। न सुख से कभी खाने देती है और न दो-घडी आराम से घर मे वैठने ही देती है। मेरे पास अधिक धन नही है अत प्रतिदिन अपने लिए कपडे और गहने की माग करती है तथा मेरे ला न सकने पर मुझे छोडकर चले जाने की धमकी देती है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है—

उरग तुरग नारी नृपति, नर नीचो हथियार।
तुलसी परखत रहव नित, इनहिं न पलटत वार॥

अर्थात्—सर्प, घोडा, स्त्री, राजा, नीच पुरुष एव हथियार, इन्हे सदा परखते रहना चाहिए और इनकी तरफ से गाफिल नही रहना चाहिए, क्योकि इन्हें पलटते देर नही लगती।

"तो महाराज! मेरा भी यही हाल है, यानी मेरी स्त्री भी मेरे धनाभाव के कारण पलट गई है और मैं बडा दुखी हो गया हूँ।"

सन्त अब क्या कहते? धन, पुत्र और स्त्री-प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियो को दुखी देखकर उनका हृदय करुणा से भर गया और उसी समय उनकी दृष्टि उस चौथे व्यक्ति पर जा पडी जिसने भगवान के प्रति आस्था और भक्ति की माँग की थी। वह व्यक्ति शान्ति से बैठा था और उसके चेहरे पर आत्म-सन्तोष झलक रहा था। पर अपनी ओर सन्त की प्रश्नवाचक दृष्टि का अनुभव करने के कारण वह बोला—

"भगवन्! मैं तो परम सुखी हूँ। जब तक सासारिक बन्धनों मे आसक्त था और धन-ऐश्वर्य की फिक्र मे पडा रहता था, तब तक बडा परेशान और दुखी रहता था। किन्तु जब से उनकी ओर से मन हट गया और ईश्वर की भक्ति मे रम गया हूँ तब से मुझे कोई दुख नही है। परम सन्तोष का अनुभव करता हूँ। सोचता हूँ—मेरे समान और कोई भी सुखी नही है।"

कहने का अभिप्राय यही है कि जो प्राणी ससार के क्षणिक और अवास्तविक सुखो की ओर से मुँह मोड लेता है, वह ससार मे रहकर भी अपार सुख का अनुभव करता है और जो प्राणी ससार मे सुख की खोज करता हुआ उसमें गृद्ध रहता है, वह दुख का अनुभव करता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा भी है—

जम्म दुक्ख जरा दुक्ख, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु ससारो, जत्थ कीसन्ति जतुवो॥

—अध्ययन १९, गा० १६

अर्थात् ससार मे जन्म का दुख है, जरा, रोग और मरण का दुख है। चारो ओर दुख ही दुख है। अतएव वहाँ प्राणी निरन्तर कष्ट ही पाते रहते हैं।

इसीलिये सन्त-पुरुष भव-सागर मे डूबते हुए प्राणियो को अपना बचाव करने के हेतु समझाते हैं तथा दान, शील, तप एव भाव रूप धर्म की आराधना करने का उपदेश देते हैं। आप मे से अधिकाश व्यक्ति सोचते होंगे कि पूजा-पाठादि क्रियाकाण्ड करने से और तपस्या करके शरीर को सुखाने से क्या लाभ है?

हमारे यहाँ पुष्पऋषि जी और धन्नाऋषि जी एकान्तर तप कर रहे हैं तथा दक्षिण प्रान्त से चाँदा (अहमदनगर) वाले धर्मप्रेमी श्री कनकमल जी गाधी के साथ

जो पटेल जी आए हैं, वे आंखो से परतन्त्र होते हुए भी ग्यारह की तपश्चर्या, वेले और तेला कर चुके हैं। आपकी दृष्टि से तो सम्भवत यह सव निरर्थक है, पर यह वात नही है। तप के विना कर्मों की कभी निर्जरा नही होती और कष्ट सहन किये विना तप नही हो सकता।

मराठी भाषा मे कहा गया है—

घणाचे घाव सोसावे तेघवा देवपण पावे।
खपूती नित्य दिन राती, लाबूनी नजर ध्येयातीं,
उद्यमे सुयश जोडावे, तेघवा देवपण पावे।

कवि के कहने का भाव यही है कि कष्टसहन करने पर ही शुभ फल प्राप्त होता है। वहने जिस सोने के वने हुए जेवरो को पहनती है, उसे अग्नि मे तपना पडता है, टाचियाँ सहनी होती हैं, तव कही जाकर वह देह पर धारण करने योग्य वनता है। इसी प्रकार पत्थर घनो के असख्य घाव खाकर मूर्ति के रूप मे आता है और लोग उसे देवमूर्ति मानकर पूजते है।

इन दृष्टान्तो को जानकर विचार आता है कि जड आभूषण और नकली देवमूर्ति वनने के लिए भी सोने और पत्थर को इतनी मार खानी पडती है तो असली देव वनने के लिए तो कितना कष्ट नही सहना पडेगा ?

आपने अन्तगढ सूत्र मे जिन महान् सतो एव महासतियो के विषय मे सुना है, उन्होंने तप की आराधना करने के लिए अनेकानेक कष्ट सहन किये हैं तथा घोर उपसर्गो एव परिषहो का सामना किया है। उनका शरीर अधिक से अधिक कमजोर ही नही हुआ था, अपितु कइयो का तो नष्ट भी हो गया था। किन्तु उनके हृदय मे कभी कमजोरी नही आई और न ही उन्होंने साधना का मार्ग छोडा।

आत्मा के शत्रु, कर्मो का मुकावला करने मे वे महापुरुष शूरवीर सावित हुए। क्योकि उनका लक्ष्य ही आत्मा को कर्म-मुक्त करने का रहा। इस सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य की ओर से वे कभी भी गाफिल नही रहे। उनका दृढ सिद्धान्त था—**"कार्य वा साधयामि, देह वा पातयामि।"**

इस प्रकार अपने निर्धारित लक्ष्य को उन्होंने कभी अपनी नजरो से ओझल नहीं किया और निरन्तर उसकी तरफ अग्रसर होते रहे। इसी का शुभ फल प्राप्त करके वे जगतपूज्य वने तथा शाश्वत सुख के अधिकारी सावित हुए। कवि का कहना भी यही है कि मनुष्य को अपने जीवन के सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिए सतत् उद्यम या पुरुषार्थ करना चाहिये तभी वह इस लोक मे सुयश और परलोक मे देवत्व को प्राप्त कर सकता है। आगे भी कहा है—

"स्वकर्मी गुंग असताना, भोगणें यातना नाना,
प्रयत्न धीर न सोडावे, तेषवा देवपण पावे ।"

पद्य का आशय यही है कि धीर पुरुष जो भी कार्य हाथ मे ले, उसे नाना प्रकार की यातनाएँ भोगने पर भी छोडे नही और ऐसा करने पर ही वह अपने शुभ कर्मो के बल पर देवत्व को हासिल कर सकता है ।

बन्धुओ, हम साधु है पर हमारे हाथ मे भी कार्य हैं । वे कार्य है अपनी आत्मा को कर्म-रहित करने का प्रयत्न करना तथा अन्य प्राणियो को भी भगवान की आज्ञा के विषय मे समझाते हुए सन्मार्ग पर लाना । आप श्रावक हैं और आपके समक्ष भी अनेक कर्तव्य है । जैसे—समाज की सेवा, दीन-दुखी एव अभाव-ग्रस्त व्यक्तियो की सहायता और उसके साथ ही श्रावक धर्म का पालन करते हुए आत्मा को उन्नत बनाना । देशभक्तो के सामने भी देश की रक्षा करते हुए अनेक कर्तव्यो का पालन करना पडता है ।

इस प्रकार पुरुषार्थी व्यक्तियो के समक्ष भिन्न-भिन्न कार्य रहते हैं और सभी कार्य अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं । पर आवश्यकता केवल इसी बात की है कि हाथ मे लिए हुए कार्य को प्रत्येक व्यक्ति उत्साह, सचाई एव परिश्रम से करता चला जाय । यह तो निश्चित है कि उत्तम कार्य करने मे अनेक विघ्न-बाधाएँ सामने आती हैं और दुर्जन व्यक्ति भी बीच-बीच मे रोडे अटकाए बिना नही रहते । वे न तो स्वय ही कोई अच्छा कार्य करते है और न ही दूसरो को करने देते हैं ।

भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक मे कहा है—

अकरुणत्वमकारणविग्रहः,
परधने परयोषिति च स्पृहा ।
स्वजन बधुजनेष्वसहिष्णुता,
प्रकृतिसिद्धमिद हि दुरात्मनाम् ।।

निर्दयता, अकारण वैर करना, दूसरे के धन और स्त्री की सर्वदा इच्छा करना, अपने परिवार और मित्रो की उन्नति न देख सकना, यह दुष्टो की स्वाभाविक आदत है ।

कहने का आशय यही है कि आप लोग उत्तम कार्य करने का विचार करते हैं तथा समाज-सेवा का बीडा उठाते हैं, किन्तु दुर्जन व्यक्ति आपके अच्छे कार्यों की दूसरो के द्वारा सराहना अथवा प्रशसा किया जाना भी सहन नही कर पाते अत नाना प्रकार से आपके मार्ग मे बाधक बनते है अथवा किसी न किसी प्रकार से कीचड उछालकर आपको बदनाम करने का प्रयत्न भी कर सकते हैं। पर हमारा आपसे यही कहना है कि जब आप अच्छे कार्य को प्रारम्भ कर दें और उसे सम्पन्न करने का

इरादा करे तो फिर किसी के द्वारा निन्दा, उपहास और अपशब्द सुनाये जाने पर भी उसे अधूरा न छोडें तथा जिस प्रकार शिवजी ने स्वय गरलपान करके औरो को अमृत प्रदान किया था, उसी प्रकार आप भी निन्दा, बुराई आदि सभी को स्वय सहन करके अपने पुरुषार्थ का शुभ फल समाज के अन्य व्यक्तियो को प्राप्त करने दें। ऐसा करने पर आप परलोक मे तो क्या, इसी लोक मे देवत्व हासिल कर लेंगे।

आगे कहा गया है—

आठवा पूर्व इतिहास, करावा सतत् अभ्यास।
मनानें शुद्ध वर्तावे, तेधवा देवपण पावे ॥

कवि का कथन है कि व्यक्ति देवत्व तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि अपने मन को निर्दोष, निष्कलुष, सरल एव शुद्ध बनावे। और मन शुद्ध तभी बन सकता है जब वह भगवान की आज्ञाओ का पालन करे तथा प्राचीन इतिहास पढकर पूर्व मे हुए महान सत एव सतियो के जीवन-चरित्र पढकर उनके महान गुणो को अपने जीवन मे भी उतारे।

हमारे यहाँ कितने महान् सत तथा कैसी-कैसी महान् सतिया हुई है ? सोलह सतियां, जिनके नाम आप प्रतिदिन लेते हैं, नारी जाति की होकर भी आठो कर्मों से मुकाबला करके विजयी बनी है। महासती चन्दनबाला, सुभद्रा, सीता आदि सभी ने अपने जीवन मे अनेकानेक कष्ट सहे किन्तु प्राण देकर भी उन्होंने अपनी शील-रक्षा की तथा त्याग एव तपस्यामय सयम मार्ग पर दृढता से गमन करते हुए आत्म-कल्याण किया।

इसी प्रकार केवल साधु-साध्वी ही नही वरन् उस काल मे ऐसे-ऐसे महान् श्रावक और श्राविकाएँ भी हुई हैं जो देवताओ के द्वारा चलायमान किये जाने पर भी अपने धर्म मे विचलित नही हुए तथा पूर्ण दृढतापूर्वक उस पर अग्रसर होते रहे।

तो उन महान् आत्माओ को आदर्श मानकर हमे और आपको भी मन शुद्धि करते हुए आत्मोन्नति के मार्ग पर बढना है और यह प्रयास करते रहने पर ही सम्भव हो सकता है। हमे यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि मन की शुद्धि होना बडा कठिन है या मुक्ति प्राप्त करना किस प्रकार सम्भव है ? आप जानते हैं कि एक-एक बूंद पानी गिरकर भी पत्थर मे छेद कर देता है और एक-एक चे[illegible] वटे से बडा वृक्ष भी कट जाता है। तब फिर सतत प्रयत्न करने से हमारा [illegible] उनको [illegible] सकना, और हमारे कर्मों का नाश क्यो नही किया जा सकता [illegible] और [illegible] इसी बात की है कि हम अपने मन मे रहे हुए छोटे से छोटे और प्रबल [illegible] मिटाने का प्रयत्न करे।

वन्धुओ ! आप प्रतिदिन शाम को अपनी वहियो मे जमा-खर्च करते हैं तथा देने और लेने का हिसाब देखते हैं। उसके वाद महीने के अन्त मे भी माहवार हिसाव करते है। इतना ही नही, सदा जमा-खर्च का व्यौरा रखने पर भी पुन प्रत्येक दिवाली पर अर्थात् साल मे एक वार तो अपनी सम्पूर्ण पूंजी को सम्हाल ही लेते हैं तथा कही भी त्रुटि नही रहने देते। पर लगता है कि आप इस जड और नश्वर धन के प्रति ही इतनी सावधानी रखते हैं, अपने आध्यात्मिक धन की वृद्धि और उसके ह्रास की परवाह नही करते।

आज सवत्सरी का दिन है। इसका महत्व आपको दीपावली से भी अधिक समझना चाहिए। आज के दिन आप अपने वर्ष भर के दोपो को स्मरण करके उनके लिए प्रायश्चित्त कर सकते हैं तथा किसी भी प्राणी के प्रति रहे हुए वैर-भाव को मिटाकर उसमे क्षमायाचना कर सकते हैं।

यहाँ एक वात ध्यान मे रखने की है कि जिस प्रकार आप प्रतिदिन हिसाव करना छोडकर कभी भी उसे दीपावली पर करने के लिए नही रखते, क्योकि ऐसा करने से आप पर वडा वोझ इकट्ठा हो जाता है, ठीक इसी प्रकार, अपनी छोटी-मोटी गलतियो, अपराधो एव मन के दोषो को भी सवत्सरी के दिन ही मिटाने के लिए नही रखना चाहिए अपितु प्रतिदिन सायकालीन प्रतिक्रमण के समय दिन भर मे हुई भूलो के लिए या मन, वचन तथा शरीर के द्वारा होने वाले दोषो के लिए पश्चात्ताप करके उन्हे भविष्य मे पुन-पुन न होने देने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये।

ऐसा करने पर मन के छोटे-छोटे दोष भी तुरन्त मिट जाया करेंगे और वे वढकर आपको सवत्सरी के अवसर पर भारी वोझ नही महसूस होंगे तथा उन्हे मिटाने मे आपको कठिन परिश्रम नही करना पडेगा। दूसरे शब्दो मे, जिस प्रकार प्रतिदिन घर का कचरा और जाले आदि साफ करते रहने से दीपावली पर सफाई के लिए अधिक परिश्रम नही करना पडता, इसी प्रकार मन का कषायरूपी कचरा प्रतिदिन साफ कर लेने पर सवत्सरी के अवसर पर भी मन को शुद्ध करना कठिन नही होता।

तो वन्धुओ, जो भव्य प्राणी अपने मन की शुद्धि के लिए इस प्रकार सदा सजग रहता है वह सहज ही देवत्व की प्राप्ति कर लेता है तथा आत्म-कल्याण करने मे समर्थ वनता है।

६ | चिन्तामणि रत्न, चिन्तन

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

आज हम आत्म-चिन्तन के विपय मे विचार करेंगे। इस ससार मे प्रत्येक व्यक्ति कभी किसी समय और कभी किसी समय, पर हमेशा चिन्तन करता जरूर है। इसका कारण यह है कि मस्तिष्क अधिक समय तक विचारो से खाली नही रह सकता। निद्रा आने पर अथवा एकाग्रता से किसी कार्य मे लग जाने पर चिन्तन का प्रवाह कम हो जाता है या कुछ समय के लिए विचारो से मस्तिष्क के सर्वथा शून्य न होने पर भी रुक जाता है, किन्तु अवसर मिलते ही पुन अपना काम करने लग जाता है।

चिंतन के प्रकार

इस विशाल जगत मे मनुष्य का चिन्तन करना कोई वडी वात नही है, प्रत्येक व्यक्ति चिन्तन करता है किन्तु हमे समझना यह है कि किस प्रकार का चिन्तन आत्मा के लिए अनर्थकारी है और किस प्रकार का चिन्तन उसके लिए लाभकारी।

ससार मे अनेक प्रकार के व्यक्ति होते हैं। वे अपने कार्यों के अनुसार विचार करते हैं तथा उस पर चिन्तन-मनन करते रहते है। उदाहरणस्वरूप चोर, डाकू और हत्यारे भी कम चिन्तन नही करते, वे अत्यधिक सोचते हैं और विचार करते हैं पर उनका मस्तिष्क यही स्कीमे वनाता है कि किस प्रकार अमुक धनी की हवेली मे प्रवेश किया जाय, किस प्रकार तिजोरियाँ खोलकर या सन्दूको के ताले नि शब्द तोडकर माल निकाला जाय और फिर किस प्रकार उसे सुरक्षित रूप से लाकर ठिकाने लगाया जाय ? उनके इस अभियान मे अगर कोई घर का या वाहर का व्यक्ति वाधक वने तो किस प्रकार उसे सदैव के लिए समाप्त कर दिया जाय यह भी उनके चिन्तन का वडा महत्त्वपूर्ण विपय होता है।

इसी प्रकार किसान चिन्तन करता है कि किस प्रकार उसकी फसल अधिक से अधिक मात्रा मे प्राप्त हो, उसकी रक्षा किस प्रकार की जाय, और किस प्रकार उससे अधिक लाभ हासिल हो ? वडा व्यापारी अपनी दुकानो को और अधिक वढाने के लिए तथा घटिया माल को भी वढिया करके निकालने के लिए चिन्तन करता

रहता है। यह बात तो आप सेठ-साहूकार अच्छी तरह से जानते ही हैं कि किस प्रकार आप अपनी पूंजी को अनेक गुनी अधिक बढाने का प्रयत्न करते हैं तथा सोते जागते उस विषय मे सोचते रहते हैं।

तो मैं चिन्तन के विषय मे बता रहा हूँ कि पढे-लिखे व्यक्ति अपने अलग ढग से चिन्तन करते हैं और दार्शनिक तथा वैज्ञानिक आदि अपने-अपने विषयो के लिए अलग-अलग तरीको से। कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति के सोचने विचारने का और उस पर चिन्तन करने का अपना भिन्न-भिन्न विषय होता है।

अब हमे यह देखना है कि किस प्रकार का चिन्तन आत्मा के लिए लाभदायक बनता है ? अभी मैंने उदाहरण के तौर पर आपको बताया है कि चोर, डाकू, किसान, मजदूर, शिक्षक, दार्शनिक एव वैज्ञानिक आदि-आदि सभी के चिन्तन का विषय अलग-अलग होता है पर अधिकाश व्यक्तियो का चिन्तन भौतिक विषयों को लेकर ही चलता रहता है और इन सब विषयो पर अत्यधिक विचार करने से आत्मा का कोई लाभ नही होता।

भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए सदा चिन्तन, प्रयत्न करने से और उन्हें अधिक से अधिक पा लेने से भी आत्मा को क्या लाभ हो सकता है जबकि वह सब कुछ जड है और जड शरीर के साथ ही यहाँ छूट जाने वाला है। लाभ तो उस आध्यात्मिक चिन्तन से है जिससे कर्म नष्ट होते है तथा आत्मा हलकी होकर ऊँची उठती है। वह चिन्तन आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक एव तत्त्वादि के विषय म विचार करना होता है तथा ऐसे आत्म-चिन्तन से मन निर्दोष होकर कर्मों की निर्जरा मे जुट जाता है।

चिन्तन का समय

बन्धुओ, वैसे तो चिन्तन किसी भी समय किया जा सकता है और न चाहने पर भी वक्त-बे-वक्त दिमाग चिन्तन के क्षेत्र मे उतर जाता है किन्तु आत्म-चिन्तन आत्मा के लिए शुभ कदम है। इसलिए इसे शुभ समय मे करना उचित है। प्रत्येक अच्छा कार्य अच्छे स्थान पर और अच्छे समय मे भली प्रकार से सम्पन्न किया जा सकता है और तभी वह अच्छा फल प्रदान करता है।

इस विषय मे कहा गया है—

> निशाविरामे परिभावयामि,
> गृहे प्रदीप्ते किमहम् शयामि ?

श्लोक मे बताया गया है कि मनुष्य को किस समय और क्या चिन्तन करना चाहिए ?

'निशाविरामे' अर्थात् रात्रि के अन्त मे जिस समय रात्रि का अन्त होता है उसे ब्राह्म मुहर्त कहते है, क्योंकि वह समय ब्रह्म चिन्तन के लिए उपयुक्त माना जाता है। ब्रह्म का अर्थ परमात्मा होता है और आत्मा भी। तो उस समय जबकि मनुष्य का दिमाग रात्रि विश्राम के पश्चात् स्वस्थ हो जाता है और चारो ओर का वातावरण भी कोलाहल रहित यानी शान्त होता है, मनुष्य को चिन्तन करना चाहिए तथा चिन्तन करते समय यह विचार करना चाहिए कि—'मेरा मकान जल रहा है और ऐसी स्थिति मे भी मैं सो कैसे रहा हूँ ?'

कवि ने जीवन को मकान की उपमा दी है और उसमे लगी हुई कपायो की प्रवल आग की ओर व्यक्ति का ध्यान आकर्षित किया है। यानी क्रोध, मान, माया, लोभ एव राग-द्वेषादि रूप अग्नि मनुष्य के चारित्र को जला देती है और चारित्र का नष्ट होना जीवन नष्ट होना ही है।

'निशीथभाष्य' मे कहा भी है—

ज अज्जिय चरित्त देसूणाए वि पुव्वकोडीए।
तपि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेण।

देशोनकोटि पूर्व की साधना के द्वारा जो चारित्र अर्जित किया है, वह अन्तर्मुहूर्त भर के प्रज्ज्वलित कपाय से नष्ट हो जाता है।

तो वन्धुओ ! कपायो की आग वास्तव मे ही इतनी भीषण होती है कि वह अन्तर्मुहूर्त के लिए भी प्रज्वलित हो जाय तो साधको की सम्पूर्ण साधना एव महायोगियो की वर्षो तक की हुई तपस्या के फल को सर्वथा भस्मीभूत कर देती है और इस सव के नष्ट होने का दूसरा नाम ही जीवन नष्ट होना या जीवन रूपी मकान का जल जाना है।

एक उर्दू भाषा के कवि ने भी मनुष्य को चेतावनी दी है—

"मकुनखानये जिन्दगानी खराव,
वसैलाव खेलोवद नासवाव।"

'मकुन' यानी मत कर। सस्कृत मे इसी को 'मा कुरु' कहते हैं। दोनो भाषाओ के शब्दो मे वडा साम्य है। तो कवि ने कहा है—जिन्दगी रूपी जो खाना यानी मकान है, उसे खराव मत कर। मकान के लिए 'खाना' शब्द आप और हम भी काम मे लेते हैं। यथा—दवाखाना, हाथीखाना आदि-आदि। शायर ने इसीलिए लिखा है—'अपने वद कार्यो से इस जिन्दगी रूपी मकान को खराव मत करो।'

आप जिसमे रहते है, उस मकान को पानी और आग दोनो से नुकसान पहुँचता है। पुराने और जर्जर मकान तो पानी वरसने से ढहते हैं पर भीषण वाढ

रहता है। यह वात तो आप सेठ-साहूकार अच्छी तरह से जानते ही हैं कि किस प्रकार आप अपनी पूंजी को अनेक गुनी अधिक वढाने का प्रयत्न करते है तथा सोते-जागते उस विषय मे सोचते रहते हैं।

तो मैं चिन्तन के विषय मे वता रहा हूँ कि पढे-लिखे व्यक्ति अपने अलग ढग से चिन्तन करते हैं और दार्शनिक तथा वैज्ञानिक आदि अपने-अपने विषयो के लिए अलग-अलग तरीको से। कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति के सोचने-विचारने का और उस पर चिन्तन करने का अपना भिन्न-भिन्न विषय होता है।

अव हमे यह देखना है कि किस प्रकार का चिन्तन आत्मा के लिए लाभदायक वनता है? अभी मैंने उदाहरण के तौर पर आपको वताया है कि चोर, डाकू, किसान, मजदूर, शिक्षक, दार्शनिक एव वैज्ञानिक आदि-आदि सभी के चिन्तन का विषय अलग-अलग होता है पर अधिकाश व्यक्तियो का चिन्तन भौतिक विषयों को लेकर ही चलता रहता है और इन सव विषयो पर अत्यधिक विचार करने से आत्मा का कोई लाभ नही होता।

भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए सदा चिन्तन, प्रयत्न करने से और उन्हे अधिक से अधिक पा लेने से भी आत्मा को क्या लाभ हो सकता है जवकि वह सव कुछ जड है और जड शरीर के साथ ही यहाँ छूट जाने वाला है। लाभ तो उस आध्यात्मिक चिन्तन से है जिससे कर्म नष्ट होते हैं तथा आत्मा हलकी होकर ऊँची उठती है। वह चिन्तन आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक एव तत्त्वादि के विषय मे विचार करना होता है तथा ऐसे आत्म-चिन्तन से मन निर्दोष होकर कर्मों की निर्जरा मे जुट जाता है।

चिन्तन का समय

वन्धुओ, वैसे तो चिन्तन किसी भी समय किया जा सकता है और न चाहने पर भी वक्त-वे-वक्त दिमाग चिन्तन के क्षेत्र मे उतर जाता है किन्तु आत्म-चिन्तन आत्मा के लिए शुभ कदम है। इसलिए इसे शुभ समय मे करना उचित है। प्रत्येक अच्छा कार्य अच्छे स्थान पर और अच्छे समय मे भली प्रकार से सम्पन्न किया जा सकता है और तभी वह अच्छा फल प्रदान करता है।

इस विषय मे कहा गया है—

निशाविरामे परिभावयामि,
गृहे प्रदीपे किमहम् शयामि?

श्लोक मे वताया गया है कि मनुष्य को किस समय और क्या चिन्तन करना चाहिए?

'निशाविरामे' अर्थात् रात्रि के अन्त मे जिस समय रात्रि का अन्त होता है उसे ब्राह्म मुहूर्त कहते है, क्योंकि वह समय ब्रह्म चिन्तन के लिए उपयुक्त माना जाता है। ब्रह्म का अर्थ परमात्मा होता है और आत्मा भी। तो उस समय जबकि मनुष्य का दिमाग रात्रि विश्राम के पश्चात् स्वस्थ हो जाता है और चारो ओर का वातावरण भी कोलाहल रहित यानी शान्त होता है, मनुष्य को चिन्तन करना चाहिए तथा चिन्तन करते समय यह विचार करना चाहिए कि—'मेरा मकान जल रहा है और ऐसी स्थिति मे भी मैं सो कैसे रहा हूँ ?'

कवि ने जीवन को मकान की उपमा दी है और उसमे लगी हुई कषायो की प्रबल आग की ओर व्यक्ति का ध्यान आकर्षित किया है। यानी क्रोध, मान, माया, लोभ एव राग-द्वेषादि रूप अग्नि मनुष्य के चारित्र को जला देती है और चारित्र का नष्ट होना जीवन नष्ट होना ही है।

'निशीथभाष्य' मे कहा भी है—

ज अज्जिय चरित्त देसूणाए वि पुव्यकोडीए।
तपि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेण।

देशोनकोटि पूर्व की साधना के द्वारा जो चारित्र अर्जित किया है, वह अन्तर्मुहूर्त भर के प्रज्ज्वलित कषाय से नष्ट हो जाता है।

तो बन्धुओ ! कषायो की आग वास्तव मे ही इतनी भीषण होती है कि वह अन्तर्मुहूर्त के लिए भी प्रज्वलित हो जाय तो साधको की सम्पूर्ण साधना एव महा-योगियो की वर्षो तक की हुई तपस्या के फल को सर्वथा भस्मीभूत कर देती है और इस सब के नष्ट होने का दूसरा नाम ही जीवन नष्ट होना या जीवन रूपी मकान का जल जाना है।

एक उर्दू भाषा के कवि ने भी मनुष्य को चेतावनी दी है—

"मकुनखानये जिन्दगानी खराब,
बर्सलाब सेलोबद नासवाब।"

'मकुन' यानी मत कर। सस्कृत मे इसी को 'मा कुरु' कहते हैं। दोनो भाषाओ के शब्दो मे बडा साम्य है। तो कवि ने कहा है—जिन्दगी रूपी जो खाना यानी मकान है, उसे खराब मत कर। मकान के लिए 'खाना' शब्द आप और हम भी काम मे लेते है। यथा—दवाखाना, हाथीखाना आदि-आदि। शायर ने इसीलिए लिखा है—'अपने बद कार्यों से इस जिन्दगी रूपी मकान को खराब मत करो।'

आप जिसमे रहते है, उस मकान को पानी और आग दोनो से नुकसान पहुँचता है। पुराने और जर्जर मकान तो पानी बरसने से गिरते हैं पर भीषण बाढ

आ जाये तो वडी-वडी इमारते भी गिर जाती हैं। इसी प्रकार आग लग जाने पर वडे-वडे सुन्दर मकान खण्डहर वन जाते हैं।

यह जीवन-रूपी मकान भी कपाययुक्त कुआचरण से नष्ट होता है तथा सदाचरण से सदैव अक्षत एव शुद्ध वना रहता है। जिस प्रकार मकान को आग और पानी दोनो से वचाया जाता है, उसी प्रकार चारित्र-रूपी मकान को भी दो चीजो से वचाना पडता है। प्रथम है कपाय रूपी आग। इस आग से मकान को वचाना जरूरी है पर अगर व्यक्ति यह विचार कर ले कि हम इस आग को नही लगने देगे, और केवल इतना ही विचार कर निष्क्रिय वैठा रहे तव भी काम नही चलेगा। ठीक है कि वुरे कार्य नही किये, पर अच्छे कार्य भी वह नही करेगा तो कैसे काम चलेगा? इसीलिए हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं कि धर्म ध्यान न करना भी एक प्रकार से चारित्र रूपी मकान को गिराने वाले ठण्डे पानी के समान है। कहने का साराश यही है कि जीवन रूपी सुन्दर मकान को कपाय रूपी आग और निष्क्रियता रूपी जल, इन दोनों से वचाये रखना चाहिए अर्थात् पाप कर्मों को करना छोडकर शुभ कर्मों मे प्रवृत्त भी होना चाहिए। इसीलिए ब्राह्म-मुहूर्त मे उठकर आत्म-चिन्तन एव उत्तम दिनचर्या के विपय मे सोचने का विधान हमारे धर्मग्रन्थो मे दिया गया है।

एक पन्थ दो काज

यहाँ एक वात और ध्यान मे रखने की है कि ब्राह्ममुहूर्त मे उठना केवल आत्म-हित या आध्यात्मिक दृष्टि से ही उत्तम नही है अपितु शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अत्युत्तम है।

वैद्यक शास्त्र कहते हैं—

> ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय, स्वस्थो रक्षार्थमायुप ।
> तत्र विघ्नोपशान्त्यर्थम स्मरेत् हि मधुसूदनम् ।।

प्रभात काल मे शीघ्र उठने से स्वास्थ्य ठीक रहता है तथा आयुष्य की वृद्धि होती है। आप देखते है कि जो भी स्वस्थ रहने के अभिलापी व्यक्ति होते हैं, वे निश्चय ही ब्राह्म मुहूर्त मे उठकर घूमने जाते हैं, दौड सकने वाले मीलो दौडते हैं और पहलवान तथा कसरती पुरुप आसन, व्यायाम कुश्ती अथवा दण्ड-वैठक किया करते हैं। देश की रक्षा करने वाले सिपाहियो को भी प्रात काल दौड लगानी पडती है और उनसे सुवह ही परेड भी कराई जाती है। यह सव इसीलिए कि शरीर स्वस्थ वने। साराश यही है कि स्वस्थ और नीरोग रहने के नियमो मे भी सवसे पहला नियम प्रात काल जल्दी उठना है और आत्मोन्नति के लिए आत्म-चिन्तन या ईश-प्रार्थना आदि शुभ-क्रियाओ के लिए भी ब्राह्म मुहूर्त मे उठना आवश्यक है। इस प्रकार प्रात काल जल्दी उठने से शारीरिक स्वस्थता एव आध्यात्मिक, स्वस्थता दोनो ही सम्पन्न होती हैं तथा सहज ही 'एक पन्थ दो काज' कहावत चरितार्थ हो जाती है।

हमारे यहाँ मुमुक्षु व्यक्ति के लिए कहा जाता है—

श्रावक तू उठे प्रभात, चार घड़ी से पिछली रात।
मन मे सुमरे श्री नवकार, जिससे पावे भव से पार॥

कहते हैं—हे श्रावक! अगर तुझे इस भव-सागर से पार होना है तो चार घड़ी से पिछली रात्रि मे अर्थात् डेढ़ घंटे रात बाकी रहे तब उठ कर नमोकार मन्त्र का जाप किया कर क्योंकि नमोकार मन्त्र समस्त पापो का नाश करके आत्मा को कर्म-मुक्त करने वाला है। नमोकार मन्त्र की महिमा बताते हुए कहा भी है —

सुख कारण भवियण, सुमरो नित नवकार।
जिन शासन आगम, चौदह पूर्व नो सार॥
इण मन्त्र नी महिमा, कहेता न लहे पार।
सुरतरु जिमि चिंतित, वांछित फल दातार॥

इन दो पद्यो मे मनुष्यो को उद्‌बोधन किया गया है—"भव्य पुरुषो! अगर तुम सच्चे सुख की वाछा करते हो तो नित्य नमोकार मन्त्र का स्मरण किया करो। चौदह पूर्व का सार जिसमे निहित है, उस महामहिम मन्त्र की महिमा का वर्णन नही किया जा सकता केवल यही कहा जा सकता है कि यह महामन्त्र कल्पवृक्ष के समान प्रत्येक इच्छित फल को प्रदान करने वाला है।"

तो बन्धुओ! वैद्यकशास्त्र मे भी कहा गया है कि ब्राह्म मुहूर्त मे उठकर जीवन मे आने वाली समस्त विघ्न बाधाओ को हटाने के लिए मधुसूदन यानी भगवान श्री कृष्ण का स्मरण करो और हमारे धर्म ग्रन्थ भी यही कहते है कि डेढ़ घटा रात रहते अर्थात् उसी ब्राह्म मुहूर्त मे वीतराग प्रभु का स्मरण करो, नमोकार मन्त्र का जप करो तथा आत्म-चिंतन करो।

पिछली रात्रि मे जबकि वातावरण शांतिमय रहता है तथा हमारा मन एव मस्तिष्क भी थकावट रहित होता है, उस समय चिंतन करना जीवन के लिए परम श्रेयस्कर बनता है। आप विचार करते होगे कि आखिर चिंतन से ऐसा कौनसा लाभ हासिल हो जाता है? इसका उत्तर बड़ी गहराई मे जाता है, किन्तु हम यहाँ सक्षेप मे यही कह सकते है कि हमारे अन्दर ज्ञान का असीम भडार है और बाहर है अनेकानेक महापुरुषो के अनुभवो का निचोड़। तो हम जो बाह्य ज्ञान प्राप्त करते है अथवा महामानवो के अनुभवो को पढ़ते है उन्हे अपने चिंतन मे लाकर अपने स्वय के ज्ञान द्वारा सचाई की मुहर लगाकर उन्हे अपने जीवन मे उतारने का प्रयत्न कर सकते है। दूसरे शब्दो मे, हम चिंतन के द्वारा पहले तो अपने विचारो को यथार्थता की कसौटी पर उतारते है और तभी उन्हे आचरण मे लाने का सकल्प करते है। वही सकल्प धीरे-धीरे हमारे व्यवहारो मे, कार्यो मे और जीवन के अन्य क्षेत्रो मे आता है। स्पष्ट

है कि जब तक चिंतन नही किया जाएगा, तब तक विचार सुदृढ़ नही बनेंगे और बिखरे हुए तथा उलझे हुए विचार हमारे जीवन को सम्यक् मोड नही दे पाएँगे।

यह तो हुआ एक लाभ, चिंतन के द्वारा दूसरा बडा भारी लाभ यह है कि आज के युग मे भ्रमात्मक साहित्य भी मनुष्य के मानस को उलझन मे डाल देता है और वह समझ नही पाता कि सचाई कहाँ पर है। किन्तु अगर वह ब्राह्म मुहूर्त मे गम्भीर चिन्तन करता हुआ यथार्थ को समझने का प्रयत्न करे तो उसकी आत्मा मे रहा हुआ ज्ञान उसकी सहायता करता है तथा सचाई के निकट पहुँचा कर सही मार्ग बताता है। आत्म-चिंतन बाहर से आने वाले कुविचारो के कचरे को प्रथम तो अन्दर आने नही देता और अगर वह आ ही जाये तो उसे शीघ्र निकाल फेकता है।

तीसरा लाभ चिंतन का यह है कि मनुष्य का जीवन सदाचारी एव धर्ममय तभी बनता है जबकि उसके विचार अन्तर्मानस से दृढ बनकर आचरण मे व्यवहृत होते है। चिन्तन गहरी नीव है जिसके आधार पर बना हुआ जीवन-रूपी मकान निर्दोष एव सुदृढ बनता है। परिणाम यह होता है कि फिर वह लोभ-लालच आदि बाह्य विकारो अथवा बाधाओ से विचलित नही होता। धर्मप्रिय व्यक्ति को कोई कितना भी भुलावे मे क्यो न डाले, वह डिगता नही। क्योकि उसे अपने आप पर पूर्ण विश्वास होता है और इसलिए वह बाहरी विकारो को अपने ऊपर हावी नही होने देता। ऐसा व्यक्ति कम सुनकर और कम पढकर भी सुने हुए और पढे हुए को अपने चिन्तन की कसौटी पर उतारकर यथार्थ को ग्रहण कर लेता है तथा अपने जीवन को सही मार्ग पर ले जाता है। दूसरे शब्दो मे, अधिक पढना व सुनना जीवन को लाभ नही पहुँचाता, जीवन को लाभ पहुँचाता है चिंतन के द्वारा ज्ञान के सार को ग्रहण कर लेना।

कम पढना पर चिंतन अधिक करना

एक राजा बडा ज्ञान-पिपासु था। वह जीवन और जगत के रहस्यो को समझने की तीव्र इच्छा रखने के कारण राज्य मे, आए हुए प्रत्येक विद्वान का आदर करता था तथा उनके द्वारा अपनी जिज्ञासाओ की पूर्ति करने का प्रयत्न करता था। किन्तु फिर भी उसे सतुष्टि नही हो पाई थी और इसलिए उसका मन अशात रहता था।

सयोगवश एक बार दो विद्वान उसके राज्य मे आए और उन्होने राजा के विषय मे लोगो से जान कर उससे मिलने का विचार किया।

दोनो ही विद्वान राज्य दरबार की ओर चल दिये तथा अपना परिचय लिखकर द्वारपाल के साथ राजा को भेजा। राजा ने देखा कि एक विद्वान ने बडी-बडी डिगरियाँ हासिल की है, अनेक शास्त्र-पुराण कठस्थ कर रखे है तथा कई भाषाओ पर अधिकार किया है। पर दूसरे विद्वान के परिचय-पत्र मे केवल गीता-पाठ लिखा

है। कुछ आश्चर्य होने पर भी राजा ने कुछ कहा नही और पहले विद्वान को अधिक ज्ञानवान समझकर उसे पहले अन्दर बुलवाया।

अनेक भाषाओ को जानने वाले और अनेकानेक शास्त्रो और धर्म ग्रन्थो का ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले विद्वान से राजा ने अनेक प्रश्न पूछे और अपनी जिज्ञासाओ को शान्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे उनका समाधान सही नही मिला और आत्म-सतोष प्राप्त नही हो सका। राजा ने कहा कुछ नही और विद्वान पडित को सादर विदाई दी।

अब उसके सामने दूसर पडित का परिचय-पत्र रखा था। यद्यपि राजा का मन खिन्न था और उसे लग रहा था कि इतना विद्वान व्यक्ति भी जब मुझे सतुष्ट नही कर सका अर्थात् मुझे जीवन और जगत के बारे मे नही समझा सका तो केवल गीता का पाठ करने वाला व्यक्ति मेरी समस्याओ का क्या समाधान करेगा?

फिर भी उसने आगत विद्वान को निराश करना या उसे अन्दर न बुलाकर उसका अपमान करना ठीक नही समझा इसलिए उसे भी बुलवा लिया।

विद्वान अन्दर आया। राजा ने देखा कि उसके शरीर पर मामूली वस्त्र थे पर किसी भी प्रकार के तिलक-छापे से रहित उसका चेहरा आत्म-विश्वास से चमक रहा था।

राजा ने उसे भी अपने समक्ष बैठाया और अपनी उलझनें तथा समस्याएं उसके सामने रखी। विद्वान ने उन्हे ध्यान से सुना, कुछ मिनट विचार किया और फिर शान्ति पूर्वक स्पष्ट शब्दो मे धीरे-धीरे राजा को समझाना प्रारम्भ किया।

वक्ता और श्रोता दोनो को ही समय का ध्यान नही रहा, स्थान का ध्यान नही रहा और अपने बीच के अन्तर का भी ध्यान नही रहा। बडे सहज ढग से केवल गीता-पाठ करने वाले पडित ने जीवन और जगत, लोक और परलोक तथा कर्म और मुक्ति के विषय मे सब कुछ समझाया और राजा ने उसे समझा। वह अत्यत चकित और सतुष्ट होकर पूछ बैठा—

"महात्मन्! आपने न सारे धर्म-शास्त्र पढे है और न ही कई परीक्षाएं पास करके प्रमाण पत्र प्राप्त किये हैं। केवल गीता का पाठ करके आपको इतना ज्ञान कैसे हासिल हो गया? मुझे जीवन मे पहली बार आज सतोष मिला है।"

विद्वान ने तनिक मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"राजन्! यह सही है कि मैं केवल गीता का पाठ करता हूँ, किन्तु थोडा पढकर भी उन पर चितन बहुत करता हूँ। चितन किये बिना कभी किसी विषय मे गहराई तक नही पहुँचा जाता। मैं थोडा पढता हूँ, उन पर खूब सोच-विचार करता हूँ और जब उनमे से सत्य को ढूंढ लेता

हूँ तो उसे जीवन मे उतारने का प्रयत्न करता हूँ। बस यही मेरे अल्प-ज्ञान का रहस्य है।"

राजा उस निरहकारी विद्वान की सहज सरलता और महान् विद्वत्ता से अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसे सदा के लिए अपने राज्य मे निवास करने का आग्रह करते हुए दरबार मे उच्च स्थान दिया।

बन्धुओ ! आप चिंतन के महत्व को समझ गए होंगे। वस्तुत जिस प्रकार जमीन के अन्दर से उगकर आया हुआ बीज सुदृढ वृक्ष को अस्तित्व मे लाता है, उसी प्रकार चिन्तन-मनन के द्वारा मथ कर निकाला गया सत्य अथवा यथार्थ ज्ञान जीवन को निर्दोष एव समुज्ज्वल बनाता है। इसलिए अगर आपको अपने उच्च जीवन का निर्माण करना है और अपने ज्ञान एव क्रिया का लाभ उठाना है तो आपको अन्दर से तैयार होकर बाहर आना पडेगा। बाहर से अन्दर जाने पर जीवन अव्यवस्थित हो जाएगा और आत्मा अपनी स्वाभाविकता खो बैठेगी। क्योकि बाहर का विकारमय कचरा अन्दर जाकर आत्मा के ज्ञान एव गुणो को आच्छादित कर देता है तथा उसे अपने सहज तेज को बाहर नही लाने देता। यह सब चिन्तन-मनन से होगा। आप उपदेश-श्रवण, शास्त्र-स्वाध्याय आदि जो कुछ भी करे उस पर प्रतिदिन और विशेष तौर पर प्रात काल ब्राह्म-मुहूर्त मे अधिक से अधिक चिन्तन करे तभी आप अपने जीवन को सार्थक बना सकेंगे।

७ | ब्रह्मलोक का दिव्य द्वार : ब्रह्मचर्य

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

आज आपके समक्ष ही एक धर्मपरायण दम्पति ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने का दृढ सकल्प किया है। इस प्रसग पर आज मैं शील धर्म के विषय मे ही अपने विचार प्रकट कर रहा हूँ।

शील का महत्व अवर्णनीय है। एक पश्चिमी विद्वान ने कहा है—

"जैसे एक शीशे पर पारा चढाने से वह दर्पण बन जाता है और उसके अन्दर व्यक्ति अपना चेहरा स्पष्ट रूप से देख सकता है, उसी प्रकार जिस पुरुष ने ब्रह्मचर्य के द्वारा अपनी शक्ति को सुरक्षित कर लिया है, उसके हृदय मे परमात्मा की दिव्य मूर्ति प्रकाशित होती है।"

हमारे यहाँ भी शील अथवा ब्रह्मचर्य के महत्व को बताते हुए कहा गया है—

> **समुद्रतरणे यद्वदुपायो नौ. प्रकीर्तिता।**
> **ससारतरणे तद्वत्, ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् ॥**

अर्थात् जिस प्रकार समुद्र को पार करने का उपाय जहाज है, उसी प्रकार ससार को पार करने का उपाय ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य के प्रकार

शीलधर्म अथवा ब्रह्मचर्य धर्म के दो प्रकार है—पहला एकदेशीय ब्रह्मचर्य एव दूसरा सर्वदेशीय ब्रह्मचर्य। ये दोनो ही प्रकार जीवन को सयमित करने वाले सदा आत्मा को शुद्ध बनाने वाले है। हम क्रमश इन दोनो के विषय मे विचार करेंगे।

(१) एक देशीय ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं, जिसे ग्रहण करने पर पुरुष अपनी विवाहिता पत्नी के अलावा और किसी स्त्री की ओर विकार पूर्ण दृष्टि से न देखे और न ही किसी से अनुचित सम्बन्ध स्थापित करे तथा इस व्रत को ग्रहण करने वाली स्त्री अपने पति के अलावा किसी पर-पुरुष से सम्बन्ध न रखे।

इस व्रत के विषय मे बात करते समय अनेक व्यक्ति उपहासपूर्वक कहते हैं कि जब पति-पत्नी आपस मे सम्बन्ध रखते ही हैं तो फिर क्या ब्रह्मचर्य का पालन हुआ और उससे क्या लाभ होने की सम्भावना होती है ?

किन्तु ऐसा कहने और विचार करने वाले व्यक्ति बडी भूल करते है। पति अगर अपनी पत्नी के अलावा अन्य किसी भी स्त्री की ओर कुदृष्टि से न देखे तथा पत्नी अपने पति के सिवाय किसी भी अन्य पुरुष का विचार मन मे न लाये तो वे धर्मपरायण और दृढ आत्मशक्ति के धनी बनते है। सती सुभद्रा ने पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण नही किया था, किन्तु एकदेशीय ब्रह्मचर्य का पालन दृढता से करती थी। उसका भी परिणाम यह हुआ कि उसने कुएँ से चालनी मे पानी निकाल लिया तथा देवताओ के द्वारा बन्द किये हुए नगर के दरवाजो को खोल डाला। सेठ सुदर्शन ने भी एकदेशीय ब्रह्मचर्य का पालन किया था और उसके बल पर ही सूली को सिहासन के रूप मे परिवर्तित कर दिया। एकदेशीय ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली महान् आत्माओ की कथाएँ इतिहास मे अनेको मिलती हैं।

महाभारत मे आपने धृतराष्ट्र की पत्नी सती गाधारी के विषय मे पढा होगा। गाधारी भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने वाली स्त्री नही थी। उसके सौ पुत्र थे, किन्तु वह पतिव्रता थी और अपने पति के अन्धे होने के कारण स्वय भी सदा आँखो पर पट्टी बाँधे रहती थी। पातिव्रत्य धर्म के फलस्वरूप उसकी दृष्टि मे इतनी शक्ति आ गई थी कि अगर वह किसी मनुष्य के शरीर पर मात्र दृष्टिपात ही कर देती तो उसका शरीर वज्र का हो सकता था।

जब उसका पुत्र दुर्योधन पाण्डवो से लड रहा था उस समय किसी भी प्रकार से युद्ध मे विजय प्राप्त न कर सकने पर और मृत्यु की आशका होने पर दुर्योधन ने अपनी माता से अपने शरीर को वज्रमय बनाने की प्रार्थना की। प्रत्येक माता अपने पुत्र का हित चाहती है, गाधारी भी यही चाहती थी कि उसका पुत्र मृत्यु को प्राप्त न हो और वह युद्ध मे विजयी बने। अत उसने दुर्योधन से कहा—"बेटा! तुम अपने शरीर पर से वस्त्र अलग करके मेरे सामने आ जाना, मैं उस पर अपनी दृष्टि डाल कर उसे वज्र के सदृश बना दूँगी।"

दुर्योधन प्रसन्नता से फूला नही समाया और एक समय निश्चित करके नग्न होकर अपनी माता के समक्ष आने लगा। किन्तु अन्तर्यामी श्रीकृष्ण उसके गुरु निकले और ऐन वक्त पर आकर दुर्योधन से बोले—

"अरे भाई! यह क्या करते हो? गाधारी तुम्हारी माता हैं तो क्या हुआ, तुम अब शिशु तो नही हो। इतने बडे होकर उनके सामने सर्वथा नग्न जाओगे? लज्जा नहीं आएगी क्या तुम्हे? कम से कम एक लगोट तो शरीर पर रखो।"

और कृष्ण की यह बात सुनकर सचमुच ही दुर्योधन लज्जित हुआ और एक लगोट शरीर पर रखकर माता के सामने उपस्थित हो गया। पुत्र को आया जानकर गाधारी ने कुछ क्षणो के लिये अपने नेत्रो पर से पट्टी हटाई और उस पर दृष्टिपात किया। दुर्योधन का सम्पूर्ण शरीर व्रज्र के सदृश दृढ हो गया किन्तु लगोट रहने से शरीर का वह हिस्सा पूर्ववत् कमजोर बना रहा और युद्ध मे वही शस्त्र लगने से वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।

वधुओ! इस घटना के द्वारा मैं आपको सती गाधारी की शक्ति के विषय मे बता रहा था कि एक काँटा चुभने से भी जिस शरीर मे खून निकलने लगता है, वह वज्र के सदृश बन जाय, ऐसी ताकत गाधारी की दृष्टि मे कैसे आ गई? गाधारी ने साधुपना नही लिया था और न ही पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत अगीकार किया था। वह गृहस्थ थी और एकदेशीय ब्रह्मचर्य का पालन करती थी। अपने पति के अलावा न वह किसी अन्य पुरुष का विचार मन मे लाती थी और न ही किसी पर दृष्टिपात ही करती थी। केवल एकदेशीय ब्रह्मचर्य का पालन करके ही उसने शरीर को वज्र के समान दृढ कर देने की महान् शक्ति हासिल करली थी।

आप विचार कर सकते है कि जब एकदेशीय ब्रह्मचर्य मे भी इतनी शक्ति है तो फिर सर्वदेशीय अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचर्य मे तो कितनी शक्ति होगी? यही कारण है कि साधुपुरुष पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

श्री दशवैकालिक सूत्र मे एक गाथा दी गई है —

मूलमेयमहम्मस्स, महादोस समुस्सय।
तम्हा मेहुणससग्ग, निग्गथा वज्जयति ण॥

—अध्ययन ६ गा० १७

अर्थात् मैथुन-सेवन अधर्म का मूल है और महान् दोषो को बढाने वाला है, इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि उसका त्याग करते हैं।

ब्रह्मचर्य-पालन असाध्य नहीं है

दु ख की बात है कि आर्य सस्कृति मे ब्रह्मचर्य पर अत्यधिक जोर देने पर भी आज लोग इस ओर पर्याप्त ध्यान नही देते और कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन करना असाध्य कार्य है। ऐसा कहने वाले बडे भ्रम मे होते हैं। वे भूल जाते है कि हमारे देश मे आजन्म ब्रह्मचारी महात्मा भीष्म ने जन्म लिया था, जिनका गौरव आज भी बना हुआ है, इसी प्रकार अनेकानेक बाल ब्रह्मचारी अपने उच्च एव दिव्य जीवन को सम्पूर्ण कर गये हैं। विजयकुमार और विजयाकुमारी तो एक पर्यंक पर रहकर भी अपने मन को डावाडोल नही होने देते थे। केवली भगवान ने जब अपने ज्ञान से यह जाहिर किया तभी लोगो को उनके महान् त्याग और सयम के विषय मे ज्ञात हुआ। अधिक क्या कहे? आज भी अनेक बालब्रह्मचारी सत-महापुरुष अपने जीवन को उच्च साधना मे लगाकर जीवन को सफल बनाने के प्रयत्न मे लगे हुए हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि ब्रह्मचर्य का पालन करना कोई मन कल्पना नही है। महान् आत्माएँ पहले भी ऐसा करती थी, और आज भी करती हैं। ब्रह्मचर्य को असाध्य मानना आत्मा की पवित्र एव दृढ शक्ति का अपमान करना है। जो अज्ञानी व्यक्ति आत्मिक शक्तियो से अनभिज्ञ रहते है वे ही ब्रह्मचर्य की अशक्यता एव प्रवल विकार विजय की शक्यता को स्वीकार करते हैं। आत्मिक रूप से ऐसे अत्यत दुर्वल व्यक्ति ही ब्रह्मचर्य जैसे पवित्र एव महिमामय व्रत को धारण करने मे हिचकिचाते है। उन्हे चाहिये कि वे प्राचीन काल के महापुरुषो के पावन जीवन-चरित्र पर ध्यान दे, उन्हे पढे और उन पर चिन्तन-मनन करते हुए अपने आत्मिक वल को वढाएँ। ऐसा करने पर ब्रह्मचर्य का पालन करना कभी असाध्य नही रह सकेगा। जो व्यक्ति अपने जीवन को निर्दोष वनाने का सतत प्रयत्न करता है तथा दृढ सकल्प करके उसमे जुट जाता है, निस्सदेह उसका जीवन उच्च एव पवित्र वनता है और इसके विपरीत जो अपने आचरण को पवित्र वनाने का प्रयत्न नही करता तथा निकृष्ट भावनाओ को हृदय मे स्थान देता है वह पूर्णतया निकृष्ट व्यक्ति वन जाता है। इसलिए मनुष्य को सदा अपनी भावना-शुद्धि का ध्यान रखना चाहिये तथा उसके लिए निरतर प्रयत्न करना चाहिये। अगर मानस मे अपवित्र भावनाओ का जन्म हो भी जाय तो अविलम्ब अपनी दुर्वलता को धिक्कारते हुए उन्हे नष्ट करने का प्रयास करना चाहिये।

भावनाओ की चमत्कारिक शक्ति के विषय मे कवि सुन्दरदास जी ने वडे सुन्दर ढग से अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है —

> याहि को तो भाव याको शक उपजावत है,
> याहि को तो भाव याको निसक करत है।
> याहि को तो भाव याको भूत प्रेत होय लागे,
> याहि को तो भाव याकी सुमति हरत है॥
> याहि को तो भाव याको चचल वनाये देत,
> याहि को तो भाव याही थिर को धरत है।
> याहि को तो भाव याको धार मे वहाय देत,
> याहि को सुन्दर भाव याहि ले तरत है॥

कवि ने सीधी-साधी सरल भाषा मे भावो की महान शक्ति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा है कि भावनाएँ ही व्यक्ति के हृदय मे नाना शकाओ को जन्म देती है तथा दृढ भावनाएँ उसे नि शक वनाती है। भावनाएँ ही मनुष्य से भूत-प्रेत बनकर चिपटती हैं तथा उसकी मति को भ्रमित कर देती है। हम प्राय कहते भी है कि अमुक व्यक्ति को भय का भूत सताता है। इसी प्रकार भावनाएँ मनुष्य के मन को चचल भी वना देती है और दृढता भी प्रदान करती है। अधिक क्या कहा जाय? कवि का कथन है

कि भाव ही मनुष्य की आत्मा को ससार-सागर मे बहा देते हैं और भाव ही उसे पार उतारते हैं।

भावनाओ के अनुसार गति

एक लोककथा के अनुसार कहा जाता है कि एक सन्यासी शहर से बाहर किसी मदिर के समीप अपनी झोपडी बनाकर उसमे रहते थे और उनकी झोपडी से कुछ ही दूरी पर एक मकान था जिसमे एक वेश्या रहती थी।

वेश्या के मकान पर दिन-रात मे अनेको व्यक्ति आया-जाया करते थे। यह देखकर सन्यासी को बडा दु ख होता था अत एक दिन उन्होंने वेश्या को बुलाकर कहा—"अभागी स्त्री ! क्यो पापो का घडा भरे जा रही है ? क्या तू इन पापो से पीछा छुडाना नही चाहती ?

वेश्या सन्यासी की बात सुनकर अत्यन्त दुखी होती हुई बोली—"महाराज ! मैं तो हर समय भगवान से प्रार्थना करती रहती हूँ कि मुझे इस नारकीय जीवन से निकालो। किन्तु मैं करूँ क्या ? पेट भरने के लिये मेरे पास अन्य कोई उपाय जो नही है।"

सन्यासी वेश्या की बात का कोई उत्तर नही दे सके और वेश्या पुन अपने घर लौटकर उसी प्रकार का जीवन बिताने लगी। तब सन्यासी ने उसे समझाने का एक अन्य उपाय खोजा। वे अपनी कुटिया के बाहर बैठे रहते और उस वेश्या के यहाँ पर रोज जितने व्यक्ति आते उतने ही ककर एक स्थान पर इकट्ठे कर देते। धीरे-धीरे वहाँ पर ककरो का एक बडा भारी ढेर बन गया।

एक दिन पुन सन्यासी जी ने उस वेश्या को बुलाया और उसे धिक्कारते हुए कहा—पापिनी ! यह देख अपने पापो का ढेर ! अब तो तुझे नरक मे भी जगह नही मिलेगी।"

ककरो का वह ढेर देखकर वेश्या को इतना गहरा आघात लगा कि मारे दु ख के और पश्चात्ताप के वह फूट-फूटकर रो पडी। रोते-रोते उसने अन्त करण से भगवान को पुकारा और अपने पापो से छुटकारा दिलाने की प्रार्थना की। इसी बीच उसके हृदय की गति बन्द हो गई और वह इस लोक को छोडकर चल दी। सयोग कुछ ऐसा बना कि वेश्या के मरने के बाद ही वह सन्यासी भी मृत्यु को प्राप्त हुआ।

दोनो साथ ही भगवान के समक्ष उपस्थित किये गये। भगवान ने उन दोनो के जीवन पर विचार किया और तत्पश्चात् वेश्या को स्वर्ग मे पहुँचाने का तथा सन्यासी को नरक मे भेज देने का आदेश अपने कर्मचारियो को दिया।

भगवान का यह निर्णय सुनते ही सन्यासी घोर आश्चर्य मे अभिभूत सा रह गया तथा क्रोधित होकर बोल उठा—"भगवान के राज्य मे भी ऐसा अधेर ? प्रभो !

कहने का अभिप्राय यही है कि ब्रह्मचर्य का पालन करना कोई मन कल्पना नही है। महान् आत्माएँ पहले भी ऐसा करती थी, और आज भी करती हैं। ब्रह्मचर्य को असाध्य मानना आत्मा की पवित्र एव दृढ शक्ति का अपमान करना है। जो अज्ञानी व्यक्ति आत्मिक शक्तियो से अनभिज्ञ रहते है वे ही ब्रह्मचर्य की अशक्यता एव प्रबल विकार विजय की शक्यता को स्वीकार करते है। आत्मिक रूप से ऐसे अत्यत दुर्बल व्यक्ति ही ब्रह्मचर्य जैसे पवित्र एव महिमामय व्रत को धारण करने मे हिचकिचाते है। उन्हे चाहिये कि वे प्राचीन काल के महापुरुषो के पावन जीवन-चरित्र पर ध्यान दे, उन्हे पढें और उन पर चिन्तन-मनन करते हुए अपने आत्मिक बल को बढाएँ। ऐसा करने पर ब्रह्मचर्य का पालन करना कभी असाध्य नही रह सकेगा। जो व्यक्ति अपने जीवन को निर्दोष बनाने का सतत प्रयत्न करता है तथा दृढ सकल्प करके उसमे जुट जाता है, निस्सदेह उसका जीवन उच्च एव पवित्र बनता है और इसके विपरीत जो अपने आचरण को पवित्र बनाने का प्रयत्न नही करता तथा निकृष्ट भावनाओ को हृदय मे स्थान देता है वह पूर्णतया निकृष्ट व्यक्ति बन जाता है। इसलिए मनुष्य को सदा अपनी भावना-शुद्धि का ध्यान रखना चाहिये तथा उसके लिए निरतर प्रयत्न करना चाहिये। अगर मानस मे अपवित्र भावनाओ का जन्म हो भी जाय तो अविलम्ब अपनी दुर्बलता को धिक्कारते हुए उन्हे नष्ट करने का प्रयास करना चाहिये।

भावनाओ की चमत्कारिक शक्ति के विषय मे कवि सुन्दरदास जी ने बडे सुन्दर ढग से अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है —

> याहि को तो भाव याको शंक उपजावत है,
> याहि को तो भाव याको निसक करत है।
> याहि को तो भाव याको भूत प्रेत होय लागे,
> याहि को तो भाव याकी सुमति हरत है।।
> याहि को तो भाव याको चचल बनाये देत,
> याहि को तो भाव याही थिर को धरत है।
> याहि को तो भाव याको धार मे बहाय देत,
> याहि को सुन्दर भाव याहि ले तरत है।।

कवि ने सीधी-साधी सरल भाषा मे भावो की महान शक्ति का दिग्दर्शन करात हुए कहा है कि भावनाएँ ही व्यक्ति के हृदय मे नाना शकाओ को जन्म देती हैं तथा दृढ भावनाएँ उसे नि शक बनाती है। भावनाएँ ही मनुष्य से भूत-प्रेत बनकर चिपटती है तथा उनकी मति को भ्रमित कर देती है। हम प्राय कहते भी हैं कि अमुक व्यक्ति को भय का भूत सताता है। इसी प्रकार भावनाएँ मनुष्य के मन को चचल भी बना देती है और दृढता भी प्रदान करती हैं। अधिक क्या कहा जाय ? कवि का कथन है

कि भाव ही मनुष्य की आत्मा को ससार-सागर मे वहा देते हैं और भाव ही उसे पार उतारते हैं ।

भावनाओ के अनुसार गति

एक लोककथा के अनुसार कहा जाता है कि एक सन्यासी शहर से बाहर किसी मदिर के समीप अपनी झोपडी बनाकर उसमे रहते थे और उनकी झोपडी मे कुछ ही दूरी पर एक मकान था जिसमे एक वेश्या रहती थी ।

वेश्या के मकान पर दिन-रात में अनेको व्यक्ति आया-जाया करते थे । यह देखकर सन्यासी को वडा दु ख होता था अत एक दिन उन्होंने वेश्या को बुलाकर कहा—"अभागी स्त्री ! क्यो पापो का घडा भरे जा रही है ? क्या तू इन पापो से पीछा छुडाना नही चाहती ?

वेश्या सन्यासी की बात सुनकर अत्यन्त दुखी होती हुई वोली—"महाराज ! मैं तो हर समय भगवान से प्रार्थना करती रहती हूँ कि मुझे इस नारकीय जीवन से निकालो । किन्तु मैं करूँ क्या ? पेट भरने के लिये मेरे पास अन्य कोई उपाय जो नही है ।"

सन्यासी वेश्या की बात का कोई उत्तर नही दे सके और वेश्या पुन अपने घर लौटकर उसी प्रकार का जीवन विताने लगी । तव सन्यासी ने उसे समझाने का एक अन्य उपाय खोजा । वे अपनी कुटिया के वाहर बैठे रहते और उस वेश्या के यहाँ पर रोज जितने व्यक्ति आते उतने ही ककर एक स्थान पर इकट्ठे कर देते । धीरे-धीरे वहाँ पर ककरो का एक वडा भारी ढेर बन गया ।

एक दिन पुन सन्यासी जी ने उस वेश्या को बुलाया और उसे धिक्कारते हुए कहा—पापिनी ! यह देख अपने पापो का ढेर ! अव तो तुझे नरक मे भी जगह नही मिलेगी ।"

ककरो का वह ढेर देखकर वेश्या को इतना गहरा आघात लगा कि मारे दु ख के और पश्चात्ताप के वह फूट-फूटकर रो पडी । रोते-रोते उसने अन्त करण से भगवान को पुकारा और अपने पापो से छुटकारा दिलाने की प्रार्थना की । इसी वीच उसके हृदय की गति वन्द हो गई और वह इस लोक को छोडकर चल दी । सयोग कुछ ऐसा वना कि वेश्या के मरने के वाद ही वह सन्यासी भी मृत्यु को प्राप्त हुआ ।

दोनो साथ ही भगवान के समक्ष उपस्थित किये गये । भगवान ने उन दोनो के जीवन पर विचार किया और तत्पश्चात् वेश्या को स्वर्ग मे पहुँचाने का तथा सन्यासी को नरक में भेज देने का आदेश अपने कर्मचारियो को दिया ।

भगवान का यह निर्णय सुनते ही सन्यासी घोर आश्चर्य से अभिभूत सा रह गया तथा क्रोधित होकर बोल उठा—"भगवान के राज्य मे भी ऐसा अधेर ? प्रभो !

यह तो आपका घोर अन्याय है कि पापी वेश्या को तो स्वर्ग मे भेजा जा रहा है और मुझ सन्यासी को नरक मे।"

भगवान ने जब सन्यासी की बात सुनी तो शातिपूर्वक कहा—"सन्यासी ! मैं जानता हूँ कि तुम साधु थे और यह वेश्या। तुमने अपने शरीर को पवित्र रखा और वेश्या ने अपवित्र बनाया। इसलिये देखो ! तुम्हारे शरीर को तुम्हारे भक्त बडे सम्मान से और फूलो के द्वारा सजाकर अत्येष्टि क्रिया करने ले जा रहे है तथा वेश्या के शरीर पर लोगो ने थूका है और उसे नफरत के साथ कौओ और कुत्तो के खाने के लिय फेंक दिया है।

किन्तु भावनाओ का और मन का जहाँ सवाल है, वहाँ वेश्या हर समय अपने कुकृत्यो के लिये पश्चात्ताप करती रही तथा सर्वान्त करण से हमसे प्रार्थना करती हुई अपने पापो के लिये क्षमा माँगती रही और तुम केवल उसके पापो को देखते हुए उनकी गणना करते रहे। इस प्रकार वेश्या का मन हमारी प्रार्थना मे और तुम्हारा मन पापो मे लगा रहा। भगवान के भक्त का कार्य औरो के दोष देखना नही है अपितु अपने दोषो को खोजना होता है।

इस प्रकार मन के भावो मे महान् अन्तर होने के कारण ही तुम नरक मे भेजे जा रहे हो और वेश्या स्वर्ग की ओर जा रही है।" भगवान की बात सुनकर सन्यासी निरुत्तर रह गया।

तो बधुओ ! आप समझ गये होंगे कि भावो की उच्चता या पवित्रता किस प्रकार आत्मा को ऊँचा उठाती है और उसकी निकृष्टता कैसे उसे निम्न गति की ओर ले जाती है। जिस मनुष्य की भावनाओ मे दृढता होती है वह प्रत्येक स्थिति मे अपने मन पर सयम रख सकता है और उसके लिये ब्रह्मचर्य का पालन करना भी कदापि असाध्य नही हो सकता।

यह सही है कि मन चचल होता है और वह सहज ही मे ठिकाने नही रह सकता, किन्तु प्रयत्न करके उसे भी सयमित रखा जाता है। जो व्यक्ति मन पर काबू रखने का सकल्प कर लेते हैं वे प्रतिपल उसे समझाने का प्रयास करते है। कहते हैं—

"चल मना ! शोध कर झटभट, अवधी लटपट रे—

या लटपट रे।"

मन से कहा गया है—'अरे मन ! तू ठिकाने रह, अपना स्थान छोडकर इधर-उधर मत भटक, तभी हम कुछ कर सकेंगे।'

सत तुकाराम जी उसे धिक्कारते हुए सबोधित करते हैं—

"फजितखोरा मना, किती तुज सागो,
नन्दो कोणा लागो, मागे मागे।"

सत का कहना है—"हे मन! तू ही मनुष्य की फजीहत कराने वाला है अत अच्छा यही है कि तू किसी के पीछे मत लग और हमे अपने उच्च लक्ष्य की पूर्ति करने दे।"

वस्तुत हम देखते है कि अगर गलत कार्य हो जाने पर किसी मनुष्य की फजीहत हो जाती है तो वह लज्जित होकर पुन उस कार्य को नही करता, किन्तु मन तो इतना चपल होता है कि उसकी जन्म-जन्म मे फजीहत होने पर भी वह पुन पुन उसी ओर अग्रसर होता है।

आगे और भी कहा गया है —

"निन्दा स्तुति कोणी करो दया माया,
न धरी चाड या सुख दु:खें।"

मन को सयमित रखने के लिए कहते हैं—अगर कोई तुम्हारी स्तुति करता है तो उसे सुनकर गर्व मत करो और निन्दा करने पर घबराओ मत, इसी प्रकार कोई तुम पर दया करे और तुम्हारी सहायता करे तो सुख मत मानो और किसी के द्वारा छले जाने पर दु ख का अनुभव मत करो।

आप सोचेंगे इन बातो से ब्रह्मचर्य का क्या सम्बन्ध है? पर ऐसी बात नही है। जो व्यक्ति मन के छोटे-छोटे विकारो पर काबू पाना सीख लेता है वही ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। क्योकि काम-विकार मनुष्य के लिए ससार के समस्त आकर्षणो मे से उग्र आकर्षण है। यह प्रलोभन इतना प्रबल होता है कि भले ही मानव अन्य प्रलोभनो पर विजय प्राप्त करले किन्तु काम के प्रलोभन में वह फँस ही जाता है।

श्री भर्तृहरि ने इसीलिए कहा है—

भिक्षाशन तदपि नीरसमेकवार,
शय्या च भूः परिजनो निज देह मात्रम्।
वस्त्र च जीर्ण शतखण्डमयी च कंथा,
हा हा! तथापि विषयान्न परित्यजन्ति॥

भावार्थ यही है कि व्यक्ति भीख माँगकर रूखा-सूखा और वह भी एक बार खाकर रह सकता है यानी वह अपनी रसनेन्द्रिय पर काबू पा लेता है। ऊबड-खाबड जमीन पर सोकर शरीर-सुख को त्याग सकता है। ससार मे अपना कहलाने वाला कोई भी न होने पर भी सन्तुष्ट रहता हुआ मोह-ममता को छोड सकता है। कीमती वस्त्राभूषणो के अभाव मे फटा-पुराना वस्त्र पहनकर तया सैकडो चिथडो से बनी हुई

कथडी ओढकर सम्पूर्ण प्रकार के परिग्रह को छोड सकता है और फिर भी पूर्ण सन्तुष्ट और प्रसन्न रह सकता है, किन्तु वही व्यक्ति मन पर इन समस्त प्रकार के प्रलोभनो से विजय पाता हुआ भी काम-विकार का त्याग नही कर सकता।

ऐसा होता है यह विकार। इसीलिए धीरे-धीरे अन्य समस्त विकारो से मन को हटाते हुए व्यक्ति को विषय-भोगो से भी मन को परे करना चाहिए। तभी वह मन को पूर्ण रूप से सयमी बनाकर शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ अपनी आत्मा को सद्गति की ओर ले जा सकेगा।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है —

देव दाणव गन्धव्वा, जक्खरक्खस किन्नरा।
बभयारिं नमसंति, दुक्कर जे करति त ॥

—अध्ययन १६ गा० १६

स्वय भगवान महावीर ने फरमाया है कि दुष्कर व्रत ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले महान पुरुष के चरणो मे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस एव किन्नर देवता भी अपने मस्तक झुकाते है।

भगवान ने यह भी स्पष्ट कहा है—

तवेसु वा उत्तम बभचेर।

अर्थात् ब्रह्मचर्य सभी प्रकार की तपस्याओ मे उत्तम तपस्या है। भले ही व्यक्ति साधु न बन सके, पूजा-पाठ, जप-तप और अन्य धार्मिक क्रियाएँ न कर सके, किन्तु अगर वह सर्वदेशीय छोडकर एकदेशीय ब्रह्मचर्य का भी पालन करता है तो अपने मानव जीवन का लाभ हासिल कर लेता है।

स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य मानव की आत्मिक, मानसिक एव नैतिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक व्रत है। इसीलिए प्रत्येक धर्म के अनुयायी और प्रत्येक देश के निवासी मुक्त कण्ठ से इसकी प्रशसा करते है।

बुद्ध धर्म के 'धम्म पद' नामक ग्रन्थ मे कहा गया है—

अचरित्वा ब्रह्मचर्य, अलद्धा योव्वने धनम्।
सेन्ति चापा तिखीणा व, पुराणानि अनुत्थुनम् ॥

—धम्मपद, ११—११

अर्थात् जिन्होने ब्रह्मचर्य का पालन नही किया और जिन्होंने जवानी मे धन का उपार्जन नही किया, ऐसे दोनो प्रकार के व्यक्ति टूटे हुए धनुषो के समान पडे रहते है और अपने पहले के समय को याद किया करते है।

इसलिए जो भव्य प्राणी अपनी आत्मा के कल्याण का अभिलाषी है, उसे ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करना चाहिए क्योकि ब्रह्मचर्य ही मगलमय मार्ग या मुक्ति का दिव्य द्वार है।

८ | आगलो अगन होवे, आप होजे पाणी

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ, एव बहनो !

आपको ध्यान होगा कि कुछ दिन पहले हम प्रवचनो मे सवर तत्व के भेदो को क्रमश ले रहे थे, किन्तु इस बीच पर्यूषण महापर्व के आगमन से उन्हें बीच मे ही छोड देना पडा। अब आज से पुन सवर के भेदो पर विवेचन किया जायेगा। सवर के सत्तावन भेद हैं, जिनमे आने वाले बाईस परिषहो मे से ग्यारह परिषहो को पूर्व मे ले लिया गया है अत आज बारहवाँ आक्रोश परिषह आपके समक्ष आएगा।

इस विषय मे श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—

> अक्कोसेज्ज परो भिक्खु, ण तेसिं पडिसजले।
> सरिसो होइ बालाण, तम्हा भिक्खू ण सजले ॥
>
> —अध्ययन २, गा०, २४

इस गाथा मे भगवान ने कहा है—साधु को भले ही कोई गाली दे, तिरस्कृत करे अथवा किसी भी प्रकार से अपमान करे तो भी साधु उस पर क्रोध न करे। क्रोध करने से वह स्वय अज्ञानी के समान हो जाता है।'

आत्मा का शत्रु

क्रोध आत्मा का सबसे बडा शत्रु होता है। वैसे तो कषाय-चतुष्क अर्थात् क्रोध, मान, मान, माया एव लोभ ये चारो ही आत्मा के प्रबल वैरी हैं, जो आत्मा के समस्त गुणो का हनन करके उसे ससार-परिभ्रमण कराते रहते हैं।

कषाय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'कष' यानी ससार और 'आय' यानी लाभ। जिससे ससार परिभ्रमण का लाभ होता है उसे कषाय कहते हैं। कषाय चार प्रकार के हैं और उनमे सबसे प्रमुख है क्रोध।

क्रोध के वेग मे मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और वह हिताहित के ज्ञान से शून्य हो जाता है। क्रोधी व्यक्ति कभी यह नही सोच पाता कि उसके लिए करणीय क्या है और अकरणीय क्या। जब इस भयकर शत्रु का अन्त करण मे आगमन होता है तो वह अपने प्रिय से प्रिय आत्मीय सम्बन्धियो का भी लिहाज नही

करता क्योकि उसके हृदय मे प्रवाहित होने वाला प्रेम का पावन स्रोत सूख जाता है। पुत्र पिता का, भाई भाई का, गुरु शिष्य का एव मित्र मित्र का शत्रु बन जाता है। बहुत समय से चला आने वाला सहज और स्वाभाविक प्रेम भी घोर द्वेष म परिणत हो जाता है। परिणाम यह होता है कि क्रोधी व्यक्ति अपने जीवन काल मे भी निन्दा का पात्र बना रहता है और मृत्यु के पश्चात् भी लोगो के द्वारा नफरत पूर्वक स्मरण किया जाता है।

यमराज ने लौटा दिया तो ?

एक राजा अत्यन्त क्रूर और क्रोधी था। जरा-जरा से अपराध पर वह अपने राज्य के निवासियो को कठोर से कठोर दण्ड दिया करता था और कभी-कभी तो निरपराध व्यक्तियो पर भी अपना क्रोध उतारा करता था। उसके राज्य का प्रत्येक व्यक्ति राजा के डर से कांपा करता था और प्रयत्न करता था कि कभी वह राजा की दृष्टि के सामने न पड जाय।

अन्त मे समय आने पर राजा की मृत्यु हुई और उसका पुत्र राजा बना। बडे धूमधाम से नये राजा की सवारी शहर के प्रत्येक मार्ग से गुजरी और फिर राजमहल के द्वार पर आई। महल का द्वारपाल अत्यन्त चतुर एव दूरदर्शी था। उसने विचार किया कि कही नया राजा भी अपने पिता के समान क्रोधी और अन्यायी न बन जाय इसलिए राज्य-सिंहासन पर बैठने से पहले उसे कुछ सीख देनी चाहिए।

अपनी योजना के अनुसार राजा के हाथी से उतरकर राजमहल की ओर बढते ही वह फूट-फूटकर रोने लगा। राजा अभी नवयुवक ही था और सत्ता के गर्व से परिचित नहीं था अत वह द्वारपाल को रोते देखकर नरमी से बोला—

"क्यो द्वारपाल ! मेरे क्रोधी पिता के मरने पर और मेरे राजा बन जाने पर तो राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को प्रसन्नता हो रही है। किन्तु तुम फूट-फूटकर रो रहे हो। क्या तुम्हे मेरे राजा बनने की खुशी नही है ?"

द्वारपाल यह सुनते ही तुरन्त राजा के चरण छूकर हाथ जोडते हुए बोला— "नही मेरे हुजूर ! आपके राजा बनने की तो मुझे असीम खुशी है पर मुझे याद आ रहा है कि आपके पिता बडे महाराज जब भी महल मे पधारते थे, तभी मुझे बिना वजह दो-चार चाबुक लगा दिया करते थे।"

राजा यह सुनकर हँस पडा और कहने लगा—"मेरे भाई ! वह समय तो गया, मेरे अन्यायी पिता अब जीवित नही हैं, फिर तुम क्यो रोते हो ?"

"आप ठीक कह रहे हैं महाराज ! पर मैं यह सोच रहा हूँ कि आपके पिता को यमराज उनके अन्यायो की सजा दे रहे होंगे तो उन्हे महाराज किस प्रकार सहन करते होंगे ?"

द्वारपाल की यह् वात सुनकर राजा के समीप खडा हुआ एक उच्च पदाधिकारी वोल उठा—"अरे, अपने महाराज तो गुस्से मे आकर यमराज को भी पीट देते होंगे ।"

"वस, यही तो मेरे दु ख का कारण है कि महाराज क्रोधित होकर जैसा अन्यायपूर्ण व्यवहार यहाँ करते थे, वैसा ही वहाँ यमराज के साथ भी करते होंगे तो वह हैरान होकर पुन उन्हे यहाँ न धकेल दें और फिर राजा यहाँ आकर हमे सताने न लग जायें ।"

द्वारपाल के द्वारा कही हुई यह वात सुनकर एक वुद्धिमान व्यक्ति उसकी वातो का मर्म समझ गया और वोला—"तुम सच कहते हो द्वारपाल ! क्रोधी व्यक्ति जव तक जीवित रहता है, तब तक उसके कारण लोग भयभीत रहते हैं और उसके मर जाने पर भी लोग डरते रहते हैं तथा घृणापूर्वक उसे याद करते हैं । किन्तु तुम घवराओ मत, मरने वाला व्यक्ति पुन उसी रूप मे वापिस नही आता और हमारे नये महाराज ! अत्यन्त कोमल दिल के हैं । इन्हे क्रोध तो छू भी नही गया है अत निश्चित होकर राज्य की सेवा करो ।"

नवीन राजा यह वार्तालाप सुन रहा था, उसने मन ही मन दृढ निश्चय कर लिया कि मैं कभी भी बिना वजह क्रोधित होकर अपनी प्रजा पर अन्याय नही करूँगा और किसी भी निरपराध को सताऊँगा नही । द्वारपाल का यही मकसद था जो पूरा हो गया ।

वन्धुओ ! इस लघुकथा से आप समझ गये होगे कि क्रोध का परिणाम कितना बुरा होता है । ऐसा व्यक्ति अपने जीवन मे भी किसी का प्रिय नही बनता और मरने पर भी कभी सुगति को प्राप्त नही कर पाता ।

वस्तुत क्रोध अनर्थ का मूल है और मन तथा आत्मा को मलीन बनाता हुआ ज्ञान रूपी नेत्रो को वन्द करने वाला है । किसी पाश्चात्य विद्वान ने कहा भी है—

"An angryman shuts his eyes and opens his mouth"

क्रोधी व्यक्ति अपनी आँखें वन्द कर लेता है किन्तु मुँह खोल देता है ।

एक वात और यहाँ ध्यान मे रखने की है कि अन्य तीनो कषाय यानी मान, माया एव लोभ तो करने वाले पर और अन्य व्यक्तियो पर धीरे-धीरे प्रभाव डालते हैं किन्तु क्रोध ऐसा ज्वलन्त कषाय या तीव्र अग्नि है जो हृदय मे प्रज्वलित होने पर औरो को तो जलाये या न भी जलाये, पर स्वय को तो तुरन्त ही जला देती है ।

सस्कृत का एक श्लोक यही वात कहता है—

उत्पद्यमान प्रथम दहत्येव स्वमाश्रयम् ।
क्रोध कृशानुवत्पश्चादन्य दहति वा नवा ।।

इस प्रकार क्रोधी व्यक्ति औरो का अहित तो करता ही है किन्तु उससे पहले स्वय अपना ही अहित कर लेता है, इसलिए क्रोध का सर्वथा त्याग करना चाहिए। यहाँ तक कि अपनी आत्मा का हित चाहने वाले व्यक्ति को तो किसी क्रोधी व्यक्ति के द्वारा क्रोध मे गालियाँ देने, अपमान करने और अन्य किसी भी प्रकार के कटु वचन कहने पर भी अपने हृदय मे क्रोध को उत्पन्न नही होने देना चाहिए।

भगवान महावीर ने इसीलिए साधु को आदेश दिया है कि भले ही कोई व्यक्ति उसे गालियाँ दे, तिरस्कृत करे या अपमानित करे, किन्तु प्रत्युत्तर मे उसे रच मात्र भी क्रोध नही करना चाहिए।

क्रोधी व्यक्ति के सन्मुख क्रोध न करने से सबसे पहला लाभ तो यह है कि हमारी आत्मा मलीन नही होती, दूसरे क्रोध करने वाला भी आखिर कब तक अकेला अपने क्रोध का प्रदर्शन करेगा? यानी जब उसे प्रत्युत्तर नही मिलेगा तो वह भी जल्दी शात हो जाएगा।

पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषिजी म० ने एक दोहे मे भी मनुष्य को यही शिक्षा दी है—

"जाणरो तू अजाण होजे, तत लीजे ताणी।
आगलो अगन होवे तो आप होजे पाणी।।

कहते है "अरे मानव, तू कभी भी क्रोध मत कर। अगर तेरे समक्ष कोई अन्य व्यक्ति आगबबूला होकर अपशब्द कहने लग जाय तो भी तू उसके क्रोध को अनुभव करता हुआ अनजान बना रह, केवल उसके शब्दो मे अगर कुछ सार निहित हो तो मौन भाव से ग्रहण कर ले और इस प्रकार सामने वाले क्रोधी व्यक्ति की क्रोधाग्नि के लिए शीतल जल के समान बन। ऐसा करने पर ही तू क्रोधी के क्रोध को शात कर सकेगा।"

कहने का अभिप्राय यही है कि बुद्धिमान और विवेकी पुरुष को क्रोध पर विजय प्राप्त करते हुए कर्म-बन्धनो से बचना चाहिए। अगर क्रोध का उत्तर क्रोध से और दूसरे शब्दो मे ईंट का जवाब पत्थर से दिया जाय तो दोनो ही पक्ष समान रूप से कर्म-बन्धन करेंगे।

इसलिए भगवान ने साधु के लिए क्रोध करने का सर्वथा निषेध किया है और कहा है कि साधु को चाहे कोई गालियाँ दे, तिरस्कृत करे अथवा किसी प्रकार से उसका अपमान करे तो भी वह किसी पर क्रोध न करे क्योकि क्रोध करने से वह स्वय अज्ञानी साबित हो जाएगा। अर्थात् अज्ञानी के समान बन जाएगा।

जो सच्चे साधु होते हैं वे आक्रोश परिषह को सहन करके अपने कर्मों की

निर्जरा करते हैं। अगर वे ऐसा न कर सकें यानी औरो के अपशब्द सहन न करें और प्रत्युत्तर मे क्रोध करें तो कषाय-भाव जाग्रत होगा, आश्रव का कारण बनेगा जो कि सवर का सर्वथा विरोधी होता है इसलिए साधु को क्रोध-कषाय का सर्वथा त्याग करके अपना अहित करने वाले का भी हित करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा कडवे वचनो का भी मीठा उत्तर देकर कर्मों की निर्जरा करनी चाहिए।

यह वात तो प्रत्येक व्यक्ति को स्मरण रखनी चाहिए कि बुरा करने वाले का बुरा होता है और भला करने वाले का भला। एक हिन्दी के कवि ने कहा है—

वन्दगी न भूल वन्दे वन्दगी न भूल रे !
जो कोई तुझ को शूल वोवे तू वो उसको फूल रे।
तुझको फूल का फूल मिलेगा उसको शूल का शूल रे !

कवि ने अपनी आत्मा का हित चाहने वाले व्यक्ति को सीख दी है—"अरे वन्दे ! तू ईश्वर की वन्दगी करना कभी मत भूल। जो भक्त भक्ति करता है, उपदेश सुनता है, शास्त्रो का श्रवण करता है तथा परमात्मा पर आस्था रखता है वह कभी भी किसी अन्य प्राणी का अहित नही करता तथा अपना जीवन तप, त्याग एव सयम-मय वनाता है। ऐसा व्यक्ति अपना बुरा करने वाले का भी कभी बुरा नही करता।

कवि भी यही कहता है कि "परमात्मा मे विश्वास करने वाले वन्दे ! तू उसकी वन्दगी करना कभी मत भूल और भले ही तेरे लिए कोई सकट रूपी शूलो को वोये किन्तु तू उसके लिए फूलो को ही वो। निश्चय ही कालान्तर मे तुझे फूल प्राप्त होंगे और उस अहितकारी को शूल मिलेंगे।"

व्यक्ति जैसा करता है वैसा ही भरता है। एक फकीर को किसी गृहस्थ ने कडाके की सर्दी होने के कारण एक चादर ओढा दी। फकीर ने कहा—"भाई ! तुम्हारे लिए भी ऐसा ही होगा।" आशय फकीर का यही था कि जिस प्रकार तुमने मेरे दुख को मिटाने का प्रयत्न किया है, इसी प्रकार भगवान भी तुम्हारे दुख को दूर करेंगे। फकीर साहव चादर ओढकर कुछ आगे वढे तो किसी अन्य दुष्ट व्यक्ति ने उनकी चादर खीच ली। फकीर ने शान्त भाव से कहा—"तेरे साथ भी ऐसा ही होगा।"

इस ससार मे दुर्जनो की भी कमी नही है। तीर्थक्षेत्रो मे जहाँ अनेक भक्त अपने पापो का नष्ट करने आते हैं वहाँ दुष्ट व्यक्ति चोरी करने, वच्चो को उडाने और वहू-वेटियो का अपहरण करने की दृष्टि से भी आ जाते है। और तो और हमारे यहाँ स्थानक मे भी अनेक प्रकार के व्यक्ति आया करते हैं। कुछ तो सरल भाव से आत्म-कल्याण के लिए प्रवचन के सार को ग्रहण करने की अभिलापा रखते हैं,

पर कुछ व्यक्ति हमारे आचार व्यवहार मे दोषो को देखने के लिए आ जाते है और कुछ तो प्रवचन सुनने के लिए आये हुए लोगो के जूते, चप्पल या मौका मिले तो दान-पात्र ही उठा ले जाने की फिराक मे आते हैं। पर ऐसा करने वालो को क्या उसका फल भुगतना नही पडता ? निश्चय ही भुगतना होता है। बुरा कार्य करने का परिणाम भला बुरा कैसे नही होगा।

फकीर साहब ने यही कहा था—'मेरे पास था ही क्या ? ओढाने वाले ने ओढाया, तू ले जाता है ले जा। जिसने शरीर दिया है वह मुझे नगा नही फिरायेगा और तेरे पास भी यह चादर हमेशा नही रहेगी। इसलिए कहा जाता है कि अगर कोई व्यक्ति क्रोध करे, गाली दे या किसी प्रकार से अपमानित करे तो भी प्रत्युत्तर मे क्रोध नही करना चाहिए और किसी प्रकार के भी दुर्वचन नही कहना चाहिए। साधु के लिए तो क्रोध का सर्वथा निषेध है ही पर चतुर्विध सघ के लिए भी यही कल्याणकर है।

यहाँ मैं एक बात कहना चाहता हूँ कि धर्म-भावना हमारे भाइयो की अपेक्षा बहनो मे अधिक होती है। त्याग और तपस्या मे भी वे पुरुषो से कई कदम आगे रहती है। इसलिए उनसे सम्बन्धित एक गाथा कह रहा हूँ—

> सुन्दर हित की देऊँ मैं सीख, हृदय मे धारजे ए।
> दुर्लभ उत्तम तन को पाय, कुल उजियालजे ए।
> का-का, कथ आज्ञा को नित तू पाल जो रे
> खा-खा, क्षमा धरीने रीजे, ग-गा गाल कलह तज दीजे
> घा-घा घर मे सुजस लीजे, न-ना नरम वेण तज कठिन मत उच्चारजे ए।

यह पद्य क-का बत्तीसी का है और इसमे बहनो के लिए कहा गया है—"बहनो ! मैं तुम्हे अत्यन्त सुन्दर शिक्षा दे रहा हूँ, इसे अपने हृदय मे भली-भाँति धारण कर लेना। क्योकि मानव जन्म प्राप्त होना बडा कठिन है। और जब यह प्राप्त हो ही गया है तो इसे सार्थक करके अपने कुल की शोभा बढाना।

हम सभी जानते है कि मानव शरीर पाकर भी जहाँ पुरुष उत्तम गुणो और सस्कारो को धारण करके भी एक ही कुल को उज्ज्वल बनाता है वहाँ बहने अगर सस्कारशील हो और उत्तम आचार-विचारो को धारण करने वाली हो तो वे अपने मातृकुल एव श्वसुरकुल, दोनो को ही सुशोभित करती है।

अभिप्राय यही है कि अपने ससुराल और पीहर, दोनो ही घरानो को उज्ज्वल बनाना या कलकित करना नारियो पर निर्भर है।

सस्कृत के एक श्लोक मे कहा गया है—

नद्यश्च नार्यश्च सदृशप्रभावा
समानि कूलानि कुलानि तासाम ।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति-
॥

कहते हैं—नदियो का और नारियो का प्रभाव समान ही होता है । नदियो के जिस प्रकार दो कूल यानी किनारे होते हैं उसी प्रकार नारियो के दो कुल अर्थात् घराने होते हैं । कूल और कुल मे केवल ह्रस्व और दीर्घ का ही अन्तर है ।

आगे बताया है कि नदी जब बाढ आदि के कारण दोषपूर्ण हो जाती है तो वह अपने ही दोनो किनारो को गिराती है और नारी जब दोषयुक्त बनती है तो वह अपने पीहर एव ससुराल, इन दोनो घरानो को गिराती है अर्थात् उन्हे कलकित कर देती है ।

पर जिस प्रकार नदी निर्दोष रहने पर अनेकानेक प्राणियो को जीवन धारण करने के लिए जल प्रदान करती है तथा लाखो एकड जमीन को सीचकर प्राणियो की उदरपूर्ति मे सहायक बनती है उसी प्रकार नारी भी सदाचार एव शील आदि उत्तम गुणो को धारण करके अपने दोनो कुलो को सुशोभित करती है तथा प्रशसनीय बनाती है । सुसन्तान को और तीर्थंकर तक को भी जन्म देकर वह रत्नकुक्षी कहलाने लगती है ।

इसीलिए कवि बहनो को शिक्षा देने के लिए 'क' 'ख' आदि अक्षरो के आधार पर एक-एक सुन्दर सीख का निर्माण करते हैं । सर्वप्रथम 'क' के द्वारा वे यह कहते हैं कि कन्त की यानी पति की आज्ञा का पालन करो । अगर पति पूर्व मे जाये और पत्नी पश्चिम मे, अर्थात् दोनो के विचार परस्पर विरोधी हो तो घर-गृहस्थी की गाडी चलनी असम्भव हो जाती है और इसके विपरीत अगर विचारो मे समानता हो तो घर स्वर्ग बनता है । इसके अलावा अगर स्त्री बुद्धिमान, विवेकी, चतुर एव अपने पति पर अखण्ड स्नेह रखती है तो वह विरोधी विचार रखने वाले अविवेकी पति को भी सन्मार्ग पर ले आती है । एक ऐतिहासिक कथा से आपको यह बात स्पष्ट समझ मे आ जायेगी ।

पति की आज्ञा का पालन

अकबर के शासनकाल मे राजा मानसिंह आमेर मे राज्य करते थे । वे अकबर के प्रिय पात्र थे और आनन्दपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे । राजा मानसिंह के तीन रानियाँ थी । उनमे जो सबसे बडी थी, वह अपनी कुलीनता और

सौन्दर्य के अभिमान से भरी रहती थी। मझली रानी बुद्धिमान, शीलवान एव पति पर अटूट स्नेह रखने वाली थी और सबसे छोटी रानी बडी चालाक थी तथा अपनी सौतो से ईर्ष्या रखती हुई राजा को केवल अपने ही प्रेम-पाश मे बाँधे रखने के प्रयत्न मे रहती थी।

एक बार बादशाह अकबर ने राजा मानसिंह को अफगानो के अचानक धावा कर देने से उनका मुकाबला करने के लिए सेना सहित भेज दिया। मानसिंह ने भी शत्रु का डटकर मुकाबला किया और उसके छक्के छुडाकर विजय प्राप्त की। उनके लौटने पर नगर मे उनका शानदार स्वागत किया गया।

विजय का सेहरा बाँधे हुए राजा अपने महल मे लौटे और उस दिन छोटी रानी के यहाँ पहुँच गये। रानी बडी प्रसन्न हुई और उसने राजा की आवभगत की। पर कुछ समय बाद उसने मौका देखकर राजा से कहा—"हुजूर, आपकी मझली रानी आपकी अनुपस्थिति मे पीहर जाकर आई हैं। आपकी आज्ञा के बिना इस प्रकार चला जाना कितना बडा अपराध है। क्या इस अपराध का आप दण्ड नही देंगे?"

"क्यो नही दूँगा दण्ड? जरूर दूँगा आखिर रानी ने समझ क्या रखा है।" कहकर थके हुए राजा सो गये और प्रातःकाल उठकर अपने राज्य-कार्य मे लगे। किन्तु जब शाम हुई और वे मझली रानी के भवन मे पहुँचे तो उन्हे पिछले दिन की हुई छोटी रानी की शिकायत का ध्यान आया और वे क्रोध मे भरकर रानी से बोले—

"रानी! तुम हमारी इजाजत के बिना ही अपने पीहर चली गई? तुमने राज्य-मर्यादा का उल्लघन करके भारी अपराध किया है और इसके दण्डस्वरूप मे तुम्हे देश-निकाला देता हूँ।"

मझली रानी यह सुनकर हक्की-बक्की रह गई पर हिम्मत करके बोली—"महाराज! यह सत्य है कि मुझे आपकी आज्ञा के बिना नगर से बाहर कदम भी नही रखना चाहिए। किन्तु मेरे पिताजी मरन बीमार हो गये थे और उन्होने मुझे अविलम्ब बुलाने के लिए सन्देश भेजा था अत मैं मायके चली गई थी। फिर भी मैं अपना अपराध कुबूल करती हूँ और आप से क्षमा याचना करती हूँ।"

राजा मानसिंह उस समय नशे मे धुत्त हो रहे थे अत रानी की किसी बात पर ध्यान न देते हुए उन्होने कह दिया—"मैं तुम्हारी कोई भी बात सुनना नही चाहता बस, तुम अपनी इच्छानुसार अपने पसन्द की कोई भी एक चीज लेकर मेरे नगर से चली जाओ।"

इतना कहते-कहते वे नशे मे बेसुध होकर पलग पर गिर पडे और पूर्णतया अचेत हो गये। रानी शोकविह्वल हो रही थी पर उसका विवेक और पति के प्रति

अगाध स्नेह नष्ट नही हुआ था। उसने कुछ समय तक गम्भीरता से चिन्तन किया, तत्पश्चात् उसी समय दो पालकियाँ मगवाई और एक मे दासियो की सहायता से पति को उठाकर सुलाया तथा दूसरी मे स्वय बैठकर अपने पिता के नगर को चल दी। उसका पीहर दूर नही था, रात्रि के पिछले प्रहर तक वह वहाँ पहुँच गई। बडी सावधानी से उसने पति को महल मे पहुँचवाया तथा पति के समीप बैठकर उनके जागने की प्रतीक्षा करती रही।

मानसिंह शराब की खुमारी मे पडा रहा किन्तु प्रात काल होते-होते उसे होश आया और उसने आँखे खोली। आँख खुलते ही जब उसने चारो ओर अपनी निगाह डाली तो सभी कुछ बदला-बदला पाया। उसने देखा कि जिस शयनकक्ष मे वह रात्रि को आया था, वह नही था और किसी दूसरे ही भवन मे दूसरी शैय्या पर वह लेटा हुआ था। रानी भी समीप ही बैठी थी और उसे देखते ही वह पुन क्रोध से बोल उठा—"मै कहाँ पर हूँ और कौन मुझे इस नये स्थान पर लाया है ?"

रानी ने अपने धडकते हुए हृदय को सभाला और मुस्कराते हुए शातिपूर्वक उत्तर दिया—

"महाराज ! आप इस समय अपनी ससुराल मे है और मैं ही आपकी आज्ञानुसार आपको यहाँ लाई हूँ।"

राजा पुन गरजे—"मैंने ऐसी आज्ञा तुम्हे कब दी ?"

रानी बोली—"आपने रात को ही कहा था कि अपनी मनपसन्द की केवल एक वस्तु लेकर मेरे नगर से निकल जाओ। बस, मेरे मनपसन्द की वस्तु आप ही थे अत आपको लेकर मैं रातोरात आपके राज्य से चलकर यहाँ आ गई हूँ। इस प्रकार मैंने आपकी आज्ञा का अक्षरश पालन किया है।"

राजा मानसिह का क्रोध रानी के ऐसे वचन सुनते ही काफूर हो गया और उसने हँसकर अपने शब्द वापिस लेते हुए कहा—"रानी ! मैं तुम्हारे समक्ष शर्मिन्दा हूँ और अपने देश-निकाले की बात को इसी क्षण वापिस लेता हूँ। चलो, अब हम दोनो तुम्हारे पिताजी की कुशल-क्षेम पूछने चलते हैं।"

बन्धुओ ! पतिव्रता और विवेकवान नारियाँ ऐसी ही होती हैं। राजा मानसिंह की मझली रानी ने अपने पति की आज्ञा का पालन भी किया और अपनी उत्तम सूझ-बूझ से अपने ऊपर आये हुए सकट के बादलो को सहज ही छिन्न-भिन्न कर दिया। ऐसा वे ही नारियाँ कर सकती है जो अपने पति पर पूण स्नेह रखती है तथा उनकी प्रत्येक आज्ञा को शिरोधार्य करने की क्षमता रखती है। इसीलिये कवि ने सर्वप्रथम 'क' अक्षर को लेकर नारी जाति को कत की, अर्थात् पति की आज्ञा का पालन करने की सुन्दर सीख दी है।

दूसरी सीख 'ख' अक्षर के द्वारा क्षमा धारण करने की कवि ने दी है। आप जानते ही हैं कि जिस घर मे स्त्री सस्कारशील, गुणवान एव सहनशील होती है वही घर सुख एव शाति का आगार कहलाता है। ज्ञानियो ने नारी को पृथ्वी के समान सहनशील बताया है। यह बात पूर्णतया सत्य है। आप पुरुष सदा स्त्रियो पर रौब जमाया करते हैं। बात-बात मे बिगडना और कटुवचन कहना पुरुष होने के नाते आप अपने जन्मसिद्ध अधिकार मे मानते हैं। किन्तु आपके घर की सुलक्षणी नारियाँ घर मे अपना समान अधिकार और समान महत्त्व समझती हुई भी आपके दुर्व्यवहार को सहज ही पी जाती हैं। अगर नारी का महत्त्व नर के बराबर ही नही होता तो हमारे पूर्वज एव विद्वान, पुरुष एव स्त्री को गृहस्थी रूपी गाडी के दो पहिये क्या कहते ?

कवि गिरिधर ने भी कहा है—

> **जीवन-गाडी ज्ञान धुरी, पहिये दो नर-नारी।**
> **सुख मजिल तय करन हित, जो रहु इन्हें सम्हारि ॥**
> **जो रहु इन्हे सम्हारि लगे ना ऊँचे नीचे।**
> **दोनो सम जब होहिं, चलहु फिर आँखें मीचे ॥**
> **कह गिरिधर कविराय, यही तुम धारो निज मन।**
> **या विधि हो नर-नारी, सफल तब निश्चय जीवन ॥**

कहते हैं—गृहस्थ-जीवन एक गाडी के समान है और उसकी धुरी ज्ञान एव विवेक है। आगे कहा है कि इस गाडी के दोनो पहिये स्त्री एव पुरुष है, जिन्हे बडी सावधानी से जोडना चाहिए ताकि वे ऊँचे-नीचे रहकर गाडी को नुकसान न पहुँचाएँ अर्थात उसका सन्तुलन न बिगाडे।

कवि के कहने का अभिप्राय यही है कि गृहस्थ-जीवन रूपी गाडी को नर एव नारी अपने सम्यक् ज्ञान एव विवेक रूपी धुरी के द्वारा सन्तुलित रखते हुए चलाएँ तो वह इतने सुन्दर ढग से चलती रहेगी कि कभी भी किसी तरह की परेशानी अथवा चिन्ता सामने नही आयगी।

तो कवि ने पुरुष एव स्त्री का समान महत्त्व बताया है और पुरुष के अन्याय एव अत्याचार को भी सहन करते हुए स्त्री को क्षमा-भाव रखने की शिक्षा दी है। वह इसीलिये कि अगर वह सहनशीलता एव क्षमा-भाव रखेगी तो जीवन रूपी गाडी का सन्तुलन बिगडेगा नही और घर मे सतत सुख एव शान्ति बनी रहेगी।

आगे 'ग' अक्षर को लेकर गाली-गलौज एव कलह का सर्वथा त्याग करने के लिये कहा है। हमारे यहाँ प्राय कहा जाता है कि स्त्रियाँ कलहप्रिय होती है और तनिक-तनिक सी बात पर गाली-गलौज पर उतर आती है। इस विषय मे मेरा विचार

यह है कि ऐसा तभी होता है, जब नारियो को पुरुषो के समान प्रारम्भ मे शिक्षा नही दी जाती है और उनमे सावधानी से उत्तम सस्कार नही भरे जाते ।

प्राचीन काल मे, दूसरे शब्दो मे भारतीय सभ्यता के प्रारम्भिक काल मे नारी जाति की महत्ता और प्रतिष्ठा का बड़ा ध्यान रखा जाता था । किन्तु मध्य युग मे ऐसी अनिष्टकर विचारधारा फैली कि पुरुषो ने नारी जाति के साथ बडा अन्यायपूर्ण व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया । सामाजिक एव धार्मिक आदि सभी क्षेत्रो मे उसकी अवहेलना की जाने लगी । अपने आपको महान् नीतिकार एव विद्वान कहने वाले व्यक्तियो ने तो यहाँ तक कहा कि नारी स्वभाव से ही चचल, मूर्ख, चरित्रहीन एव कलहप्रिय होती है । इसलिये उसे सदैव डडे के बल पर चलाना चाहिए तथा कभी भी स्वतन्त्र नही रहने देना चाहिए । किसी-किसी ने तो यहाँ तक कहा कि—

स्त्रियो हि मूल निधनस्य पुस,
स्त्रियो हि मूल व्यसनस्य पुस ।
स्त्रियो हि मूल नरकस्य पुस,
स्त्रियो हि मूल कलहस्य पुस ॥

अर्थात्—स्त्रियाँ पुरुष की मृत्यु का कारण हैं, स्त्रियाँ पुरुष की विपत्ति का कारण हैं, स्त्रियाँ नरक गति का मूल कारण है, और स्त्रियाँ ही पुरुष के कलह का कारण है ।

इतना ही नही, स्त्रियो के लिये यह भी कहा गया—

अनृत साहस माया, मूर्खत्वमतिलोभिता ।
अशौच निर्दयत्वञ्च, स्त्रीणा दोषा स्वभावजा ॥

यानी झूठ, साहस, कपट, मूर्खता, लोभ, अपवित्रता और क्रूरता ये सब स्त्रियो के स्वभावजन्य दोष है ।

बन्धुओ, मध्ययुग के पुरुषो की यह विचारधारा उनकी स्वार्थपरायणता और घोर अन्याय की सूचक है साथ ही पुरुषवर्ग के लिये महान कलक की बात है । क्या पुरुषो को जन्म देकर उन्हे अपने कलेजे का रक्त पिलाने वाली तथा अपने सम्पूर्ण सुखो का बलिदान करके सैकडो कष्टो को सहन करती हुई भी अपनी सन्तान एव पति को सुखी रखने का प्रयत्न करने वाली नारी पुरुष के कलह और उसकी मृत्यु का कारण भी बन सकती है ? कभी नही । हमारे शास्त्र पुकार-पुकार कर यही कहते हैं कि कोई भी प्राणी किसी दूसरे को स्वर्ग या नरक मे नही भेज सकता । अपने-अपने कृतकर्मो के अनुसार ही वह विभिन्न योनियो की प्राप्ति करता है । अगर स्त्रियाँ पुरुषो के नरक का मूल या कारण होती तब तो सभी पुरुष नरक मे ही जाते, दूसरी कोई योनि उनके लिये प्राप्य नही होती ।

हम तो देखते है कि भारत के इतिहास मे अनेकानेक महान् नारियाँ हुई हैं। उनमे झासी की रानी के समान समरभूमि मे लड़ने वाली वीरागनाएँ, सती सीता एव सुभद्रा जैसी पतिव्रताएँ, ब्राह्मी, सुन्दरी, गार्गी एव मैत्रेयी जैसी विदुषियो और चन्दनबाला जैसी धर्मपरायणा नारियाँ हुई हैं। हमारे जैन सघ मे तो महासतियो की इतनी प्रतिष्ठा है कि प्रत्येक जैन श्रावक पुरुष होकर भी प्रात काल उठकर मगल-कारिणी सोलह सतियो के नाम का उच्चारण एव उनका गुणगान करता है।

ध्यान मे रखने की बात है कि जैन धर्म के अलावा अन्य धर्म भी नारी जाति को अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखते है। वे कहते है—

विद्या समस्तास्तव देवि ! भेदा,
स्त्रिय समस्ता सकला जगत्सु।
या याश्च ग्राम्यदेव्य स्युस्ताः सर्वा. प्रकृते कला।
कलाशाशसमुद्भूता, प्रति विश्वेषु योषित ॥

(देवी भागवत)

अर्थात् समस्त विद्याएँ और सब स्त्रियाँ देवी का ही रूप है।

समस्त ग्राम्यदेवियाँ और समस्त विश्वस्थिता स्त्रियाँ प्रकृति-माता की अश-रूपिणी हैं।

नारी जाति की ऐसी महत्ता का अनुभव करने के कारण ही वे यह भी मानते है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।

कितनी सुन्दर एव आदरसूचक विचारधारा है कि जहाँ नारियो का सम्मान किया जाता है वहाँ देवता भी निवास करते हैं अर्थात् वह स्थान स्वर्ग बन जाता है।

पर इन विचारो को मूतरूप मे लाने के लिए बालक के समान ही बालिकाओ को भी शिक्षा-प्राप्ति का समुचित अवसर एव साधन मिलने चाहियें। आखिर जन्म से तो कोई भी शिशु अपने साथ ज्ञान एव सुसस्कार लेकर नही आता। वह धीरे-धीरे ही अपने आस-पास के वातावरण से, शिक्षक से अथवा धर्मगुरुओ से इन्हे प्राप्त करता है और इसीलिये अगर बालिकाओ को भी बालको के समान ही ज्ञान-प्राप्ति के साधन प्राप्त होंगे तो वह सन्नारी बनेगी और अपने घर को स्वर्ग बना सकेगी।

इतना मैं अवश्य कहता हूँ कि बालक की अपेक्षा बालिका अधिक सवेदनशील, भावुक, समझदार एव ग्राह्यशक्ति को धारण करने वाली होती है अत जहाँ लडके साधन अधिक मिलने पर भी उनसे लाभ कम ग्रहण करते हैं और अधिकतर उसका दुरुपयोग भी करते है, वहाँ लडकियाँ सस्कार एव ज्ञान-प्राप्ति के साधन कम मिलने पर भी उनसे अधिक लाभ लेती है और जो कुछ उन्हे प्राप्त होता है उसे दृढता से

आत्मसात कर लेती हैं। अपने उत्तम सस्कारो को और उत्तम विचारो को वे प्राण जाने पर भी नही छोडती। यही कारण है कि वे सफल पुत्री, सफल पत्नी और अन्त मे सफल माता सिद्ध होती हैं और उनके कारण ही घर स्वर्ग बनता है।

इसीलिए कवि ने पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो को अधिक महत्त्व देते हुए उन्हे सीख दी है कि—"तुम कलह, कटु-वचन और अप्रिय व्यवहार करने का सर्वथा त्याग कर दो और घर मे सुयश की प्राप्ति करो।"

वस्तुत उसी व्यक्ति से अपील की जाती है या आग्रह किया जाता है जिसके द्वारा अपील या आग्रह को माने जाने की आशा होती है। आप जानते ही हैं कि आपकी विरादरी के व्यक्ति यानी पुरुष अत्यन्त अस्थिर-चित्त होते हैं। प्रथम तो वे अच्छी बात को जल्दी ग्रहण करते नही, और किसी प्रकार कर भी लेते हैं तो अभिमान, ईर्ष्या, लोभ या क्रोध की एक लहर आते ही सब भूल जाते हैं। इसके अलावा जब वे बाह्य परिस्थितियो से मुकाबला नही कर पाते तो घर आकर स्त्रियो पर बरसना, उन्हें गालियाँ देना, मारना या और कुछ न बन पाये तो खाने की थाली, गिलास या कटोरियाँ फेंक देना अपना जन्मसिद्ध या पुरुषोचित कार्य समझते है।

किन्तु नारी सहनशील होती है। वह स्वय महान् कष्ट सहकर भी घर की व्यवस्था करती है, सन्तान का पालन-पोषण करती है और ऊपर से पुरुष के अत्याचारो को हँसते हुए सहकर उसे क्षमा करती हुई सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करती है। ये विशेषताएँ केवल उसी मे होती हैं अत उससे ही कवि आग्रह करता है कि—"तुम 'घ' अक्षर के द्वारा घर मे सुयश की प्राप्ति करना और 'न' के द्वारा नरम यानी कोमल शब्दो के उच्चारण करने का ही प्रयत्न करना। कभी भूलकर भी अपनी सहज मधुरता का त्याग करके कठोर शब्दो का उच्चारण मत करना। क्योकि कटु-वचन महान् अनर्थ के कारण बनते हैं और कभी-कभी तो वे हृदयो को जीवन भर सालते रहते हैं।

महाभारत मे कहा भी है—

> कर्णिनालीक-नाराचान्, निर्हरन्ति शरीरत ।
> वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं, शक्यो हृदिशयो हि स ॥
>
> —अनुशासन पर्व १०४

बन्दूक की गोली एव तीर तो प्रयत्न करने पर शरीर मे निकल ही जाते हैं, किन्तु वचन का शल्य हृदय मे चुभता ही रहता है।

'अंधे के बेटे अंधे होते हैं।' द्रौपदी के द्वारा उपहास मे कहा गया यह कटु-वाक्य दुर्योधन के हृदय से जीवन के अन्त तक भी नहीं निकला और महाभारत के रूप मे महान् अनर्थ का कारण बना। इसीलिये कवि बहनो से आग्रह करता है कि वे

पुरुषो के अन्याय, अत्याचार या क्रूरता को भी पृथ्वी के समान सहन करते हुए अपने कोमल स्वभाव का त्याग न करें तथा जिह्वा से कभी कटु शब्दो का उच्चारण न करते हुए अपनी श्रेष्ठता को आदर्श के रूप मे जगत के समक्ष रखे।

तो बन्धुओ, प्रसगवश मैंने एक कवि के द्वारा वहनो के लिए दी गई सीख को आपके सामने रख दिया है पर हमारा मूल विषय 'आक्रोश परिषह' को लेकर चल रहा हूँ।

'आक्रोश परिषह' बारहवाँ परिषह है और इस परिषह को सहन करने के लिए भगवान ने साधु को आदेश दिया है। उन्होंने कहा है—'भले ही कोई भी पुरुष साधु की निन्दा करे, किन्तु साधु प्रत्युत्तर मे कभी क्रोध न करे। क्योकि निन्दा करना मूर्खों का स्वभाव होता है और वे ही इस प्रकार के जघन्य कार्य किया करते हैं।

किन्तु साधु ज्ञानी होता है और फिर भी अगर वह मूर्खों के द्वारा की गई निन्दा से क्रोध मे आकर उन्हे बुरा-भला कहे तो फिर उन मूर्खों मे और उसमे क्या अन्तर हो सकता है ? कुछ भी नही, अर्थात् वह भी उन निन्दा करने वाले अज्ञानियो की या मूर्खों की श्रेणी मे आ जाएगा। अतएव साधु का कर्तव्य है कि वह कभी भी क्रोध के आवेश मे न आए, उलटे अपने को कोसने वाले, निन्दा करने वाले या कटु-वचन कहने वाले व्यक्ति को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए समभाव मे विचरण करे। वह यही विचार करे—"यदि मुझमे सत्य ही यह दोष है तव तो यह व्यक्ति उचित कह रहा है, फिर मैं इस पर क्रोध क्यो करूँ और अगर यह असत्य कहता है तो मेरी निन्दा करके यह अपने कृतकर्मो का फल स्वय ही भोगेगा और इसलिये मैं व्यर्थ ही इस पर क्रोध करके अपनी आत्मा को दोषी क्यो वनाऊँ ?"

इसी प्रकार प्रत्येक साधु और साधक को अपनी निन्दा और प्रशसा से उपरत रहकर अपने साधना-पथ पर बढना चाहिए। ऐसा करने वाला साधक ही सच्चा ज्ञानी कहला सकता है।

'श्री आचाराग सूत्र' मे कहा भी है—

उवेह एण बहिया य लोग।
से सव्व लोगम्मि जे केइ विण्णू ॥

अर्थात्—जो कोई अपने विरोधियो के प्रति भी उपेक्षा अथवा तटस्थता का भाव रखता है, वह सम्पूर्ण विश्व के विद्वानो मे अग्रणी विद्वान हैं।

वस्तुत वही सच्चा साधक है जो पूर्ण समभाव का आराधन करता है और किसी भी स्थिति मे अपनी आत्मा के स्वभाव को नही छोडता तथा क्रोध को अपने अन्दर स्थान नही देता। जो भव्य प्राणी सच्चे सायनो मे सन्त कहलाते है और 'आक्रोश-परिषह' को पूर्ण समता से सहन करते है वे ही अपने मानव जन्म को सार्थक करते हुए आत्मा का कल्याण करते हैं।

९ आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्

धर्मप्रेमी वन्धुओ ! माताओ एव वहनो !

सवर के सत्तावन भेदो मे से पाँच समिति, तीन गुप्ति और ग्यारह परिषहो का विवेचन किया जा चुका है। कल मैंने वारहवे 'आक्रोश परिषह' के विषय मे कुछ कहा था और आज भी उसी को लेकर कुछ कहने जा रहा हूँ।

मराठी भाषा मे एक आर्या है, जिसमे लिखा है—

दिघले दु ख परानें, उसणे फेडूं नयेचि सोसावे,
शिक्षा देव तयाला, करील म्हणूनि उगीच बैसावे।

कितना सुन्दर पाठ है ? कहते हैं, अगर कोइ व्यक्ति तुम्हे दु ख दे तो भी वदले मे तुम उसे दु ख मत दो। किसी से पाँच रुपये कर्ज लेने पर तो उन्हे चुकाना चाहिए पर मिले हुए दु ख को वापिस करने का तो कदापि विचार नही करना चाहिए। व्यक्ति को भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि अगर कोई व्यक्ति बुरा कार्य करता है तो उमका परिणाम स्वय ही उसके सामने आ उपस्थित होना है। कृतकर्म कभी भी अपना कर्ज वसूल किये विना नही रहते, फिर हमे दु:ख के वदले मे ही सही पर दूसरे को दु ख देकर अपने कर्मों का बन्धन क्यो करना चाहिए ? हमे दु ख देने वाला तो उसका फल स्वय ही भुगत लेगा फिर हम क्यो बीच मे पडकर जवर्दस्ती पाप कर्म वाँधें और उसका भुगतान करे ? हमे तो अपना अपकार करने वाले का भी उपकार ही करना चाहिए।

सस्कृत के एक श्लोक मे कहा गया है—

उपकारिषु य साधु साधुत्वे तस्य को गुण ?
अपकारिषु य साधु स साधु सद्भिरुच्यते।

कहते हैं उपकार करने वाले के साथ साधुता रखने पर क्या विशेषता है ? सच्चा साधु तो वह है जो अपकार करने वालो के प्रति भी साधुता रखे अर्थात् उनका भी उपकार करे और उपकार करते न बने तो समभाव रखे।

'आक्रोश परिषह' को लेकर भी भगवान महावीर ने साधु के लिए आदेश दिया है—

सोच्चाभ फरुसा भासा, दारुणा गामकण्टगा ।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे ।।

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र, २—२५

दूसरो की अत्यन्त कठिन और कटक के समान तीक्ष्ण चुभने वाली भाषा को सुनकर भी साधु मौन रहे और उन पर मन से भी क्रोध या द्वेष न करे।

वस्तुत वही सच्चा साधु है जो कटु शब्द सुनकर भी क्रोध न करे तथा मौन भाव से उन्हे सहन कर।

मौन की महिमा

मौन का जीवन मे वडा भारी महत्व है। जो व्यक्ति अधिक समय तक मौन धारण किये रह सकता है वह प्रथम तो लडाई-झगडे से वचता है, दूसरे अपने उस समय को आत्म-साधना मे लगा सकता है। महात्मा कवीर ने कहा भी है—

वाद-विवादे विष घणा, बोले बहुत उपाध ।
मौन गहे सब की सहे, सुमिरे नाम अगाध ।।

कहते हैं वाद-विवाद करने मे आपसी कलह वढती है और वोलने वालो के दिलो मे वैर रूपी विष वढता जाता है। कभी-कभी तो यह विष इतना व्याप्त हो जाता है कि जीवन पर्यन्त नही उतरता और इस प्रकार अनेक उपाधियो का यानी मुसीवत और परेशानियो का कारण बनता है। किन्तु इसके विपरीत कटुता के समक्ष मौन धारण कर लेने से झगडा वही शात हो जाता है। इसका कारण यही है कि क्रोध-रूपी आग लगने पर मौन शीतल जल का काम करता हुआ तुरन्त उसे मिटा देता है और अगर प्रत्युत्तर मे कटु शब्द कहे जाये तो वे आग के लिए और ईंधन का काम करते हैं अर्थात् उसे वढा देते हैं। इसलिए कटु-वचनो का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

श्री स्थानाग सूत्र मे छ प्रकार के वचनो का निषेध किया गया है। वे इस प्रकार वताये गये हैं—

"इमाइ छ अवयणाइ वदित्तए—अलियवयणे, हीलियवयणे, खिसितवयणे, फरुसवयणे, गारत्थियवयणे, विउसवित वा पुणो उदीरित्तए।"

छ प्रकार के वचन नही वोलने चाहिए—

(१) असत्य वचन, (२) तिरस्कार युक्त वचन, (३) झिडकते हुए वचन,

(४) कठोर वचन (५) अविचारपूर्ण वचन एव (६) शान्त हुए कलह को पुन भडकाने वाले वचन ।

अभिप्राय यही है कि इन छ प्रकार के वचनो मे से किसी भी प्रकार के वचन कहने से कटुता बढती है और चित्त के अशात रहने से आत्म-साधना मे बाधा आती है । इसीलिए भगवान ने साधु को कटुवचन सुनकर भी मौन रहने की आज्ञा दी है ।

शात कैसे रहते हैं आप ?

सत एकनाथ के समीप एक व्यक्ति आया और बोला—"भगवन् ! आपका जीवन कितना सादा, सरल और निष्पाप है ? आप कभी क्रोध नही करते, किसी से लडाई-झगडा नही करते और प्राय मौन ही रहा करते हैं । ऐसा कैसे कर पाते हैं आप ?"

एकनाथ जी ने व्यक्ति की बात सुनी, उस पर कुछ क्षण विचार किया और बोले—"भाई ! मैं तो जैसा हूँ सो हूँ पर तुम्हारे विषय मे मुझे कुछ ज्ञान हुआ है, अगर तुम चाहो तो कह दू ?"

भक्त सत की बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बोला—"महाराज ! अवश्य कहिये । भला आपकी बात मैं नही सुनूंगा ! सतो के प्रवचन, उपदेश और कथन से बढकर सुनने वाली और कौनसी बात हो सकती है ?" बडी उत्सुकतापूर्वक उस व्यक्ति ने पूछा ।

एकनाथ जी शात स्वर से बोले—"मुझे ऐसा मालूम हुआ है कि आज से सातवें दिन तुम मृत्यु को प्राप्त हो जाओगे ।"

सत की बात सुनते ही उस व्यक्ति पर मानो बिजली गिर पडी । पृथ्वी उसे अपने पैरो तले से खिसकती हुई प्रतीत हुई । आस-पास की सम्पूर्ण वस्तुएँ भी जैसे उसके चारो ओर तेजी से चक्कर काटती हुई प्रतीत हुईं । कुछ देर वह पाला पडी हुई फसल के समान निर्जीव-सा बैठा रहा और उसके पश्चात् द्रुतगति से अपने घर की ओर भागा ।

एक-एक करके छ दिन व्यतीत हो गए और ठीक सातवें दिन सत एकनाथ जी उस व्यक्ति के घर जा पहुँचे । व्यक्ति घर पर ही था, उसे देखते ही उन्होंने पूछा "क्यो भाई कैसे हो ?"

वह व्यक्ति बोला—"महाराज ! बस मृत्यु की ही प्रतीक्षा कर रहा हूँ । आज सातवा दिन है ।"

पर मैं यह पूछ रहा हूँ कि तुम्हारे ये छ दिन कैसे निकले ? इन दिनो मे तुमने कितने पाप-कार्य और कितने पुण्य-कार्य किये ? तुम्हारे मन मे कैसे विचार आए ?"

वह व्यक्ति बडी शाति पूर्वक बोला—

"गुरुदेव ! अब मैं कैसे बताऊँ कि ये दिन कैसे निकले। फिर भी आपसे यही कहता हूँ कि इन दिनो मे मैंने अपनी समझ मे कोई भी पाप-कार्य नही किया। तनिक भी बेईमानी नही की, किसी को धोखा नही दिया, मन, वचन और कर्म से हिंसा से बचा, झूठ नही बोला और किसी से कटु-शब्द कहकर लडा नही। इतना ही नहीं मृत्यु को समीप पाकर मैं अधिक से अधिक मौन रहा और वह समय चिंतन-मनन और शुभ विचारो मे गुजारता रहा।"

सत एकनाथ जी उस व्यक्ति की बात सुनकर मुस्कराये और कहने लगे—"भाई ! मैंने तुम्हारी मृत्यु की बात केवल इसीलिए तुमसे कही थी कि तुम, मौत को सामने पाकर किस प्रकार समय व्यतीत किया जाता है, यह समझ सको। उस दिन तुमने मेरे जीवन के लिए निष्पाप एव सरल किस प्रकार बना यह पूछा था, उसका उत्तर मैं शब्दो मे नही दे सकता था अत तुम्हे स्वय अनुभव करने के लिए मृत्यु के विषय मे कहा था। अब तुम स्वय समझ सकते हो कि मृत्यु को समाने पाकर व्यक्ति का जीवन कैसा बन जाता है। मैं तो प्रतिक्षण मृत्यु को अपने सामने खडी हुई देखता हूँ और इसीलिए अपने आपको अन्याय, अत्याचार, हिंसा, क्रोध, गाली-गलौज आदि से बचाकर रखता हूँ। साथ ही इन सबसे बचा हुआ समय मौन रहकर आत्म-साधना मे लगाता हूँ। अगर मैं मौन न रहूँ और दूसरो की निन्दा, भर्त्सना, लडाई तथा कलह आदि मे अपना समय बर्बाद करूँ तो फिर आत्म-चिन्तन एव साधना किस प्रकार करूँ ? सत को तो अधिक से अधिक वाद-विवाद से बचना चाहिए तथा अपना समय मौन रहकर आत्मिक कार्यों मे लगाना चाहिए, इसके बिना साधु अपने उद्देश्य मे कदापि सफल नही हो सकता।"

हमारे जैन शास्त्र तो मौन को सम्यक्त्व मानते हैं तथा उसे मुनित्व का अनिवार्य अग कहते हैं।

आचाराग सूत्र मे कहा है—

"ज सम्मति पासहा, त मोणति पासहा।
ज मोणति पासहा, त सम्मति पासहा।
ण इम सक्क सिढिलेहिं,
अद्दिज्जमाणेहिं गुणासाएहिं, वकसमायारेहिं,
पमत्तेहिं, गारमावसतेहिं।"

अर्थात्—जो सम्यक्त्व है, वह मौन मुनित्व है और जो मौन है, वह सम्यक्त्व है। शिथिल, आर्द्र, विषयास्वादी, वक्रचारी, प्रमत्त और घर मे रहने वाले मनुष्यो के द्वारा यह सम्यक्त्व एव मौन शक्य नही है।

तो बन्धुओ, भगवान ने इसीलिए साधु को किसी के भी द्वारा कटु, निन्दनीय एव भर्त्सनायुक्त शब्द कहने पर भी मौन रहकर समता से उन्हे सहन करने का आदेश दिया है। वाद-विवाद या कलह को समाप्त करने के लिए मौन महौषधि है। साथ ही मौन आत्म-साधना के लिए सबसे बडा सहायक भी है। साधक जब वाद-विवाद, में अथवा औरो के कटु शब्दो का प्रत्युत्तर देने मे समय बर्बाद करता है तो अपने ज्ञान ध्यान एव चितन मे पूरा समय नही दे पाता। किन्तु इसके विपरीत जब वह इन बातो मे समय नही बिगाडता है तो मौन रहकर निर्बाध रूप से साधना कर सकता है।

करेगा सो भरेगा

मैंने अभी बताया था कि जो व्यक्ति बुरा कार्य या पाप-कार्य करता है उसका फल तो वह स्वय ही भुगत लेता है, फिर हम भी उसमे भाग लेकर कर्मबन्धन क्यो करें? आप कहेगे कि हम उसमे स्वय भाग लेने नही जाते पर अगर कोई हमे कटु-वचन कहता है और हमारी निन्दा करता है तो उसका प्रत्युत्तर भी न दे क्या? क्या वह भी पाप है?

मेरे भाइयो! यह ठीक है कि आप पहल नही करते और आगे होकर किसी को दुर्वचन नहीं कहते, किन्तु किसी और के दुष्टतापूर्ण वचन कहने पर जब प्रत्युत्तर मे वैसे ही शब्द कहते हैं तो फिर आप भी उसके समान तो हो ही जाएँगे। अन्तर केवल कुछ ही क्षणो का रहेगा। आपके सामने वाला व्यक्ति कुछ क्षण पहले बोलेगा और आप कुछ क्षणो के बाद मे। बस इतना ही फर्क आप दोनो मे होगा।

इसीलिए भगवान का आदेश बताते हुए मैं कहता हूँ कि अगर आपको कर्मों के बन्धन से बचना है तो किसी और के आक्रोशपूर्ण वचनो को सुनकर भी आप उनका उत्तर न दें तथा मौनभाव से उन्हे सहन करें। इससे दो लाभ होगे। प्रथम तो कटु-वचनो को सम-भाव से सहन कर लेने के कारण आपके बधे हुए कर्मो की निर्जरा होगी, दूसरे नये कर्म नही बधेगे। इसके अलावा जो व्यक्ति आपको दुर्वचन कहेगा, वह तो उसका फल स्वय ही भोग लेगा। जो जहर खायेगा उसे लहर तो आएगी ही।

श्रीपाल चरित्र मे धवल सेठ का वर्णन आता है। धवल सेठ ने श्रीपाल को भारी कष्ट पहुँचाया। उन्हें समुद्र मे फेंककर मारने का प्रयत्न भी किया किन्तु अपने पुण्यो के उदय से वे बच गये। राजकुमार श्रीपाल ने इस पर भी धवल सेठ का अनिष्ट नही चाहा। उसने जकात नही भरी और पकडा गया तो श्रीपाल ने अपना उपकारी रिश्तेदार बताकर उसे छुडा दिया।

पर दुष्ट अपनी दुष्टता से बाज नही आते। यद्यपि श्रीपाल ने धवल सेठ को बचाया किन्तु फिर भी वह उन्हे मारने के लिए रात्रि को कटार लेकर जाने लगा।

सयोगवश उसका पैर काडे मे अटक गया और उसके हाथ की कटार उसी के पेट म घुस गई ।

इस उदाहरण से हमे ज्ञात हो जाता है कि जो बुरा करता है उसका नतीजा उसे स्वय ही मिल जाता है । श्रीपाल जी ने धवल सेठ के द्वारा मारे जाने के कई प्रयत्न करने पर भी उसका बदला नही लिया अत वे कर्मों के बन्धन से बचे रहे । किन्तु धवल सेठ ने श्रीपाल को मार डालना चाहा था अत उसे अपने जघन्य कर्मो का फल कुछ ही समय मे मरकर भोगना पडा । यानी कुकृत्यो का फल उसे स्वय ही मिल गया । इसे चाहे दैव, नसीब या कर्म कुछ भी कहा जाये, पर वे पापो का दण्ड अवश्य देते हैं, यह निश्चय जानना चाहिए । कंस ने कृष्ण का बुरा सोचा और रावण ने राम का । परिणाम यह हुआ कि दोनो ही समाप्त हुए ।

एक कवि ने भी यही कहा है—

जो और के मुँह मे शक्कर दे, फिर भी वह शक्कर पाता है,
जो और किसी को टक्कर दे, फिर भी वह टक्कर पाता है ।
जो और किसी को चक्कर दे, फिर भी वह चक्कर खाता है,
जो जैसा जिसके साथ करे, फिर वह भी वैसा पाता है ।

पद्य मे सीधे-साधे वाक्य है पर शिक्षाप्रद बहुत है । आप किसी का आदर सत्कार करते हैं तो दस वर्ष बाद भी अगर वह मिलता है तो आपका आदर-सम्मान किये बिना नही रहता । और अगर किसी को आपने कटु, निंदात्मक अथवा व्यंगात्मक शब्द कहे तो बहुत वर्ष पश्चात् मिलने पर भी वह व्यक्ति आपका अपमान करने का प्रयत्न करता है । इसीलिए विद्वानो ने कहा है—

"आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत् ।"

जो व्यवहार आपको क्षम्य नही है, वह दूसरो के साथ भी मत करो ।

जो भव्य प्राणी ऐसा करता है यानी बुराई का बदला भलाई मे देता है वह महान् बनता है, किन्तु इसके विपरीत जो चूक जाता है वह अपने लिए अनिष्ट का उपार्जन कर ही लेता है ।

स्कदक आचार्य के पाँच सौ शिष्य थे । एक बार उन्होंने श्री मुनिसुव्रतस्वामी से देशाटन करके प्रचार करने की अनुमति माँगी । भगवान ने कहा—"तुम्हारा विहार तुम्हारे लिए दुष्कर है पर औरो के लिए कल्याणकर बनेगा ।" स्कदक आचार्य ने उत्तर दिया—"भगवन् ! दूसरो के कल्याण के लिए अगर मेरा नुकसान हो तो भी कोई बात नही है अत मुझे आज्ञा प्रदान कीजिए ।"

इस प्रकार वे भगवान से अनुमति लेकर अपने सभी शिष्यो सहित भ्रमण के

लिए निकल गये । घूमते-घामते वे अपने बहनोई राजा पुरदर के नगर की ओर आए उस राज्य का प्रधान स्कदक आचार्य से दुश्मनी रखता था, क्योकि उन्होने गृहस्थावस्था मे उसे वाद-विवाद मे हराया था । सस्कृत मे कहा गया है—

वादे-वादे जायते तत्वबोध

वादे-वादे जायते वैरबोध. ।

अर्थात् वाद-विवाद से तत्वो का ज्ञान होता है और कभी-कभी वाद-विवाद से वैर भी बध जाता है ।

तो वाद-विवाद के कारण प्रधान स्कदक आचार्य का शत्रु बन गया था । और अब उसने स्वर्णमयोग समझकर नगर से बाहर जहाँ आचार्य अपने पाँच सौ शिष्यो सहित ठहरने वाले थे, वहाँ पाँच सौ तीक्ष्ण हथियार जमीन मे गडवा दिये और जब आचार्य अपने शिष्यवृन्द सहित वहाँ ठहर गए तो राजा से कहा ये मुनिरूप मे आपके राज्य पर आक्रमण करके आपसे राज्य छीनने आए हैं ।

राजा ने मन्त्री से इस बात का प्रमाण माँगा और मन्त्री ने राजा को साथ लेकर बाहर बगीचे मे गडे हुए हथियार निकालकर बता दिये । परिणाम यह हुआ कि राजा ने सभी मुनियो को मौत के घाट उतारने की आज्ञा दे दी और मन्त्री को उसका पालन करने का आदेश दिया ।

मन्त्री यह तो चाहता ही था । वह तुरन्त घानी ले आया और सभी मतो को उसमे पीलने के लिए उद्यत हो गया । उस समय स्कदक आचार्य ने सिर्फ यह कहा—

"भाई ! मैं अपने शिष्यो को अपने नेत्रो के सामने घानी मे पीले जाते नही देख सकूँगा, अत तुम सबसे पहले मुझे ही इसमे डालकर पील दो ।" किन्तु दुष्ट मन्त्री इस बात को भी कैसे मानता ? वह तो स्कदक आचार्य को अधिकाधिक कष्ट पहुँचाना चाहता था । अत उसने यह बात भी नही मानी और एक-एक करके शिष्यो को घानी मे डाल चला ।

स्कदक आचार्य ने इस पर भी दिल कडा किया और पीले जाने वाले अपने प्रत्येक शिष्य को बोध देने लगे । क्रमश चारसौ निन्यानवे शिष्य उनमे प्रतिबोधित होकर आत्म-कल्याण कर गए । पर जब एक सबसे छोटा और अन्तिम शिष्य बचा तो स्कदक आचार्य अपना दिल कडा नही रख सके और मन्त्री से बोले—"अब इस मेरे छोटे शिष्य से पहले तो मुझे पील डालो । मैं इसे मरते नही देख सकूँगा ।"

मन्त्री तब भी नही माना और उस लघु शिष्य को घानी की ओर ले चला । वह शिष्य स्कदक आचार्य को बहुत प्यारा था अत अब उन्हे क्रोध आ गया और वे

कह उठे—"मेरे जप, तप और करनी का अगर फल हो तो यह दुरात्मा जलकर भस्म हो जाय ।"

यद्यपि वे अपने उस लघु शिष्य को बोध दे चुके थे और उसके कारण वह शिष्य भी जन्म-मरण से मुक्त हो गया था, किन्तु उसके पीले जाने के समय स्कदक आचार्य अपने आप पर सयम नही रख सके, चूक गये अत अपनी करनी पर आप ही पानी फेरकर जन्म-मरण के चक्कर मे फँस गये । थोडी सी चूक का परिणाम उन्हें बडा भारी पड गया—

चार कोस का माडला, वे वाणी का झोरा ।
भारी कर्मा जीवडा, उठेहि रह गया कोरा ।।

चार कोस पर समवशरण मे भगवान तीर्थंकर उपदेश दे रहे थे, किन्तु कर्मोदय से वे उसका लाभ नही उठा सके और कोरे रह गये ।

इसी प्रकार महाशतक श्रावक पौषधशाला मे बैठे थे । वहाँ उनकी पत्नी रेवती आई और अपने हाव-भावो के द्वारा उन्हें चलायमान करने का प्रयत्न करने लगी । परन्तु श्रावक व्रतधारी थे अत डिगे नही किन्तु जब रेवती ने बहुत परेशान किया तो उन्हे क्रोध आ गया और उनके मुह से निकल गया—"सात दिन के अन्दर-अन्दर तू समाप्त हो जाएगी ।"

भगवान सर्वदर्शी थे, उन्होंने महाशतक को सदेश भेजा कि—'पौषधशाला मे बैठकर तुमने ऐसे शब्द मुँह से निकाले हैं, अत इनके लिए प्रायश्चित्त करो ।'

यद्यपि महाशतक ने बिना वजह ऐसे शब्द नही कहे थे, रेवती के बहुत परेशान करने पर ही कह दिये थे । फिर भी उन्हे प्रायश्चित्त लेना पडा । इसीलिये साधु-साध्वी, श्रावक एव श्राविका सभी को चेतावनी दी जाती है कि मन पर पूर्ण सयम रखो तथा कारण मिलने पर भी, यानी किसी के दुर्व्यवहार करने अथवा आक्रोशपूर्ण शब्द कहने पर भी उसका प्रत्युत्तर मत दो, अपितु उस सब को समभाव मे सहन करो तभी सवर का मार्ग मिलेगा अन्यथा आश्रव का रास्ता तो सामने है ही ।

भगवान का उपदेश है—

सक्का सहेउ आसाइ कटया,
अओमया उच्छहया नरेण ।
अणासए जो उ सहिज्ज कंटए,
वईमए कन्नसरे स पुज्जो ।।

—दशवैकालिक सूत्र, अ० ९ गा० ६

इस गाथा मे वताया गया है कि वदनीय पुरुष कौन होता है ? भगवान का कथन है कि आशा अथवा किसी स्वार्थ के वशीभूत होने के कारण तो व्यक्ति किसी के लोहे के काँटे के समान तीक्ष्ण चुभने वाले शब्द सहन कर लेता है और इसमे कोई वडी वात नही है। पर जो व्यक्ति विना किसी आशा, स्वार्थ या गरज के भी ऐसे लोह-कटक के समान शब्दो को सुनकर सहन करता है, वही पूज्य होता है।

वस्तुत गरज होने पर व्यक्ति गधे को वाप वनाता है तथा दूध की आशा से दुधारू गाय की लातें भी खा लेता है, किन्तु जव स्वार्थ की भावना नही होती तो वही व्यक्ति तनिक-सा निमित्त मिलते ही साँप के फन के समान उठकर मुकावला करने के लिए तैयार हो जाता है। इन वातो से स्पष्ट है कि मनुष्य आशा का दास होता है, और जव तक वह इससे परे नही जाता तव तक किसी के सम्मान का पात्र नही वन सकता।

मराठी भाषा मे सत तुकाराम जी कहते है—

"आशा, तृष्णा, माया अपमानाचे वीज,
नाशियेल्या पूज्य होईजे ते।
अधीरासी नाहीं चालो जाता मान,
दुर्लभ, दर्शन, धीर त्याचे।"

यह सिद्धान्त की वाणी है और भगवान की फरमाई हुई गाथा का सार वताती है। इसमे कहा गया है—आशा, तृष्णा और माया ये अपमान रूपी वृक्ष के वीज हैं। जव तक ये नष्ट नही हो जाएँगे यानी व्यक्ति इनको त्याग नही देगा, तव तक वह पूज्य नही वन सकेगा। आगे कहा है—जिनके हृदय मे धैर्य एव सतोष नही है उन्हे कही भी मान नही मिल सकता, पर जो इन गुणो को दृढता से धारण किये हुए हैं, ऐसे महापुरुषो के दर्शन वस्तुत दुर्लभ हैं।

सस्कृत के एक श्लोक मे भी इस विषय को वडी सुन्दर रीति से समझाया गया है। कहा है—

आशाया ये दासा, ते दासा सन्ति सर्व लोकस्य।
आशा येषा दासी, तेषा दासा यतेलोक ॥

अर्थात् जो आशा के दास है वे दुनिया के दास हैं और आशा जिनकी दासी है, उनके लिए सारा ससार दास है।

राजा और फकीर मे अन्तर

एक वार एक राजा घूमते-घामते किसी सत के पास पहुँच गया। सत एक वृक्ष के नीचे आनन्द से वैठे थे और समीप वैठे हुए अपने भक्तों को उपदेश दे रहे थे।

राजा उसके पास कुछ समय बैठा और अचानक ही उसने पूछ लिया—"महाराज ! आपमे और मुझमे क्या अन्तर है ?"

संत ने कहा—"इसका उत्तर कुछ समय पश्चात् दूँगा।" इस पर राजा ने उनसे आग्रह किया—"आप मेरे नगर मे चलिये और जब आपकी इच्छा हो मेरे प्रश्न का उत्तर दे दीजियेगा।"

संत उसी क्षण उठकर खडे हो गये और बोले—

"चलो ! ऐसा ही सही।" राजा उनके इस प्रकार निमन्त्रण देते ही उठ खडे होने पर तनिक चकित हुआ पर प्रसन्न होकर उन्हे अपने साथ ले चला।

राजा और संत दोनो ने नगर मे प्रवेश किया तथा राजमहल म पहुँच गये। राजा ने राजमहल का एक सुन्दर एव सुसज्जित भवन स्वामी जी के लिए खुलवा दिया, जिसमे सुख-सुविधा के समस्त साधन मौजूद थे। बैठने के लिए बढिया कुर्सियाँ और सोफे तथा सोने के लिए तकिये और मसहरी वाला नर्म गद्देदार पलग भी उसमे मौजूद था। राजा ने पूछा—

"महाराज ! यह भवन ठीक है आपके लिए ?"

"बहुत बढिया।" कहते हुए संत आराम से पलग पर उसी प्रकार सो गया, जिस प्रकार वह जगल मे वृक्ष के नीचे ककरीली जमीन पर लेटता था।

राजमहल मे रहते हुए स्वामी जी महाराज को कई महीने हो गये। महल की भोजनशाला मे उत्तमोत्तम भोज्य पदार्थ उनके खाने के लिए आ जाते थे और वह आराम से उन्हे ग्रहण करके दिन-रात मस्ती से व्यतीत करते रहे। उन्हे किसी बात से परहेज नही था। राजा के कहते ही वे सुन्दर बगीचो की सैर के लिए निकल जाते और उसके कहते ही सगीत एव नृत्य की मजलिस मे भी शामिल हो जाते।

राजा संत के इस व्यवहार से बडा चकित था, पर कई मास व्यतीत हो जाने पर भी जब संत ने उसके प्रश्न का उत्तर नही दिया तो एक दिन उसने पुन अपना प्रश्न दोहराया कि—"आपमे और मुझमे क्या अन्तर है महाराज ! देखिये आप भी आनन्द मे राजमहल मे रह रहे हैं और मैं भी इसी प्रकार रहता हूँ।"

संत राजा के प्रश्न पर हँस पडे और पलग से उठकर खडे होते हुए बोले—"राजन् ! आज मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूँगा, पर राजमहल से बाहर चलो।"

राजा संत के साथ हो लिया और दोनो राजमहल से ही नही वरन् नगर से भी बाहर आ गये। अब राजा ने अपने प्रश्न का उत्तर चाहा, किन्तु संत ने कहा—"जल्दी क्या है ? कुछ दूर और चलो !" इस प्रकार कुछ दूर और, कुछ दूर और, कहते हुए संत राजा को नगर से बहुत दूर वन मे साथ ले गये।

अब राजा को कुछ झुंझलाहट हुई और वह बोला—"महाराज ! आप तो फक्कड हैं, पर मुझे तो समग्र राज्य-कार्य सभालना है। मैं कैसे अधिक समय तक अपने राज्य से दूर रह सकता हूँ ?"

"बस, तुममे और मुझमे यही अन्तर है राजन् ! मैं जिस प्रकार एक क्षण मे जगल से उठकर तुम्हारे महल मे जाकर रह सकता हूँ, उसी प्रकार एक क्षण मे तुम्हारे राजमहल को छोडकर जगल मे आ सकता हूँ। इतने दिन मैं सुख-सुविधा के अनेक साधनो का उपभोग करता रहा पर आज मैं उन सब को पल भर मे छोड आया हूँ और उनके लिए मेरे हृदय मे रचमात्र भी आसक्ति नही हुई। किन्तु तुम ऐसा नही कर सकते यानी अपने राज्य, अपने महल, अपने परिवार और अपने भोग-विलास के साधनो को कुछ समय के लिए भी त्याग नही सकते। इस प्रकार तुम आशाओ के दास हो और आशाएँ मेरी दासी हैं। मैं फकीर हूँ, मेरे लिए वन मे खडा हुआ नीम का वृक्ष और राजमहल दोनो समान हैं, चाहे उत्तमोत्तम स्वादिष्ट पदार्थ खाने को मिले या कदमूल, मैं दोनो को ही समान भाव से खाता हूँ। किन्तु तुम ऐसा नही कर सकते। यही अन्तर तुम्हारे और मेरे बीच मे है। बस तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तुम्हे मिल चुका है, अब तुम जाओ ! मैं यही-कही किसी पेड के नीचे रहूँगा।"

राजा बडा शर्मिन्दा हुआ तथा उस वृक्ष के तले और राजमहल मे भी समान एव निरासक्त भाव से रहने वाले फकीर सत को नमस्कार कर धीमे-धीमे वहाँ से चल दिया।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो प्राणी अनुकूल और प्रतिकूल दोनो ही परिस्थितियो मे समानभाव से रह सकता है तथा सुख एव दुख को समभाव से ग्रहण करता है वही आशा, तृष्णा एव इच्छाओ का स्वामी बनता है। ऐसा व्यक्ति ही निन्दा और अपमानजनक शब्दो को क्रोध रहित होकर सुनता है एव प्रत्युत्तर मे मौन रहकर क्रोध करने तथा कटु-शब्द कहने वाले को क्षमा करता है।

एक बात और ध्यान मे रखने की है कि क्रोध आत्मा की विभाव दशा है और क्षमा तथा शान्ति उसकी स्वभाव दशा। आत्मा विभाव दशा मे अधिक समय तक नही रह सकती किन्तु स्वभाव दशा मे जीवन पर्यन्त भी रह सकती है।

मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ कि गर्मी मे अधिक ताकत है या सर्दी मे ? सर्दी मे ताकत अधिक है। भले ही चार महीने एक सरीखी तेज गर्मी पडे किन्तु एक घटे भी जोरदार वारिश हो जाए तो वह ठण्डी पड जाएगी और गीली जमीन को सूखने मे भी वक्त लगेगा। इसी प्रकार क्रोध गर्मी है और क्षमा सर्दी। क्रोध मे आकर इन्सान चाहे जैसी अनकहनी कह दे किन्तु क्षमा का जल गिरते ही वह शान्त हो जाएगा, अधिक टिकेगा नहीं।

तो बन्धुओ ! भगवान का उपदेश केवल साधु के लिये ही नहीं है कि वह किसी भी व्यक्ति के कटु एव तीक्ष्ण शब्दो को मौन रहकर शाति से सहन करे, अपितु प्रत्येक मुमुक्षु के लिये है। जो भी व्यक्ति कषायो पर विजय प्राप्त करता है, उसके हृदय की मलिनता नष्ट हो जाती है तथा आत्मा निर्मल बनती है। ऐसे व्यक्ति की आत्मा ही परमात्म-पद को प्राप्त करती है तथा दूसरे शब्दो मे शुद्ध एव निर्मल हृदय वाले व्यक्ति के मन मे परमात्मा का निवास होता है।

एक उर्दू भाषा के शायर ने अपने शेर मे कहा है—

दिल बदश्त आवूर्द कि हज्जे अकबर अस्त।
अज हजारो काबा, यक दिल बेहतर अस्त॥

अर्थात् निर्मल एव स्थिर जल मे सूर्य की तरह शुद्ध मन वाले को परमेश्वर दिखाई देता है और उसके चरणो मे हजारो तीर्थ हाजिर रहते हैं।

शायर ने यथार्थ कहा है। वस्तुत वही मन मन्दिर बन सकता है, जिसमें कषायो की मलिनता न हो और जो अपनी सम्पूर्ण चेतना को परमात्मा के चिन्तन में लगा दे। भक्ति और उपासना का सच्चा फल तभी मिलता है जबकि भक्त और भगवान के बीच कोई भी व्यवधान न हो। अन्यथा भक्ति, पूजा और उपासना करने के लिये तो व्यक्ति बैठ जाय किन्तु उसका मन इधर-उधर डोलता रहे तो आत्म-स्वरूप की अथवा परमात्मा की प्राप्ति कैसे होगी ?

अल्लाह की इबादत

कहा जाता है कि एक बादशाह किसी एकान्त स्थान पर बैठे नमाज पढ रहे थे। इतने मे एक स्त्री उधर आई और उनके 'जाये नमाज' पर पैर रखती हुई द्रुत गति से किसी ओर चली गई।

कुछ समय पश्चात् वही स्त्री पुन उधर से लौटी, पर तब तक बादशाह नमाज पढ चुके थे अत उससे पूछ बैठे—"तू इधर कहाँ गई थी ?"

"अपने प्रेमी से मिलने।" स्त्री ने निर्भीक होकर उत्तर दिया।

बादशाह को यह सुनकर क्रोध आ गया और वे उसे डाँटते हुए बोले—"अपने प्रेमी से मिलने के लिये तू इस प्रकार बेभान होकर चली कि तुझे मेरे 'जाये नमाज' का भी ध्यान नही रहा और इसे कुचलती हुई चली गई ?"

स्त्री ने उत्तर दिया—"जहाँपनाह, मैं तो एक सासारिक पुरुष के ध्यान मे ही ऐसी बेखबर हो गई कि मैं आपकी नमाज पढने के लिये बिछी हुई चादर को न देख

सकी, किन्तु आप तो उस समय सारे जहान के मालिक अल्लाह की इवादत कर रहे थे, फिर आपने भला किस प्रकार मुझे आपकी 'जाये नमाज' कुचलते हुए और इधर से जाते हुए देख लिया ?'

स्त्री की बात सुनकर वादशाह बहुत शर्मिन्दा हुआ और उसकी समझ मे आ गया कि अल्लाह की इवादत तब तक नही हो सकती, जब तक कि मन इधर-उधर भटकता रहे। जिस प्रकार दो घोडो की सवारी एक साथ नही हो सकती, उसी प्रकार मन ससार मे रहता हुआ भगवान को स्मरण नही कर सकता। सारे ससार से वेखवर होकर ही वह उनका चिन्तन कर सकता है।

वन्धुओ, मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि सच्चे साधक को प्रथम तो अपना मन विकारो की गन्दगी से शुद्ध करना चाहिए और उसके पश्चात् चचलता रहित होकर आत्म-चिन्तन मे लीन होना चाहिए। जब तक साधक के मन मे विकार रहेंगे तब तक वह अपनी साधना को फलप्रद नहीं बना सकेगा। उदाहरणस्वरूप किसी ने साधक को तनिक कटु या मानभग करने वाले अपमानजनक शब्द कह दिये और वह प्रत्युत्तर मे क्रोध कर बैठा तो फिर साधना कैसे करेगा ? इसलिये निन्दा, अपमान एव भर्त्सनापूर्ण शब्दो से उसे कभी विचलित नही होना चाहिए तथा मौन भाव से उन शब्दो को सहन करके 'आक्रोश परिषह' पर विजय पानी चाहिए।

ऐसा करने वाला साधक अथवा मुनि ही अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। मुनिवृत्ति सहज वस्तु नही है, यह फूलो का नही, अपितु कांटो का मार्ग है तथा—

"जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्कर।"

अर्थात् मोम के दांतो से लोहे के चने चवाने के समान कठिन है।

सच्चे सन्त क्रोध, मान, माया एव लोभ के विष वृक्षो को क्रमश क्षमा, मृदुता, सरलता एव निस्पृहता के तीक्ष्ण शस्त्रो से जड से काट देते हैं। वे आत्मिक कलमष को धो डालने के लिये सवर की आराधना करते हैं।

कवि सुन्दरदास जी ने अपने एक कवित्त मे इस विषय को वडे सरल ढग से कहा है—

काम ही न क्रोध जाके, लोभ ही न मोह जाके,
मद ही न मत्सर जाके कोउ न विकारो है।
दुख ही न सुख माने, नाहीं हानि-लाभ जाने,
हरष न शोक आने देह ही तें न्यारो है।

निन्दा न प्रशसा करे, राग ही न द्वेष धरे,
लेन ही न देन करे, कछु ना पसारो है।
सुन्दर कहत ताको अगम अगाध गति,
ऐसो कोई साधु हो तो प्रभु को पियारो है ॥

वास्तव मे सच्चे सन्त सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, मित्र-शत्रु और जीवन-मरण आदि सभी मे पूर्ण समभाव धारण करते है। वे निरन्तर अपनी आत्मा मे रमण करते है तथा जल मे रहते हुए कमल की तरह जगत से निर्लिप्त रहते हैं।

ऐसी वृत्ति वाले मुनि भला 'आक्रोश परिषह' पर विजय प्राप्त क्यो नही कर सकेंगे? अवश्य करेंगे। वे ही भगवान के द्वारा दिये गये आदेश का अक्षरश पालन करते हुए सवर की आराधना कर सकेंगे तथा अपने सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करके जन्म-मरण के दुःखो से छुटकारा पाएँगे।

बन्धुओ! आशा है आपने 'आक्रोश परिषह' के विषय मे भली-भाँति समझ लिया होगा और अब हम अगले परिषह के विषय मे आगे विचार करेंगे। ❁

१० | सबके संग डोलत काल बली

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

कल हमने सवर तत्व के सत्तावन भेदो मे से बारहवें 'आक्रोश परिषह' के विषय मे विचार किया था और आज तेरहवे 'वध-परिषह' के विषय मे जानकारी करेंगे ।

इस परिषह के बारे मे 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय मे छब्बीसवी गाथा आई है । उसमे कहा है—

हओ न सजले भिक्खू, मण पि न पओसए ।
तितिक्ख परम नच्चा, भिक्ख-धम्म विचितए ।।

अर्थ है मार-पीट किये जाने पर भी साधु मारने वाले पर मन मे भी द्वेष न करे अपितु क्षमा को उत्तम समझकर अपने मुनिधर्म का ही चिन्तन करे ।

इस गाथा के द्वारा भगवान महावीर ने साधु को उपदेश दिया है कि अगर कोई अज्ञानी एव मूर्ख व्यक्ति उसे मारे-पीटे तथा डण्डे आदि से ताडन करे तो भी साधु मन या वचन से उसका अनिष्ट न सोचे तथा उसके प्रति क्षमा का भाव रखे ।

मुनियो के लिए ऐसे प्रसगो का आना कोई बडी बात नही है । ससार मे दुष्ट व्यक्ति होते हैं और वे समय-समय पर साधुओ को ऐसे कष्ट भी पहुँचाये बिना नही रहते । किन्तु वे समय ही साधु के लिए क्षमा एव सहनशीलता की परीक्षा के कारण बनते हैं । अगर इस प्रकार के परिषहो के उपस्थित होने पर साधु अपने क्षमाधर्म को त्याग दे तो उसकी उत्कृष्ट साधु-चर्या दूषित हो जाती है तथा उसमे कलक लग जाता है । वह परिषह पर विजय प्राप्त करने के बदले स्वय पराजित होता है । इसलिए ऐसे अवसरो पर साधु को रचमात्र भी विचलित हुए बिना अपने श्रमण-धर्म पर दृढ रहते हुए 'वध-परिषह' का मुकाबला करते हुए उस पर पूर्ण विजय प्राप्त करनी चाहिए ।

हमारे श्रोताओ के दिल मे यह विचार आयेगा कि मार-पीट का यहाँ क्या काम है ? पर यह विचार सही नही है, क्योकि सन्तो पर भी ऐसे परिषह आते हैं

और अनेक बार उनसे मुकाबला करना पड़ता है। स्वय भगवान महावीर को भी अनेक परिषह महन करने पडे थे। उनके कानो मे ग्वाले ने कीले ठोक दिये थे। भगवान पार्श्वनाथ को भी परिषह सहने पडे थे। इस प्रकार जब तीर्थंकरो को भी परिपह महने पडे तो फिर अन्य साधुओ की तो वात ही क्या है।

अर्जुनमाली देवताधिष्ठित होने के कारण प्रतिदिन सात मनुष्यो की हत्या करता था। किन्तु पुण्य कर्मों के उदय से सेठ सुदर्शन के साथ वह भगवान महावीर के पास पहुँच गया। भगवान का उपदेश सुनकर उसने सयम ग्रहण किया और साधु बन गया। साधु बनने के पश्चात् उसने अपने पूर्वकृत पाप कर्मों का प्रायश्चित्त करने की दृष्टि से तपश्चर्या करना प्रारम्भ किया।

यद्यपि उसने जो नरहत्याएँ की थी वे यक्ष के आधीन होकर ही की थी, किन्तु फिर भी वह अपने आपको निर्दोष नही मानता था। वह सोचता था कि परतन्त्र होकर ही सही, पर पाप तो मेरे ही हाथो हुए हैं अत उनसे छुटकारा तप के बिना नही हो सकता। यह विचार कर सन्त अर्जुनमाली ने बेला-बेला करके पारणा करने का निश्चय किया। वह बेला करता और पारणे के दिन भी किसी और सन्त का लाया हुआ अन्न ग्रहण न करके स्वय ही भिक्षा लेने जाता था।

पर बन्धुओ! उस समय अर्जुनमाली मुनि का क्या हाल होता था, यह आप जानते है? उन्हे देखते ही लोग गालियाँ देते थे, पत्थर फेकते थे या मार-पीट किया करते थे। कोई कहता—यह मेरे बेटे का हत्यारा है। कोई कहता—मेरे बाप को इसने मारा था और कोई कहता—मेरी माँ की इसने जान ली है। इस प्रकार जिनकी हत्याएँ हुई थी, उनके पारिवारिक जन जी भर कर अर्जुनमाली मुनि को कष्ट पहुँचाते थे।

किन्तु मुनि केवल यही विचार करते थे कि—"मैंने महा-पाप किये है। इनके रिश्तेदारो की हत्या की है। ये तो मुझे उससे बहुत कम कष्ट ही पहुँचाते है। कल मैंने आपको स्कन्दक मुनि के विषय मे भी बताया था कि उन्हें पाँच सौ शिष्यो समेत घानी मे पील दिया था। इसी प्रकार गजसुकुमाल मुनि के सिर पर उनके ससुर सोमिल ब्राह्मण ने मिट्टी की पाल बनाकर उसमे अगारे भर दिये थे। किन्तु जो मुनि सच्चे होते हैं वे ऐसे परिषहो को देने वालो के प्रति भी क्रोध नही करते तथा मन, वचन एव कर्म से उन्हे क्षमा प्रदान करते हुए विचार करते है कि उपसर्ग और परिषह पुराना ऋण है, जिसे हमें सहर्ष चुकाना चाहिए।

आज के युग मे भी सन्तो को 'आक्रोश' एव 'वध-परिषह' का सामना करना पडता है। हम लोग जब गाँवो मे विहार करते हैं तो लोग हमे गालियाँ देते हैं तथा

नही रहती। एक बार जब हमारा चातुर्मास जोधपुर मे था और हमारे प्रवर्तक, मरुधर केसरी जी म० समीप के ही एक गाँव मे विराज रहे थे, तब वहाँ के व्यक्तियो ने उन्हे बिना अपराध के मारा-पीटा था। एक बार स्वय मुझे भी यह परिषह सहन करना पडा था। किन्तु सन्तो को ऐसे परिषहो से घबराहट नही होती।

गौतम बुद्ध के शिष्य आनन्द बडे योग्य, विद्वान एव समझदार साधु थे। एक वार उन्होने बुद्ध से प्रार्थना की—"भगवन्! मैं जनपद मे विहार करके धर्म-प्रचार करना चाहता हूँ।"

बुद्ध ने उनसे कहा—"तुम्हारा विचार तो ठीक है, पर उस देश के व्यक्ति अगर तुम्हारी निन्दा करेंगे और गालियाँ देंगे तो तुम क्या करोगे?"

आनन्द ने उत्तर दिया—"गुरुदेव! मैं यह सोचूँगा कि ये लोग मुझे केवल अपशब्द ही कह रहे हैं, मारते तो नही।"

बुद्ध ने पुन प्रश्न किया—"अगर वे लोग तुम्हे मारेंगे तब क्या करोगे?"

"मैं सोचूँगा कि ये केवल मेरे शरीर को ही चोट पहुँचा रहे हैं, प्राण तो नही लेते।"

"और अगर कोई तुम्हे जान से खत्म करने का प्रयत्न करेगा तब?"

"भगवन्! उस समय मैं यह विचार करूँगा कि ये सिर्फ मेरे शरीर को ही नष्ट कर रहे हैं, आत्मा का तो कुछ भी नही बिगाडते।"

आनन्द के ऐसे दृढ वचन सुनकर बुद्ध ने उन्हें जनपद (देश) मे विहार करने और धर्म का प्रचार करने की आज्ञा दे दी।

बन्धुओ, इस उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि प्रत्येक आत्मार्थी सन्त को परिषहो का मुकाबला करने के लिए कितना दृढ होना चाहिए।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' मे इसी विषय को लेकर एक गाथा और कही गई है—

समण सजय दत हणिज्जा कोइ कत्थई।
नत्थि जीवस्स नासुत्ति, एव पेहेज्ज सजए॥

—अध्ययन २, गा० २७

इन्द्रियो का दमन करने वाले साधु को यदि कोई किसी स्थान पर मारे तो वह साधु शान्त भाव से इस प्रकार विचार करे कि जीव का नाश तो कभी होता नही है और यह शरीर जो है, वह मेरा नही है।

इस गाथा के द्वारा भगवान ने उपदेश दिया है कि कोई भी दुष्ट व्यक्ति ताडना करने के साथ ही साथ अगर साधु का वध करने के लिए उद्यत हो जाय, तब

भी उसका प्रतिकार करने की भावना मन मे न लाये। वह ऐसे निकृष्ट एव जघन्य व्यवहार को अनुभव करके भी अपने मुनिधर्म पर दृढ रहकर शान्तिपूर्वक यह विचार कि यह व्यक्ति मेरे शरीर को तो हानि पहुँचा सकता है किन्तु मेरी ज्ञान, दर्शन एव चारित्रमय आत्मा का कुछ भी नही बिगाड सकता। यह शरीर तो नश्वर ही है और एक दिन इसे नाश को प्राप्त होना है, फिर आज ही इसके जाने पर दुःख अथवा शोक किस बात का? ऐसा विचार करने वाला श्रमण ही सच्चे मायने मे श्रमण कहला सकता है।

गाथा मे सर्वप्रथम 'समण' शब्द आया है। 'श्रमण' यानी ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप मे श्रम करने वाला। यद्यपि श्रम तो कुदाली और फावडा लेकर दुनियादारी के अन्य लोग भी करते है। किन्तु उन्हे श्रमण नही कहा जायेगा। श्रमण वे ही कहलायेगे जो आत्मा को कर्मों से मुक्त करके जन्म-मरण को समाप्त करने का प्रयत्न, या श्रम करते है।

श्रमण के विषय मे कहा गया है—

> इह लोगणिरावेक्खो,
> अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि।
> जुत्ताहारविहारो,
> रहिदकसाओ हवे समणो॥
>
> —प्रवचनसार ३।२६

अर्थात् जो कषायरहित है, इस लोक मे निरपेक्ष है और विवेकपूर्वक आहार-विहार की चर्या रखता है, वही सच्चा श्रमण है।

तो बन्धुओ! जैसा कि श्लोक मे बताया गया है—जो साधु कषाय से सर्वथा रहित है वही सच्चा श्रमण है और कषाय से रहित होने वाला श्रमण ही परिषहो को शान्ति एव समभाव से सहन कर सकता है। वह श्रमण ही किसी के द्वारा प्राण हनन किये जाने पर विचार कर सकता है कि नाश शरीर का हो रहा है, आत्मा का नहीं।

भगवद्गीता मे एक श्लोक दिया गया है—

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

श्लोक मे कहा गया है कि इस आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते है, न इसको आग जला सकती है, न इसको जल गीला कर सकता है और न ही वायु इसे सुखा सकती है।

वस्तुत यह आत्मा 'न छिद्दई न भिद्दई।' इसका न छेदन हो सकता है और न भेदन।" यह अनन्त काल मे है और अनन्त काल तक रहेगी। इसका कोई भी

विनाश नही कर सकता । जल प्रत्येक पदार्थ को भिगोता है किन्तु आत्मा को गीला नही कर सकता । इसी प्रकार वायु प्रत्येक गीले पदार्थ को सुखा देती है किन्तु आत्मा को नही सुखा सकती । केवल जन्म और मरण इसे कैद मे रखते हैं तथा वह किसी का पुत्र, किसी का पिता और किसी का पति कहलाता है । किन्तु ये सब सम्बन्ध प्रत्येक जन्म मे बदलते रहते हैं और आत्मा इन सबसे अलग ही बनी रहती है । कहा भी है—

"जन्योस्ति न जनकोस्ति भवान् कदाचित् ।
सच्चित्सुखात्मकतया त्वमसि प्रसिद्ध ॥"

पद्य मे जीव को सम्बोधित करते हुए कहा है—"हे आत्मन् ! तुम किसी के पुत्र या किसी के पिता नही हो । तुम तो सदा रहने वाले चेतन के रूप मे प्रसिद्ध हो।"

आत्मा के इस सच्चे स्वरूप को कामदेव श्रावक ने भली-भाति समझ लिया था । 'उपासकदशासूत्र' मे इनका वर्णन आता है कि मिथ्यात्वी देवता आकर उन्हे धर्म से डिगाने का प्रयत्न करता है । वह कहता है—'धर्म के इस ढोग को छोड दो, इसमे क्या रखा है ?'

पर कामदेव कहाँ मानने वाले थे ? वे निश्चल बने रहे । इस पर देव ने हाथी, पिशाच और भयकर विषधर नाग के रूप मे आकर उन्हे डराया । यहाँ तक कि शरीर के टुकडे-टुकडे करके भी अपने प्रयत्न को जारी रखा । किन्तु पक्के श्रावक कामदेव सुमेरु पर्वत की तरह अडिग बने रहे । उन्होने विचार किया—"यह तो एक ही देवता है पर हजार देव भी मिलकर आ जाएँ तो क्या मेरी आत्मा के टुकडे कर सकते हैं ? कभी नही । यह शायद वैर के रूप मे अपना पुराना कर्ज वसूल कर रहा है, और नही तो पाप-कर्म बाँध रहा है । मुझे इस पर क्रोध करने की और धर्म से चलित होने की आवश्यकता ही क्या है ?" यह विचार करते हुए वे दृढ रहे ।

कामदेव श्रावक की इस दृढता की स्वय भगवान महावीर ने अपनी सभा सत-सतियो के समक्ष प्रशसा की और कहा—"देखो, कामदेव श्रावक ने गृहस्थ होक भी धर्म के लिय कितना 'परिषह' सहन किया तथा कैसी दृढता रखी फिर तुम सयमी और मोक्षमार्गी हो अत तुम्हे तो स्वप्न मे भी परिषहो से घबराना चाहिए तथा 'आक्रोश' या 'वध' कैसा भी परिषह क्यो न सामने आए, पूर्ण सम से सहन करना चाहिए ।

बन्धुओ, यहाँ आपके दिल मे प्रश्न उठ सकता है कि जब जीव मरता ही है तो फिर 'अहिंसा परमो धर्म' कहने की क्या आवश्यकता है ?

इसका उत्तर यही है कि जिस प्रकार साहूकार लेन-देन मे किसी व्य घर, मकान एव खेती वगैरह सब कुछ कुर्क करा लेता है तो व्यक्ति शोकग्रस्त

कहता है—'इस साहूकार ने मेरा सब कुछ ले लिया, मुझे जीते जी मार डाला।' लेकिन वह जीवित तो होता ही है।

इसी प्रकार जीवात्मा की सम्पत्ति पाँचो इन्द्रियाँ है—कान, नाक, आँख, जवान और शरीर। किसी के द्वारा मार दिये जाने पर वह सम्पत्ति लुट जाती है। आत्मा की इस सम्पत्ति को लूटना ही हिंसा है और इस हिंसा से वचने के लिये 'अहिंसा परमो धर्म' कहा जाता है।

तो साधु एव प्रत्येक साधक को यही समझना है कि अगर कोई व्यक्ति उसे कष्ट पहुँचाता है या उसका वध भी कर देता है तो उसके शरीर की ही हानि होती है, आत्मा का कुछ नही विगडता। इस प्रकार का समभाव आना सवर मार्ग मे प्रवेश करना है, पर यह सहज मे नही आता। मन को वडा मजबूत वनाना पडता है। यद्यपि सवर और आश्रव मे दूरी नही है। जैसे नल के पेच को इधर घुमाया तो पानी गिरना चालू हो जाता है और जरा सा उधर घुमाया तो वन्द हो जाता है। इसी प्रकार मन को स्थिर रखा तो सवर और अस्थिर कर दिया तो आश्रव यानी कर्मो का आना प्रारम्भ होता है।

यहाँ एक वात ध्यान मे रखने की है कि परिषहो के आने पर तो दिल को मजवूत रखना ही है किन्तु उसके अलावा भी हमे जीवन का प्रत्येक क्षण सार्थक करना है। यह सही है कि आत्मा कभी मरती नही है, किन्तु यह मानव शरीर तो इसे पुन पुन नही मिलता। न जाने कितने पुण्यो के उदय से जव यह प्राप्त हो गया है तो इससे लाभ न उठाना महा मूर्खता है। अगर यह शरीर पाकर भी हम व्यर्थ के व्यापार मे लगे रहे तो उससे क्या लाभ होना है?

सन्त तुकाराम जी कहते हैं —

> खापराचे होण, खेलती लेकुरे,
> काय त्या व्यापारे लाभ हानि?

वन्धुओ, आप जानते हैं कि छोटे-छोटे वालक मिट्टी के ठीकरे के पैसे और मिट्टी की ढेरियो को दाल, चावल एव गेहूँ आदि वताकर व्यापार का खेल खेलते हैं। एक वच्चा मिट्टी तोल-तोल कर देता है और दूसरा ठीकरी के पैसे से उन्हे खरीदता है तो उस खेल मे ठीकरी की मोहरो को प्राप्त करके वालको को क्या लाभ हो सकता है? कुछ भी नही। उलटे हाथ-पैर एव कपडे गन्दे हो जाते हैं तथा माता-पिता की डाँट और मार खानी पडती है।

ठीक यही हाल आप लोगो के व्यापार का भी है। आप भी जमीन मे निकली हुई धातु, सोने या चाँदी के और आजकल तो केवल कागजो के सिक्को से दिन-रात

व्यापार करते हैं और जीवन भर करते रहते हैं। पर यह बताइये कि उससे आपको क्या लाभ होता है ? जिस प्रकार बच्चो की खापरखुटी' और मिट्टी का सामान वही पडा रह जाता है, उसी प्रकार क्या आपकी धन-दौलत रुपये-पैसे और जमीन-मकान यही नही रह जाते ? उससे हुआ कौन सा लाभ आपके साथ रहता है ? कुछ भी तो नही। आप बच्चो के ऐसे खेलो को देखकर हँसते है पर हमे आप पर भी इसी प्रकार हँसी आती है कि जैसे बालक अपना थोडी देर मनोरजन करके या खेल खेल करके बिना कुछ प्राप्त किये अपने घर चले जाते हैं, इसी तरह आप भी सासारिक व्यापार का खेल खेलकर खाली हाथ यहाँ से जाने की तैयारी कर लेते हैं।

आगे कहा गया है —

स्वप्नाचे जे सुख, दु ख झाले काही,
जागृति तो नाहीं साच भाव।

मान लीजिये आप सो रहे हैं और स्वप्न मे राजा, महाराजा या बडे साहूकार बन गये हैं। लाखो रुपयो का लेन-देन है और उससे आप महान् सुख का अनुभव करते हैं। किन्तु आँख खुलते ही वह सुख कहाँ रहता है ?

इसी प्रकार कभी-कभी भयप्रद स्वप्न भी देखते हैं, जिसमे शेर आपकी ओर झपटता है या कोई राक्षस आपको दबोच ही लेता है उस समय आप चीखते-चिल्लाते हैं, रोते हैं तथा अत्यधिक दुखी होते हैं। पर जागने पर वह घोर सकट और आपका दु ख क्षण भर मे ही गायब हो जाता है। क्योकि आप जान लेते हैं कि सुख-दु ख स्वप्न के थे, वास्तविक नही। जाग जाने पर कहाँ का सुख और कहाँ का दु ख ?

इसी प्रकार मोहनिद्रा का हाल है। जब तक इस निद्रा मे व्यक्ति पडा रहता है, तब तक उसे ससार के सुख-दु ख सच्चे सुख-दु ख महसूस होते हैं, किन्तु जब वह श्रावकधर्म या साधुधर्म अगीकार कर लेता है तब ज्ञान के द्वारा समझता है कि ससार क्या है और इसमे प्राप्त होने वाले सुख और दु ख कैसे हैं ? वस्तु तत्वो का सच्चा स्वरूप समझने पर ही निस्सार पदार्थों की निस्सारता एव नश्वरता का उसे भान होता है और सच्चे धन की पहचान होती है। एक उदाहरण से इसे और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है।

साथ न जावे कौडी

गुरु नानक एक बार लाहौर आए। वहाँ के अनेक व्यक्ति उनके दर्शन करने आए और अपने आपको कृतार्थ समझते हुए घर लौटे।

लाहौर का एक करोडपति श्रेष्ठि भी उनके पास आया और बोला— "भगवन् ! आप महान हैं। कृपा करके एक बार मेरे घर को अपने चरणो से पवित्र करें।"

गुरुजी ने मुस्कुराकर भगत की प्रार्थना मान ली और उसके साथ चल दिय। घर पहुँचने पर श्रेष्ठि ने गुरु नानक की वडा श्रद्धा से आवभगत की तथा वोला—"महाराज! हमे कुछ उपदेश दे तथा सच्चा मार्ग वताएँ।"

नानक जी ने उसी समय अपने थैले मे से एक छोटी सी सुई निकाली और सेठ से कहा—"भाई इस सुई को सभालकर रखना। अगले जन्म मे जव हम पुन मिलेंगे तो मैं इसे तुमसे वापिस ले लूंगा। पर इसकी सभाल पूरी रखना कही यह लापरवाही से खो न जाय।"

सेठ ने नानक जी की वात पर विशेष ध्यान नही दिया और गुरु का सेवा-कार्य समझकर सुई घर के अन्दर ले गया तथा प्रसन्नतापूर्वक अपनी पत्नी से सारी वात वताई। साथ ही वोला—"भागवान, इसे सम्हालकर कही तिजोरी आदि मे रख लो।"

सेठानी वडी चतुर एव बुद्धिमान स्त्री थी। उसने पति की वात सुनी पर सुनकर वडे आश्चर्य के साथ वोली—"आप कैसी वात कह रहे हैं? हम इस सुई को भला अगले जन्म तक कैसे साथ रख सकेंगे? मरने पर तो इस ससार की समस्त वस्तुएँ यही रह जाती हैं और आत्मा अकेली ही इस लोक से जाती है।"

अव सेठजी की समझ मे वात आ गई और वे भी सुई की समस्या को लेकर चकरा गये। वे वोले—"चलो हम दोनो गुरुजी से ही उनके इस कार्य का रहस्य समझ ले। वे अभी दिवानखाने मे ही विराजे हुए है।"

पति पत्नी दोनो ही अपने भवन के वाहरी हिस्से मे आए और नानक जी से वोले—"गुरुदेव! हम इस सुई को अगले जन्म तक किस प्रकार साथ रख सकेंगे?"

गुरुजी मुस्कराये पर उनकी वात का उत्तर न देते हुए उन्होंने एक प्रश्न पूछा—"श्रेष्ठिवर! आपके महल के ऊपर ये सात झडे कैसे लहरा रहे हैं? इसका क्या कारण है?"

"महाराज! मैंने अव तक ये सात करोड रुपया एकत्र कर लिया है। एक-एक झडा एक-एक करोड का चिह्न है। इसलिए ये सात झडे भवन के ऊपर लगाये गये हैं।"

गुरु नानक आश्चर्य के भाव से वोले—"अरे! आपके पास इतना धन है? वडे भाग्यवान् है आप। पर मुझे यह वताइये कि जव आप सात करोड रुपया सभाल सकते हैं और उसे अगले ससार मे साथ ले जाने की आशा रखते हैं तो फिर मेरी इस छोटी सी सुई को भी साथ ले जाने मे क्यो हिचकिचा रहे है? क्या आपने इस धन के वारे मे नही सोचा कभी कि इसे साथ कैसे ले जाएँगे?"

सेठ और सेठानी गुरु नानक की वात का रहस्य समझ गये। उन्होंने जीवन

की अनित्यता एव धन की निस्सारता को भलीभाँति समझ लिया। परिणामस्वरूप अपना सारा धन उन्होने गरीबो को दान कर दिया तथा कम से कम पैसे मे गुजर-बसर करते हुए लोगो की सेवा मे दिन गुजारने लगे।

वस्तुत इस लोक से जीव के साथ एक कौडी भी नही जाती। साथ मे जाता है तो केवल पुण्य और पाप। इसलिए सासारिक वस्तुओ मे आसक्ति रखना महान् मूर्खता है। और तो और, ससार की वस्तुएँ तो इस लोक मे भी मनुष्य का साथ नही देती।

पचतत्र मे एक श्लोक दिया गया है—

अभ्रच्छाया खलप्रीति सिद्धमन्न च योषित ।
किंचित् कालोपभोग्यानि, यौवनानि धनानि च ।।

बादल की छाया, दुष्टो की प्रीति, पका हुआ अन्न, स्त्री, धन एव यौवन—ये छ चीजे अल्पकाल तक ही उपयोग मे आने योग्य है, अर्थात् अस्थिर है।

इसलिए बन्धुओ, महा मुश्किल से मिले हुए इस मानव जन्म को हमे ससार के नाशवान एव अस्थिर पदार्थों को भोगने मे तथा उनके लिए नाना प्रकार के पाप-कर्मो को करने मे ही नही गँवाना चाहिये। तारीफ की बात तो यह है कि आज व्यक्ति सासारिक कार्यो को करने मे तो सदा तत्पर रहता है, किन्तु आत्मिक अर्थात् आत्मा को लाभ पहुँचाने वाले कार्यों को करने मे प्रमाद करता है और उसकी यह प्रमाद-निद्रा कभी भी समाप्त नही होती, चाहे जीवन समाप्त हो जाता है। पर ऐसा करने से उसे जीवन का क्या लाभ प्राप्त हो सकता है ? कुछ भी नही। उसके लिए यह जीवन मिला न मिला समान ही रहता है। कहा भी है—

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रज पाद शौच विधत्ते,
पीयूषेण प्रवरकरिण वाहयत्यैन्ध भारम् ।
चिन्तारत्न विकिरति कराद् वायसोड्डायनार्थं,
यो दुष्प्राप्य गमयति मुधा मर्त्यजन्ममत्त ।।

—सिन्दूर प्रकरण ५

कहा है—जो व्यक्ति प्रमाद के वश मे रहकर मनुष्य जीवन को व्यर्थ गँवा रहा है, वह अज्ञानी मनुष्य मानो सोने के थाल मे मिट्टी भर रहा है, अमृत से पैर धो रहा है, उत्तम हाथी पर ईंधन ढो रहा है या चिन्तामणि रत्न को कौए उडाने के लिए फैंक रहा है।

इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को जीवन का महत्व समझना चाहिये तथा मोह-निद्रा से जाग्रत हो जाना चाहिये। जब तक व्यक्ति प्रमाद अथवा मोह की नीद मे सोया

रहेगा, उसे ससार की वस्तुओ मे सुख और दु ख का अनुभव होगा। किन्तु इस नीद के उडते ही उसे समझ मे आ जाएगा कि ससार की वस्तुओ से प्राप्त होने वाले सुख और दु ख क्षणिक तथा स्वप्नवत् है। सच्चे श्रावक और साधु जब अपने व्रतो को ग्रहण कर लेते है और उनमे गहराई तक उतर कर रम जाते है तो उन्हे समझ मे आ जाता है कि ससार कैसा है और इसमे मिलने वाले सुख तथा दु ख किस प्रकार के हैं। वस्तु-स्वरूप का वोध हो जाने पर वाकी सव कुछ उन्हे निस्सार लगने लगता है। और ऐसा होने पर ही व्यक्ति आश्रव को रोककर सवर-मार्ग मे प्रवेश करता है। जिस साधक को आश्रव से भय और सवर मे रुचि हो जाती है वह पापो से भयभीत होता हुआ कभी नवीन कर्मों को बँधने नही देता। इसके लिए चाहे उसे कोई कष्ट पहुँचाये, मारे-पीटे अथवा मरणातक दु ख ही क्यो न दे। सच्चा साधक कभी मृत्यु से भयभीत नही होता। वह भली-भाँति जानता है कि यह शरीर तो एक दिन नष्ट होना ही है, फिर इसके मोह मे पडकर क्रोध, कषाय, ईर्ष्या, द्वेप अथवा वदले की भावना मे नये कर्मों का वधन क्यो किया जाय? क्या इस शरीर को परिषह प्रदान करने वाले प्राणियो से वचा लिया जाएगा तो फिर यह नष्ट नही होगा? होगा, क्योकि काल तो निश्चय ही एक दिन इसे समाप्त कर देगा, चाहे व्यक्ति चतुरगिणी सेना को अपने पहरे पर नियुक्त कर दे, धन्वन्तरि वैद्य के सिद्ध रसायन सतत् खाता रहे अथवा तत्र-मत्र जानने वालो की कतार ही अपने सन्मुख क्यो न सदा उपस्थित रखे।

पूज्यपाद श्री अमी ऋषि जी म० ने अपने एक पद्य मे कहा है—

अन्त करे सवही जग को पै,
कृतात पै तो किनकी न चली।
नर्क पशु सुर मानव वृन्द,
मरे तन धूलि मे जाय मिली॥
मन्त्र रसायन आदि उपाय,
किये नहि काल की चोट टली।
कहत अमीरिख सिद्ध विना,
सवके सग डोलत काल वली॥

पद्य का अर्थ सरल है, आप समझ गये होंगे कि यमराज पर किसी का वश नहीं चलता। वह समय पाते ही प्रत्येक प्राणी को इस लोक से ले जाता है। चाहे जीव नर्कगति मे हो, तिर्यचगति मे हो, मनुष्यगति मे हो और चाहे स्वर्ग मे देवता ही क्यो न हो, प्रत्येक का अन्त काल करता है। कवि का कहना है कि ससार के प्रत्येक प्राणी के साथ काल छाया के समान लगा रहता है और मन्त्र, तन्त्र, औषधि एव सुरक्षा के लाख उपाय करने पर भी उसे नहीं छोडता।

इसीलिए भगवान ने प्रत्येक साधक को और मुनि को अनिवार्य आदेश दिया है कि कैसा भी परिषह क्यो न सामने आए, कभी भी उससे विचलित होकर अपने साधनापथ से मत हटो। किसी दुष्ट व्यक्ति के द्वारा शारीरिक या मरणातक कष्ट दिये जाने पर अगर साधक के मन मे क्रोध आ गया तो समझना चाहिए कि वह सवर मार्ग से च्युत होकर आश्रव की ओर गमन कर रहा है। क्योकि क्रोध ऐसा कषाय है, जिसका उद्रेक होने पर व्यक्ति आपे मे नही रहता तथा औरो का अहित करने के साथ ही अपना ही बुरा कर बैठता है। अत शास्त्रकार कहते है कि 'आक्रोश' अथवा 'वध-परिषह' के उपस्थित होने पर भी आत्म-मुक्ति के अभिलाषी साधक को कषाय पर विजय प्राप्त करते हुए पूर्णतया समभाव मे विचरण करना चाहिए। उसे यह निश्चित रूप से जानना चाहिए कि उपसर्ग और परिषह उसके लिए पुराना कर्ज है, जिसे चुकाना तो अनिवार्य है ही, पर उन्हे चुकाते समय कषाय करके नवीन कर्ज न चढा लिया जाय। जो साधक या मुनि इस बात को भली-भाँति समझ लेते है वे सवर की आराधना करते हुए अपने मानव जीवन को सफल कर लेते हैं तथा जीवन के लक्ष्य को हासिल करने मे समर्थ बनते है।

११ | याचना परिषह पर विजय

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

हमारा सवर तत्त्व के विषय मे विवेचन चल रहा है। कल 'वध-परिषह' के विषय मे बताया गया था और आज सवर के बाईसवें भेद यानी चौदहवें परिषह क विषय मे कहा जाएगा। यह परिषह 'याचना परिषह' कहलाता है। किसी से याचना करना सरल नही है, अपितु वडा कठिन कार्य है।

आज आप लोगो से अगर कहा जाय कि एक दिन के लिए ही सही, पर आप झोली लेकर कुछ घरो मे अपने खाने के लिए माँग लाइये अर्थात् भिक्षा ले आइये तो सुनते ही आपका पारा गरम हो उठेगा। इस वात को सुनने मे भी आप अपना अपमान महसूस करेंगे और अपने गौरव पर की हुई चोट समझेंगे।

किन्तु हमारे साधु-समाज मे ऐसा सोचने से काम नही चलता। यहाँ तो साधु चाहे निर्धन कुल मे आया हो अथवा कोई श्रेष्ठि, राजा, महाराजा या चक्रवर्ती ही क्यो न रहा हो, जव वह सयम ग्रहण कर लेता है तो उसे अपने लिए भिक्षा लेने जाना ही पडता है और याचना करनी होती है।

पर यहाँ यह वात ध्यान मे रखने की है कि गृहस्थो के आहार ग्रहण करने की भावना मे और साधु के आहार ग्रहण करने की भावना मे वडा भारी अन्तर होता है। गृहस्थ जहाँ भोजन जीभ के स्वाद की दृष्टि मे और शरीर को पौष्टिक वनाने की दृष्टि से खाता है, वहाँ साधु उसे केवल शरीर को भाडा देने की दृष्टि मे ग्रहण करता है। वह न खाद्य-पदार्थों के मरस या नीरस होने की परवाह करता है और न ही उसके पौष्टिक होने का खयाल रखता है। वह तो जो कुछ, जैसा और जितना भी मिल जाय अर्थात् भले ही उससे उदरपूर्ति न हो, लेकर पेट मे डाल लेता है कि उसके द्वारा शरीर टिका रह सके और उसके द्वारा भक्ति, जप, तप एव साधना आदि आत्मिक लाभ की क्रियाएँ की जा सकें।

भगवान महावीर ने 'याचना परिषह' के विषय मे फरमाया है—

दुक्कर खलु भो निच्च अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्व से जाइय होइ, नत्थि किंचि अजाइय॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २, गा० २८

अर्थात्—हे लोगो ! साधु का आचार अत्यन्त कठिन है। उसके उपकरण आदि समस्त पदार्थ मांगे हुए होते हैं, बिना मागा तो उसके पास कुछ भी नही होता।

इस गाथा मे भगवान ने साधुचर्या को अत्यन्त दुष्कर बताया है, क्योकि साधु-जीवन मे आयुपर्यन्त याचनावृत्ति बनी रहती है। साधु के पास वस्त्र एव पात्र आदि जो भी उपकरण होते हैं, वे सब गृहस्थो से माँगे हुए होते हैं। बिना माँगी एक भी वस्तु उसके पास नही होती। जिस वस्तु की भी उसको जरूरत होती है वह बिना मागे उसके पास नही आती और यह वृत्ति सदा उसके साथ बनी रहती है, अत इस परतन्त्रता के कारण ही साधु-जीवन को अत्यन्त दुष्कर माना जाता है। किन्तु साधु को याचना करना परिषह नही समझना चाहिए तथा आवश्यकतानुसार वस्तु को माँगने मे किसी भी प्रकार की लज्जा का, हीनता का अथवा सकोच का अनुभव नही करना चाहिए।

सच्चे साधु इस परिषह को भी हर्ष या शोक से रहित होकर सहन करते हैं। सत-समाज मे सेवाभावी सत तपस्वी या रोगी साधुओ की सेवा के लिए प्रति-पल तैयार रहते हैं। उनके दिल मे इस प्रकार का अभिमान नही होता कि मैं अमुक कार्य नही करूँगा अथवा पुन पुन वस्तुओ की याचना के लिए नही जाऊँगा।

मैंने स्वय देखा है कि मुनि कृष्णमोहन जी करीब बहत्तर वर्ष की उम्र के थे। किन्तु आहार एक बार ले आने पर भी अगर वे देखते कि सतो को यह कम होगा तो चुपचाप पुन चल देते थे। कभी यह विचार नही करते थे कि एक बार चक्कर लगाकर मैं थक गया हूँ या दुबारा जाने मे शर्म आएगी। सयोग मिले तो साधु ले आता है और न मिले तो न सही।

तो, भिक्षा लाना बडा कठिन कार्य है, वस्त्र तो एक बार ले लिया फिर कई दिनो तक माँगने की जरूरत नही पडती, किन्तु आहार तो एक दिन नही, नित्य ही लाना पडता है। जब तक जीवन है भिक्षा लाने से छुटकारा नही मिलता। सग्रह तो साधु किसी भी चीज का नहीं कर सकता। वस्त्र या पात्र वह इतना ही रखेगा, जितना अपने हाथो से विहार करते समय उठा सकेगा और खाने-पीने की वस्तु को तो एक रात भी वह अपने पास नही रख सकता, ऐसा नियम है। इसलिए प्रतिदिन उसे भिक्षाचरी के लिए जाना पडता है। यह भी नही हो सकता कि कोई गृहस्थ स्वय लाकर दे दे अथवा किसी से कहकर ही अपने निवास पर मगा लिया जाय।

कभी-कभी तो भिक्षा लेने के लिए काफी-काफी समय तक भी लोगो को समझाना पडता है और अनेक बार गालियाँ या अपशब्द सुनने को मिलते हैं, भिक्षा नही मिलती।

एक बार हम दक्षिण से मालवे की तरफ जा रहे थे, साथ मे मेरे छोटे गुरु-भाई उत्तमऋषिजी थे। धूलिया से आगे 'पलाशनेर' गाँव आता है। आठ-दस

कोम का मार्ग था किन्तु अवस्था अधिक नही थी अत उत्साह के कारण चलते गये। आखिर गाँव आया। वहाँ जैन श्रावको के घर नही थे। पूछने पर मालूम हुआ कि ब्राह्मण का घर है। मैं काफी थक गया था अत उत्तमऋषि जी भिक्षा के लिए गये। ब्राह्मण के घर से बाहर ही उसकी दुकान थी। उत्तमऋषि जी वहाँ पहुँचे कि शायद भुने हुए चने वगैरह मिल जायें। ब्राह्मण के मन मे कुछ भावना जागी और वह उत्तमऋषि जी से बोला—"चलो, तुमको रोटी दिलाता हूँ।" सत ब्राह्मण के साथ घर गये तो ब्राह्मण बोला—"दरवाजे पर खडे रहो, मैं रोटी ला देता हूँ।"

किन्तु सत ने कहा—"भाई! इस तरह हम आहार नही लेते। पहले घर मे जाकर देखेंगे, फिर लेंगे।"

इस बात पर ब्राह्मण नाराज हो गया और बोला—"अरे वाह! घर मे घुसने की क्या जरूरत है? तुम्हे रोटी ही तो चाहिए, मैं लाकर दे दूँगा।" सत नही माने और वहाँ से लौट चले तो ब्राह्मण उनके साथ मेरे पास आया और कहने लगा "महाराज! यह तुम्हारे कैसे नियम है कि घर मे घुसकर देखेंगे, तब रोटी लेंगे?"

मैंने ब्राह्मण को समझाया—"देखो, हमे घर मे जाकर देखना पडता है कि खाने की वस्तु शुद्ध है या नही? शुद्ध हो तभी ले सकते है। हम जानते हैं कि इस ससार मे कनक और कामिनी दो ही चीजें हैं, जिन्हे देखकर मन बिगडता है पर प्रत्येक स्त्री हमारे लिए माता या बहन के समान है तथा धन मिट्टी के समान। पर घर मे जाकर इसलिए देखते हैं कि कोई खाद्य पदार्थ अशुद्ध तो नही है। इसीलिए सत घर के अन्दर जाना चाहते थे।"

इस प्रकार ब्राह्मण को काफी समझाया किन्तु वह टस से मस नही हुआ और बोला—"घर मे तो मैं साधु को नही घुसने दूँगा। चने चाहिए तो ले लो।"

मैंने उत्तर दिया—"ठीक है, हम चने ही ले लेंगे।"

साराश यही है कि याचना के लिए जाना कठिन है तथा अपने नियमो का पालन करते हुए भिक्षा लाना उससे भी कठिन है। आप विचार करते है कि बडे-बडे शहरो मे सतो को क्या तकलीफ है? बहुत घर होते हैं अत सहज ही आहार की उपलब्धि हो जाती है।

आपका यह विचार करना ठीक है, पर साधु एक स्थान पर केवल चातुर्मास मे ही ठहरते हैं। बाकी समय मे तो उन्हे ग्रामानुग्राम विचरण करना पडता है। और उस काल मे आहार-जल के लिए उन्हे न जाने कितनी परेशानियाँ उठानी पडती हैं तथा कितनी ही अप्रिय बातें भी सुननी होती हैं। साथ ही आहार ताजा मिले या बासी, कपडा नया मिले या पुराना किन्तु सयम की मर्यादा के अनुसार ही लिया जा सकता है। इस प्रकार साधु को याचना जीवन भर करनी पडती है और साथ ही

याचना परिषह पर विजय

अपनी मर्यादा का खयाल रखते हुए शरीर को भाडे के रूप मे अन्न एव वस्त्र देना पडता है।

आप व्यापारी लोग जिस प्रकार दुकान के लिए जगह किराये पर लेते हैं तथा उसके मालिक को किराया देकर अपने धन्धे से मुनाफा कमाते हैं। इसी प्रकार साधु शरीर को भी किराये पर ली हुई जगह समझते हैं तथा उसे आहार-जल के रूप मे भाडा देते हुए जप, तप, सेवा, भक्ति एव ज्ञान-ध्यान रूपी धन्धा करके कर्म-निर्जरा के रूप मे मुनाफा कमाते हैं। केवल शरीर को पुष्ट करने के लिए साधु आहार नही लेते।

सत तुकाराम जी ने कहा है—

> **''मागणे लई नाहीं, लई नाहीं,**
> **पोटा पुरते देई, मागणे लई नाहीं।**

सत प्रभु से कहते हैं—''हे भगवन्! हम आपसे अधिक नही माँगते। केवल पेट भर जाय और उससे शरीर टिका रहे, बस इतना ही माँगते है। अधिक कदापि नही।

वस्तुत आहार का वास्तविक प्रयोजन शरीर यात्रा का निर्वाह करना है। प्राणियो का शरीर कुदरती तौर पर इस प्रकार का बना हुआ है कि आहार के विना वह अधिक समय तक नही टिक सकता। यही कारण है कि सत, मुनि एव तपस्वियो को भी पारणे के दिन आहार करना पडता है। शरीर को टिकाने की दृष्टि से आहार ग्रहण करना अनिवार्य है अत जगत के किसी भी धर्मशास्त्र मे आहार करने का निषेध नही किया गया है।

फिर भी सत, मुनि एव महापुरुष विना किसी स्वाद-लोलुपता के शरीर के निर्वाह मात्र को आहार ग्रहण करते हैं तथा उसमे भी अगर कभी कोई भूखा व्यक्ति सम्मुख आ जाता है तो विना हिचकिचाहट के अपना भाग उसे प्रदान कर देते हैं। एक प्रसिद्ध वैदिक कथा है—

सर्वश्रेष्ठ दान

महाभारत की समाप्ति के बाद युधिष्ठिर हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठे। राज्य प्राप्त करने के पश्चात् उन्होने 'अश्वमेध' नामक बडा भारी यज्ञ किया। इस महायज्ञ मे भारत के समस्त राजा-महाराजा आए। बडी धूम-धाम से यज्ञ हुआ। उस अवसर पर देश के कोने-कोने मे भी मुनादी करवा दी गई कि जितने भी ब्राह्मण एव दीन-दरिद्र व्यक्ति दान लेना चाहे, निस्सकोच आएँ तथा राजाधिराज युधिष्ठिर के द्वारा अन्न, वस्त्र एव धन ले जाएँ।

इस घोषणा के कारण प्रत्येक जाति के अभावग्रस्त व्यक्ति दल के दल आते जा रहे थे तथा युधिष्ठिर के द्वारा इच्छित दान लेकर लौट रहे थे। इस प्रकार शास्त्रोक्त रीति का पूर्णतया पालन करते हुए महायज्ञ सम्पन्न किया गया।

किन्तु यज्ञ की समाप्ति के दिन एक बडी विस्मयजनक घटना हुई। वह इस प्रकार कि उस दिन अचानक एक बडा सा नेवला वहाँ आया। नेवले का शरीर अजीब दिखाई दे रहा था, क्योंकि उसका आधा शरीर सुनहरा था और आधा वैसा, जैसा कि साधारण नेवलो का होता है।

वह नेवला यज्ञशाला के मध्य मे आया और वहाँ उपस्थित असख्य व्यक्तियो को देखकर जोर-जोर से हँसने लगा। उसे इस प्रकार मनुष्यो के समान हँसते देखकर उपस्थित जन-समुदाय चौंक उठा तथा लोग समझे कि कदाचित कोई भूत-पिशाच नेवले का रूप धारण करके यज्ञ मे विघ्न डालने आया है। वे चौंकते हुए नेवले को देख रहे थे जो निर्भीकता पूर्वक यज्ञशाला की भूमि पर लोट रहा था।

कुछ समय तक इस दृश्य को देखने के पश्चात् कुछ लोगो ने हिम्मत करके नेवले से भूमि पर लोटने का और उसके जोर से हँसने का कारण पूछा।

इस पर नेवला मनुष्यों के जैसी भाषा मे बोला—"सज्जनो! आप यह यज्ञ करके बडे प्रसन्न दिखाई दे रहे हैं और सोच रहे हैं कि हमने यह यज्ञ करके बडी प्रशसा के योग्य कार्य किया है। पर याद रखिये आपका यह गर्व मिथ्या और भ्रम-मात्र है। इससे महान यज्ञ तो कुरुक्षेत्र मे रहने वाले एक गरीब ब्राह्मण ने बहुत पहले किया था जिसका मुकाबला आपका यह यज्ञ नही कर सकता।"

यज्ञशाला मे उपस्थित लोग नेवले को देखकर जितना चौंके थे, उससे भी अधिक उसकी बात सुनकर चौंक पडे। अनेक याजक ब्राह्मणो ने उससे पूछा—

"भाई! तुम कौन हो? कहाँ से आये हो और इस अश्वमेध महायज्ञ की बुराई क्यो कर रहे हो? यह यज्ञ सभी शास्त्रोक्त विधियो और सामग्रियों के द्वारा किया गया है तथा इस यज्ञ मे आने वाले धनी-निर्धन एव याचको को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट किया है। न यहाँ मन्त्र-पाठ मे कोई त्रुटि हुई है, न आहुतियाँ गलत तरीके से दी गई हैं और न ही दान मे कही कमी की गई है। चारो वर्णो के व्यक्ति पूर्ण रूप से सन्तुष्ट किये गये हैं। फिर किस कारण तुम इसे गलत और दोषपूर्ण बता रहे हो?"

नेवले ने अपनी बात पर जोर देकर पुन कहा—"मैं सत्य कहता हूँ कि उस दरिद्र ब्राह्मण ने एक सेर आटे से जो यज्ञ किया था, वह आपके लाखो रुपये खर्च करके किये गये इस महायज्ञ की तुलना मे अनेक गुना अधिक महत्त्वपूर्ण था।"

"एक सेर आटे मे यज्ञ ?" लोग इस बात को सुनकर मुंह बाये खडे रह गये। पर अपनी उत्सुकता शान्त न कर पाने के कारण फिर कह बैठे—"कैसी बातें कर रहे हो तुम ? इस महान् यज्ञ से बडा यज्ञ केवल एक सेर आटे मे किया गया था ? और वह भी एक दीन-दरिद्र ब्राह्मण के द्वारा ? क्या प्रमाण है इसका तुम्हारे पास कि उसका यज्ञ हमारे इस शास्त्रोक्त यज्ञ से महान् था ?"

इन प्रश्नो को सुनकर नेवला बोला—"अगर आप लोग जानना ही चाहते हैं तो सुनिये ! इस महाभारत के युद्ध से पहले कुरुक्षेत्र मे एक अत्यन्त गरीब ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधू भी उसके परिवार मे थे। उनके पास पैसा नही था अत खेतो मे बिखरे हुए अनाज के दानो को बीन-बीनकर वे इकट्ठा करते थे और तीसरा पहर प्रारम्भ होने के कुछ पहले ही सब आपस मे बाँटकर खा लिया करते थे।

वे अनाज मिलने पर अपने नियत समय पर खाते थे और उस समय तक अगर कभी अनाज न मिलता तो चारो उपवास कर लेते थे। एक बार पानी न बरसने के कारण बडा भारी अकाल पड गया। चारो तरफ लोग भूख एव प्यास से तडपने लगे। ऐसी स्थिति मे खेतो मे कुछ उगता नही था और जब उगता नही था तो फसल कहाँ से कटती और अनाज वहाँ बिखरता भी कैसे ? अत ब्राह्मण परिवार को कई दिन तक निराहार रहना पडा।

पर एक दिन सयोगवश वे लोग बहुत दूर निकल गये और तपती दोपहर मे घूमते-घामते उन्हे करीब एक सेर ज्वार के दाने मिल गये। उन दानो को बीनते हुए उन्हे घण्टो लगे पर वे प्रसन्न होकर घर लौटे और उनका आटा पीसा। परिवार के चारो सदस्यो ने अपना नित्य का पूजा-पाठ समाप्त किया। इसके पश्चात् उस आटे को बराबर-बराबर चार भागो मे बाँटकर वे प्रसन्नता पूर्वक खाने के लिए बैठे।

किन्तु ठीक उसी समय एक ब्राह्मण वहाँ आया और उसने भूख से पीडित होने की दुहाई देते हुए अपने लिए भोजन माँगा। ब्राह्मण तो अतिथि को देखते ही उठ खडा हुआ और उसने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक विधिवत् उसका सत्कार किया। उसे अपने समीप बैठाया और कहा—"विप्रवर और तो कुछ हमारे पास है नही, केवल परिश्रम से तैयार किया हुआ यह ज्वार का आटा है। कृपा करके आप इसे ग्रहण करें।" यह कहते हुए हर्ष-विह्वल होकर ब्राह्मण ने अपने भाग का आटा अतिथि के समक्ष रख दिया।

अतिथि ने ब्राह्मण के हिस्से का आटा खा लिया किन्तु उसकी भूख नही मिटी और वह तृषित नेत्रों से ब्राह्मण की ओर देखने लगा। ब्राह्मण ने यह समझ लिया और समझकर वह चिन्तित हो गया कि ब्राह्मण को अब क्या खिलाऊँ।

इस घोषणा के कारण प्रत्येक जाति के अभावग्रस्त व्यक्ति दल के दल आते जा रहे थे तथा युधिष्ठिर के द्वारा इच्छित दान लेकर लौट रहे थे। इस प्रकार शास्त्रोक्त रीति का पूर्णतया पालन करते हुए महायज्ञ सम्पन्न किया गया।

किन्तु यज्ञ की समाप्ति के दिन एक बड़ी विस्मयजनक घटना हुई। वह इस प्रकार कि उस दिन अचानक एक बड़ा सा नेवला वहाँ आया। नेवले का शरीर अजीब दिखाई दे रहा था, क्योंकि उसका आधा शरीर सुनहरा था और आधा वैसा, जैसा कि साधारण नेवलों का होता है।

वह नेवला यज्ञशाला के मध्य में आया और वहाँ उपस्थित असंख्य व्यक्तियों को देखकर जोर-जोर से हँसने लगा। उसे इस प्रकार मनुष्यों के समान हँसते देखकर उपस्थित जन-समुदाय चौंक उठा तथा लोग समझे कि कदाचित कोई भूत-पिशाच नेवले का रूप धारण करके यज्ञ में विघ्न डालने आया है। वे चौंकते हुए नेवले को देख रहे थे जो निर्भीकता पूर्वक यज्ञशाला की भूमि पर लोट रहा था।

कुछ समय तक इस दृश्य को देखने के पश्चात् कुछ लोगों ने हिम्मत करके नेवले से भूमि पर लोटने का और उसके जोर से हँसने का कारण पूछा।

इस पर नेवला मनुष्यों के जैसी भाषा में बोला—"सज्जनो! आप यह यज्ञ करके बड़े प्रसन्न दिखाई दे रहे हैं और सोच रहे हैं कि हमने यह यज्ञ करके बड़ी प्रशंसा के योग्य कार्य किया है। पर याद रखिये आपका यह गर्व मिथ्या और भ्रम-मात्र है। इससे महान यज्ञ तो कुरुक्षेत्र में रहने वाले एक गरीब ब्राह्मण ने बहुत पहले किया था जिसका मुकाबला आपका यह यज्ञ नहीं कर सकता।"

यज्ञशाला में उपस्थित लोग नेवले को देखकर जितना चौंके थे, उससे भी अधिक उसकी बात सुनकर चौंक पड़े। अनेक याजक ब्राह्मणों ने उससे पूछा—

"भाई! तुम कौन हो? कहाँ से आये हो और इस अश्वमेध महायज्ञ की बुराई क्यों कर रहे हो? यह यज्ञ सभी शास्त्रोक्त विधियों और सामग्रियों के द्वारा किया गया है तथा इस यज्ञ में आने वाले धनी-निर्धन एवं याचकों को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट किया है। न यहाँ मन्त्र-पाठ में कोई त्रुटि हुई है, न आहुतियाँ गलत तरीके से दी गई हैं और न ही दान में कहीं कमी की गई है। चारों वर्णों के व्यक्ति पूर्ण रूप से सन्तुष्ट किये गये हैं। फिर किस कारण तुम इसे गलत और दोषपूर्ण बता रहे हो?"

नेवले ने अपनी बात पर जोर देकर पुनः कहा—"मैं सत्य कहता हूँ कि उस दरिद्र ब्राह्मण ने एक सेर आटे से जो यज्ञ किया था, वह आपके लाखों रुपये खर्च करके किये गये इस महायज्ञ की तुलना से अनेक गुना अधिक महत्त्वपूर्ण था।"

"एक सेर आटे मे यज्ञ ?" लोग इस बात को सुनकर मुंह बाये खडे रह गये। पर अपनी उत्सुकता शान्त न कर पाने के कारण फिर कह बैठे—"कैसी बाते कर रहे हो तुम ? इस महान् यज्ञ से बडा यज्ञ केवल एक सेर आटे मे किया गया था ? और वह भी एक दीन-दरिद्र ब्राह्मण के द्वारा ? क्या प्रमाण है इसका तुम्हारे पास कि उसका यज्ञ हमारे इस शास्त्रोक्त यज्ञ से महान् था ?"

इन प्रश्नो को सुनकर नेवला बोला—"अगर आप लोग जानना ही चाहते है तो सुनिये ! इस महाभारत के युद्ध से पहले कुरुक्षेत्र मे एक अत्यन्त गरीब ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधू भी उसके परिवार मे थे। उनके पास पैसा नही था अत खेतो मे बिखरे हुए अनाज के दानो को बीन-बीनकर वे इकट्ठा करते थे और तीसरा पहर प्रारम्भ होने के कुछ पहले ही सब आपस मे बाँटकर खा लिया करते थे।

वे अनाज मिलने पर अपने नियत समय पर खाते थे और उस समय तक अगर कभी अनाज न मिलता तो चारो उपवास कर लेते थे। एक बार पानी न बरसने के कारण बडा भारी अकाल पड गया। चारो तरफ लोग भूख एव प्यास से तडपने लगे। ऐसी स्थिति मे खेतो मे कुछ उगता नही था और जब उगता नही था तो फसल कहाँ से कटती और अनाज वहाँ बिखरता भी कैसे ? अत ब्राह्मण परिवार को कई दिन तक निराहार रहना पडा।

पर एक दिन सयोगवश वे लोग बहुत दूर निकल गये और तपती दोपहर मे घूमते-घामते उन्हे करीब एक सेर ज्वार के दाने मिल गये। उन दानो को बीनते हुए उन्हें घण्टो लगे पर वे प्रसन्न होकर घर लौटे और उनका आटा पीसा। परिवार के चारो सदस्यो ने अपना नित्य का पूजा-पाठ समाप्त किया। इसके पश्चात् उस आटे को बराबर-बराबर चार भागो मे बाँटकर वे प्रसन्नता पूर्वक खाने के लिए बैठे।

किन्तु ठीक उसी समय एक ब्राह्मण वहाँ आया और उसने भूख से पीडित होने की दुहाई देते हुए अपने लिए भोजन माँगा। ब्राह्मण तो अतिथि को देखते ही उठ खडा हुआ और उसने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक विधिवत् उसका सत्कार किया। उसे अपने समीप बैठाया और कहा—"विप्रवर और तो कुछ हमारे पास है नही, केवल परिश्रम से तैयार किया हुआ यह ज्वार का आटा है। कृपा करके आप इसे ग्रहण करें।" यह कहते हुए हर्ष-विह्वल होकर ब्राह्मण ने अपने भाग का आटा अतिथि के समक्ष रख दिया।

अतिथि ने ब्राह्मण के हिस्से का आटा खा लिया किन्तु उसकी भूख नही मिटी और वह तृषित नेत्रो से ब्राह्मण की ओर देखने लगा। ब्राह्मण ने यह समझ लिया और समझकर वह चिन्तित हो गया कि ब्राह्मण को अब क्या खिलाऊँ।

"इस स्थिति मे कुछ क्षण भी नही बीते थे कि चतुर एव पतिव्रता ब्राह्मणी जो कि समीप ही बैठी थी, बोल उठी—"स्वामी ! मेरे हिस्से का यह आटा भी अतिथि देवता के समक्ष रख दीजिये ।"

ब्राह्मण सकुचित होता हुआ बोला—"देवी तुम भूखी हो। पति का कर्तव्य तो पत्नी का भरण-पोषण करना होता है, किन्तु मैं कई दिनो से तुम्हे कुछ भी नही खिला सका, इसलिए तुम्हारा शरीर अत्यन्त निर्बल हो गया है। फिर भला तुम्हे भूखी रखकर मैं अतिथि-सत्कार कैसे करूँ ?"

पर पत्नी कब मानने वाली थी ? आग्रहपूर्वक बोली—"मैं आपकी सहधर्मिणी हूँ। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सभी मे मेरा आपके समान अधिकार तो आतिथ्य मे क्यो नही होगा ? आप कृपा करके मेरे हिस्से का आटा भी सहर्ष अतिथि को प्रदान करिये ।"

ब्राह्मण ने पत्नी की पति-भक्ति एव अतिथि-सत्कार का आदर करते हुए उसके हिस्से का आटा भी अतिथि के समक्ष रख दिया। पर उसे खा चुकने पर भी ब्राह्मण की भूख नही मिटी। इस पर ब्राह्मण बडा उदास हुआ और अतिथि को सन्तुष्ट न कर पाने के कारण दुखी होने लगा।

यह देखते ही ब्राह्मण का पुत्र बोला—"पिताजी ! आप चिन्ता क्यो कर रहे हैं ? यह मेरा आटा रखा है न, इसे अतिथि को खिलाइये ।"

पुत्र की बात सुनकर ब्राह्मण व्यथित होता हुआ कहने लगा—"बेटा ! बूढे व्यक्ति भूख सहन कर लेते है पर जवानी मे तो भूख अधिक सताती है, फिर मैं किस प्रकार तुम्हारा हिस्सा अतिथि को दूं ?"

सपूत पुत्र बोला—"पिताजी ! पुत्र का कर्तव्य पिता के गौरव और धर्म को अक्षुण्ण रखना होता है। इसके अलावा भूख भले ही जवानी मे अधिक लगती हो पर जवान शरीर अधिक समय तक भूख सहन भी कर लेता है तथा कृश नही होता। मुझे तनिक भी कष्ट नही है। आप सहर्ष इस आटे को अतिथि के सन्मुख रखे।"

इस बात पर बेटे के लिए गर्व करते हुए ब्राह्मण ने अपने पुत्र का हिस्सा भी अतिथि को सन्तुष्ट करने के लिए दे दिया।

पर आश्चर्य की बात थी कि अतिथि का पेट तब भी नही भरा और उसके मुँह पर सन्तोष की झलक दिखाई नही दी। यह देखकर ब्राह्मण अत्यन्त लज्जित होता हुआ मस्तक झुकाकर बैठ गया। पर उसी क्षण उसकी पुत्रवधू कहने लगी—"पिताजी ! यह मेरा हिस्सा भी मैं अपने आगत अतिथि को देना चाहती हूँ। आप यह आटा कृपा करके इनके सन्मुख रख दीजिए। मेरा तो आपके आशीर्वाद से ही कल्याण होगा।"

ब्राह्मण वडे धर्म-सकट मे पड गया और अत्यन्त कातर होकर वोला—“वेटी ! तुम अभी बच्ची हो। भूख सहते-सहते वैसे ही तुम्हारा चेहरा कुम्हला गया है। क्या सोचती होओगी तुम कि ससुर के घर मे कभी तुम्हे भरपेट अन्न भी नही मिला। भला तुम्हे भूखी रखकर मैं किस प्रकार अतिथि-सत्कार करूँ ?”

ससुर की वात सुनकर वहू गद्-गद् हो गई और वोली—“आपका इतना पेम ही मेरे लिए वहुत है पिताजी ! मेरा यह शरीर आपकी सेवा के लिए ही है। फिर आप सवको भूखे रखकर क्या मैं यह आटा खा सकूँगी ? मेरा तो परम सौभाग्य होगा कि मेरे हिस्से का यह आटा अतिथि के उपयोग मे आये।”

ब्राह्मण अपनी सती पुत्रवधू की यह वात सुनकर अपने आपको गौरवान्वित एव भाग्यवान समझने लगा तथा उसे हृदय से आशीर्वाद देते हुए उसके हिस्से का आटा भी अतिथि के सम्मुख रख दिया।

अतिथि ने वह आटा भी खाया और उसे खाते ही वह पूर्ण तृप्ति का अनुभव करने लगा। यह देखकर ब्राह्मण परिवार अत्यन्त प्रसन्न एव सन्तुष्ट हुआ और अपने आपको सौभाग्यशाली मानने लगा।

यह देखकर अव अतिथि वोला—“द्विजप्रवर ! आज आपने जो अतिथि-सत्कार किया है तथा अपनी शक्ति के अनुकूल दान दिया है, वह अद्भुत है। आपके इस दान की वरावरी लाखो और करोडो रुपयो का दान भी नही कर सकता। आपके इस दान के फलस्वरूप देवता भी पुष्पवृष्टि कर रहे है तथा आपके दर्शन के लिए व्याकुल हैं। आप चारो ही प्राणी एक से एक वढकर है और महान् हैं। इस ससार मे तो यह देखा जाता है कि भूख से विवेक का नाश हो जाता है और अतिथि-सत्कार तो दूर, लोग आपस मे ही लड मरते हैं। किन्तु आप लोगो ने स्वय कई दिनो से निराहार रहकर भी आज मुझे जो दान दिया है, वह सैकडो राजसूय यज्ञो और अश्वमेध यज्ञो से वढकर है। और इसलिए वह देखिए, दैवी विमान आपके लिए प्रस्तुत है। आप चारो ही इस विमान मे वैठकर अभी स्वर्ग जायेंगे।” यह कहते हुए वह अतिथि जो कि स्वय विष्णु थे, अन्तर्धान हो गये और ब्राह्मण परिवार स्वर्ग की ओर गया।

यह कहते-कहते नेवला राजाधिराज युधिष्ठिर की यज्ञशाला मे उपस्थित व्यक्तियो से वोला—“विप्रगण ! उस ब्राह्मण परिवार को मैंने स्वय अपनी आँखो से विमान मे वैठकर स्वर्ग जाते हुए देखा। मैं वही था और वहाँ दान मे दिये जाने वाले सेर भर ज्वार के आटे के जो कण विखरे हुए थे, उन्हे सूँघ रहा था। उन कणो की स्वर्गीय सुगन्ध से तो मेरा सिर सुनहरा हो गया और जहाँ वह आटा परोसा गया था, वहाँ लोटने से आटे के जो कुछ कण वहाँ विखरे थे, उनके स्पर्श से मेरा आधा शरीर और सुनहरा हुआ। अपने आधे शरीर को जगमगाते हुए देखकर मेरी तीव्र

इच्छा थी कि मेरा बाकी शरीर भी सुनहरा हो जाय। इसी अभिलाषा से मैं तब से तपोवनो मे और यज्ञशालाओ की धूल मे लोटता रहता हूँ कि कही उस ब्राह्मण के जैसा महादान कोई दे तो मैं पूरा सुनहरा बनकर चमकने लगूं। किन्तु ऐसा लगता है कि उस दान का मुकाबला करने वाला कोई भी दान अब तक नही दिया गया है और महाराज युधिष्ठिर ने यद्यपि बहुत दान लोगो को दिया है, पर वह भी उस ब्राह्मण के दान से कम है और उस एक सेर आटे की बराबरी नही कर सकता।"

नेवले की बात सुनकर यज्ञशाला मे उपस्थित महाराज युधिष्ठिर और अन्य सभी लोगो के मस्तक लज्जा से झुक गये। उन्हे समझ मे आ गया कि श्रेष्ठ दान किसे कहते हैं।

वस्तुत कीर्ति की इच्छा से दिया हुआ दान, दान नही कहलाता। सच्चा दान वही होता है जो बिना ख्याति-प्राप्ति की अभिलाषा से मन, वचन एव शरीर से दिया जाता है। कहा भी है—

सक्कच्च दान देथ, सहत्था दान देथ।
चित्तीकत दान देथ, अनपविद्ध दान देथ।।

—दीर्घनिकाय २।१०।५

अर्थात्—सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो और ठीक तरह से दोषरहित दान दो।

बन्धुओ! आज हम देखते हैं कि आप श्रेष्ठि लोग अगर दान देते हैं तो इसीलिए कि दानदाताओ की सूची मे आपका नाम अकित हो जाय। स्थानको मे, धर्मशालाओ मे या मन्दिरो मे आपके नाम का शिलालेख सदा के लिए लग जाय। अगर ऐसा न हो तो आपको दान देने की कतई इच्छा न हो। प्रमाणस्वरूप हम लोग आपके घरो मे भिक्षा की याचना के लिए जाते हैं, किन्तु आप लोगो को अपने हाथ से हमे भिक्षा देने की भावना नही होती। उलटे साधु को आता देखकर आप घर मे इधर-उधर हो जाते हैं। आहार आपके घरो मे बहनें देती हैं क्योकि साधु रसोईघर तक पहुँच ही जाते हैं। इसके अलावा अनेक घरो मे तो बहने भी इस कार्य को नही करती। क्योकि आपके पास बहुत पैसा होता है अत रसोई भी नौकर-चाकर बनाते हैं। परिणाम यह होता है कि साधु को आहार-जल प्रदान करना भी नौकरो के जिम्मे कर दिया जाता है।

तो साधु घर मे आते हैं, इसलिए अन्य कार्यों के समान भिक्षा देने का काय भी जहाँ नौकर का होता है, क्या उस घर मे मे दिया हुआ आहार-दान, दान कहला सकता है? क्या आप उस दान से कुछ लाभ हासिल कर सकते हैं? नही, दान ऐसी सस्ती चीज नही है, जिसको चाहे जिस प्रकार दिये या दिलाये जाने पर भी वह फल प्रदान करे।

एक बात और भी है कि लोग दान को पैसा खर्च होना मानते हैं, पर यह विचार नही करते कि उससे जो प्राप्त होता है वह दिये हुए अन्न, वस्त्र या धन के मुकाबले मे कितना अधिक होता है।

व्यासस्मृति मे एक बडा सुन्दर श्लोक दिया गया है—

अदाता-पुरुषस्त्यागी, धन सत्यज्य गच्छति ।
दातार कृपण मन्ये, न मृतोऽप्यथ मुञ्चति ।।

कहते हैं कि अदाता यानी दान न देने वाला कृपण पुरुष ही वास्तव मे त्यागी है, क्योकि वह धन को यही छोडकर चला जाता है, साथ मे कुछ नही ले जाता। पर दाता को मैं कृपण मानता हूँ, क्योकि वह मरने पर भी धन को नही छोडता और उसे पुण्य के रूप मे बदलकर अपने साथ ले जाता है।

वास्तव मे दानी पुरुष ही अपने साथ पुण्य-रूपी धन ले जा सकता है। पर जो जीवन भर धन इकट्ठा करता रहता है, दान मे एक पैसा भी खर्च नही करता, वह अन्त मे हाथ मल-मलकर पछताता है।

आचार्य चाणक्य ने मधुमक्खियो के सतत पैरो को घिसने से अन्दाज लगाया है कि मधुमक्खियाँ पश्चात्ताप करती हुई कह रही हैं—

देय भो ! ह्यधने-धन सुकृतिभिर्नो सचयस्तस्यवै,
श्री कर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्ति. स्थिता ।
अस्माक मधुदान-भोग रहित नष्ट चिरात्सचित,
निर्वेदादिति नैजपादयुगल घर्षन्त्यहो ! मक्षिका ।।

अर्थात्—व्यक्तियो को धन का केवल सग्रह न करते हुए उसे अभावग्रस्त लोगो को देते रहना चाहिए। क्योकि दान के द्वारा ही कर्ण, बलि और विक्रम आदि राजाओ की ख्याति आज तक विद्यमान है।

दान एव भोग के बिना हमारा मधु, जो चिरकाल से सचित था, नष्ट हो गया है। इसी दु ख से हम अपने दोनो पैरो को घिस रही हैं।

तो बन्धुओ ! हमारा मूल विषय तो याचना को लेकर चल रहा था, किन्तु प्रसगवश दान के विषय मे भी कुछ बता दिया गया है। क्योकि याचना और दान का आपस मे सम्बन्ध है। साधु प्रत्येक वस्तु याचना करके लेता है और गृहस्थ दान देता है। पर देने वाले की भावना भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। कोई आन्तरिक उल्लास,

प्रेम और भक्ति से देता है, और कोई वेमन से, लोकदिखावे के लिये अथवा यश-प्राप्ति के लिये देता है और कुछ तो ऐसे भी होते है जो कुछ देने के स्थान पर नाना प्रकार के दुर्वचन प्रदान करते है। साधु सभी की भावनाओ के प्रकट होने पर समभाव से उन्हे सहन करता है। भले ही व्यक्ति परम प्रसन्नतापूर्वक दे अथवा कटु वचनो के साथ दे, या न भी दे, वह सभी स्थितियो मे समभाव रखता है और यही भगवान का आदेश है कि याचना करने पर साधु के सम्मुख कैसी भी स्थिति क्यो न आये, वह समता रखे और गृहस्थ के कटु-वचनो को भी 'याचना-परिषह' समझकर सहन करे। ऐसा करने पर ही वह सवरमार्ग का सच्चा पथिक वन सकता है तथा कर्मों की निर्जरा करता हुआ आत्म-कल्याण करने मे समर्थ वनता है। सच्चा साधु 'याचना-परिषह' पर विजय प्राप्त करके ही अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। ❂

१२ याचना-याचना में अन्तर

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

कल हमने 'याचना-परिषह' के विषय मे विचार किया था। आज भी इसी विषय पर कुछ और चलाएँगे।

आप लोगो को 'याचना' शब्द प्रिय नही लगता, याचना अर्थात् माँगना। भला किसी से कुछ माँगना आप कैसे पसन्द कर सकते हैं ? कहा भी जाता है—

धनमस्तीति वाणिज्य, किंचिदस्तीति कर्षणम्।
सेवा न किंचिदस्तीति, भिक्षा नैव च नैव च ॥

अर्थात्—व्यक्ति के पास पर्याप्त धन हो तो व्यापार, थोडा धन हो तो खेती एव बिलकुल ही धन न हो तो नौकरी या मजदूरी करनी चाहिए किन्तु भिक्षा तो कभी भी नहीं माँगनी चाहिए।

कबीर जी ने भी यही कहा है—

माँगन मरन समान है, मत कोई मागो भीख।
माँगन से मरना भला, यह सतगुरु की सीख ॥

इन पद्यो से स्पष्ट है कि व्यक्ति के लिए माँगना या याचना करना अत्यन्त निकृष्ट कार्य है और माँगना मृत्यु के समान दु खदायी है।

किन्तु बन्धुओ ! साधु के लिए यह बात लागू नही होती। जो भव्य प्राणी साधु बनना चाहता है वह चाहे लखपति हो या करोडपति, राजा हो या चक्रवर्ती, अपना सर्वस्व त्याग देता है तथा अकिंचन अर्थात् कुछ भी अपने पास न रखने वाला बन जाता है। वह पूर्ण रूप मे अपरिग्रही बनकर कल की चिन्ता न करता हुआ आज की आवश्यकता के अनुसार वस्तु याचना करके लाता है और उसके भी न मिलने पर परेशान या दु खी नही होता वरन पूर्ण सतोष व शाति से अपनी साधना मे लगा रहता है। सबसे बडी बात यह है कि साधु मानापमान मे पूर्ण समभाव रखता है तथा याचना करने पर जैसा भी व्यवहार उसे मिलता है उस पर विजय प्राप्त कर

लेता है। अर्थात् सम्मान सहित दिये जाने पर वह प्रसन्न नही होता और अपमान किये जाने पर शोक का अनुभव नही करता।

मुनि के लिए नियम है कि उसकी प्रत्येक वस्तु चाहे वह वस्त्र हो, पात्र हो या आहार-जल हो, सभी मागकर ली हुई होती है। अपना कहने को उसके पास कुछ नही होता। सम्पूर्ण 'अपने' को तो वह सयम ग्रहण करने से पहले ही त्याग देता है। इसीलिए वह किसी वस्तु की याचना करने मे अपनी हीनता नही समझता और याचना को परिषह समझकर उस पर विजय प्राप्त करता हुआ सतुष्ट रहता है। साधु अपने प्रत्येक आचार-विचार एव कार्य से कर्मों की निर्जरा करने के लिए कटिबद्ध रहता है। निर्जरा के बारह प्रकार होते हैं तथा उनमे से एक भिक्षाचरी भी है। आशय यह है कि याचना करके भिक्षा लाना भी निर्जरा का कारण है। फिर कर्मों की निर्जरा की दृष्टि से भिक्षा लाना साधु क्यो नही पसद करेगा? कर्मों को तो जिस-जिस प्रकार से भी बने, काटना ही है।

माँगने-माँगने मे अन्तर

बन्धुओ, यहाँ आप यह विचार कर सकते है कि माँगना अथवा याचना करना अगर कर्मों की निर्जरा का हेतु है तो जितने भी ससार मे भिखारी हैं, वे सभी अपने कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं?

पर ऐसा विचार करना अत्यन्त भ्रमात्मक एव पूर्णतया गलत है।

अधिकाशत आप जिन भिखारियो को देखते हैं, प्रथम तो वे अपनी धन-दौलत त्यागकर भिखारी नही बनते। अभाव के कारण मजबूर होकर वे भीख माँगते हैं। दूसरे उनमे न आत्म-कल्याण की भावना होती है, न कर्मों की निर्जरा करने की और न ही उनमे समता पूर्वक याचना को परिषह समझ उसे सहन करने की भावना ही रहती है। उनके हृदय मे अपार तृष्णा, गृद्धता, लोलुपता एव आसक्ति सतत बनी रहती है। अत याचना करने पर इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होने पर उन्हे अपार दु ख, क्रोध एव कष्ट का अनुभव होता है। वे चिडचिडाते है, मन ही मन गालियाँ देते हैं और कोई-कोई तो गृहस्थ को कोसते और शाप देते हुए उसके द्वार से लौटते हैं। साथ ही उन्हे अगर चार पैसे भी माँगने से मिल जायें तो उसे ऐसी गृद्धता एव आसक्ति पूर्वक रखते हैं, जिस प्रकार एक श्रेष्ठि अपने लाखो की सम्पत्ति मे आसक्ति रखता है। भिखारी की तृष्णा कभी शात नही होती, चाहे उसे कितना भी कुछ क्यों न मिल जाय।

एक श्लोक मे ऐसे याचक की मन स्थिति का वर्णन करते हुए बताया गया है—

वदनाच्च वहिर्यान्ति, प्राणा याञ्चाक्षरैं सह।
ददामीत्यक्षरैर्दातु, पुन कर्णाद् विशन्ति हि॥

कहा है—याचना के अक्षरो के साथ याचक के प्राण मुँह से बाहर निकल जाते हैं। पर दाता अगर यह कहता है कि—'देता हूँ।' तो इन अक्षरो के साथ प्राण पुन कानो के द्वारा अन्दर प्रवेश कर जाते हैं।

तो ऐसे व्यक्ति जो कि दिन मे सैकडो बार मरते-जीते हैं तथा अपनी दरिद्रता को कोसते हुए महान् आर्तध्यान पूर्वक दिन-रात हाय-हाय करते हुए अपनी जिन्दगी के दिन रो-झीककर गुजारते हैं वे भला याचना को निर्जरा का हेतु कैसे वना सकते हैं ? वे तो प्रतिपल अशुभ कर्मों का वन्धन करते चले जाते हैं।

इसके विपरीत अपना सव कुछ स्वेच्छा से त्यागकर अकिंचन वन जाने वाला तथा अपरिग्रह व्रत को धारण करने वाला श्रमण कदम-कदम पर अपने कर्मों की निर्जरा करता चलता है। वह अपने आपको स्वप्न मे भी दीन-हीन नही समझता, वरन् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एव अनन्त चारित्र का धनी मानता है। वह अपनी आत्मा मे असीम शक्ति का अनुभव करता है तथा पूर्ण साहस एव विश्वासपूर्वक दृढ कदम रखता हुआ साधना के मार्ग पर चलता है।

सच्चा साधु केवल तन ढकने के लिए वस्त्र की और शरीर टिकाये रखने के लिए आहार की याचना करता है। न उसे यह परवाह होती है कि खाद्य पदार्थ स्वादिष्ट हो, और न यही फिक्र रहती है कि उदरपूर्ति होनी ही चाहिए। रोटी के दो टुकडे भी मिल जायें तो वे पेट मे डालकर अपनी साधना मे लग जाते हैं।

महात्मा कबीर ने तो क्षुधा को कुतिया की उपमा देते हुए कहा है—

क्षुधा कारी कूतरी करत भजन मे भग।
या को टुकडा डारि के भजन करो नि शक ॥

पद्य का अर्थ कठिन नही है और न ही इसकी भाषा अलकार युक्त है। किन्तु सीधे-सादे कुछ शब्दो मे ही भावना के पीछे रहने वाला वडा भारी रहस्य छुपा हुआ है।

जिस प्रकार कुत्ता भोजन की लालसा मे वार-वार दरवाजे के अन्दर घुसने की कोशिश करता हुआ आपको परेशान करता है, पूंछ हिला-हिलाकर याचना करता हुआ आपकी शाति मे विघ्न डालता है और इसके फलस्वरूप आप लापरवाही, उपेक्षा और झुझलाहट से उसके सामने रोटी का टुकडा फेंककर निर्विघ्न होते हुए अपने काम मे लग जाते है, उसी प्रकार सच्चे साधु क्षुधा को कुतिया के समान समझते हैं जो भोज्य-पदार्थ की इच्छा से वार-वार जागृत होकर उनकी साधना मे विघ्न डालती है। और इसीलिए वे उसे वडी झुझलाहट, निस्पृहता, उपेक्षा और बेपरवाही से कम-ज्यादा, रूखा-सूखा एव सुस्वादु या वेस्वाद, जैसा भी मिल जाता है, दे

कस की पत्नी और ऐवता मुनि की भाभी रानी जीवयशा उस समय अपने ससार पक्ष के देवर-मुनि को आया हुआ देखकर मजाक मे कह बैठी—"वाह देवर जी ! बडे मौके पर आए हो, आओ, हम मिलकर देवकी के विवाह के गीत गाएँ।" साथ ही उसने यह भी कह दिया—

"तुम्हारे भाई तो राज्य करते हैं और तुम घर-घर भीख माँगते हो। इससे हमे लज्जा आती है।"

ऐवता मुनि को अपनी भाभी की दोनो ही बाते खल गईं। वे अपने आप पर सयम नही रख पाये और क्रोध से कह बैठे—"जिस देवकी की शादी के तुम गीत गा रही हो, उसी देवकी का सातवाँ पुत्र तुम्हारे सुहाग को उजाडेगा और राज्य-पाट का तुम्हारा यह गर्व चूर-चूर हो जायेगा।"

ऐवता मुनि के इस कथन से उनके कर्मो का बन्धन तो हुआ ही, साथ ही कस अपनी बहन देवकी और बहनोई वसुदेव का शत्रु बन गया। उसने विवाह होते ही बहन-बहनोई को जेल मे बन्द कर दिया और वर्षो तक कैद रखा। इतना ही नही, देवकी के छ पुत्रो का वध किया। सातवें पुत्र तो कृष्ण थे जो अपने जन्म के साथ ही विशेष पुण्य लेकर आए थे। उनके फलस्वरूप ही वसुदेव उन्हे पैदा होते ही टोकरी मे डालकर जेल से बाहर निकले।

वैसे क्या भारी-भरकम तालो के और हथियारबन्द पहरेदारो के होते हुए कारागार से निकलना सभव था ? पर श्रीकृष्ण की जबर्दस्त पुण्यवानी के कारण ही दरवाजो के ताले स्वय खुल गये, पहरेदार सो गये और उफनती हुई यमुना ने कृष्ण के चरणो का स्पर्श करते ही दो भागो मे बँटकर मार्ग दे दिया।

कृष्ण गोकुल मे नन्द के घर पहुँच गये और वहाँ बडे हुए। किन्तु बचपन से ही उनके अद्‌भुत कारनामो की ख्याति मथुरा मे कस तक पहुँच गई और वह यह जानकर कि देवकी का सातवाँ पुत्र गोकुल मे बडा हो रहा है, अत्यन्त क्षुब्ध और क्रोधित हुआ। उसे यही भय था कि कृष्ण के द्वारा मेरी मृत्यु की बात मुनि के द्वारा कही गई है अत वह सत्य न हो जाय। इसलिए उसने कभी पूतना राक्षसी को और कभी किसी अन्य को बार-बार भेजकर कृष्ण को मरवा डालना चाहा।

किन्तु, 'जाको राखे साइयाँ मार सकै नहिं कोय।' इस कहावत के अनुसार या स्वय श्रीकृष्ण के वासुदेव का अवतार होने मे उनकी मृत्यु नही हो सकी और कस को उन्ही के हाथो मरना पडा।

तो बन्धुओ, ऐवता मुनि आहार के लिए गये थे किन्तु वहाँ भाभी के अप्रिय वचन सुनकर अपने ऊपर सयम नही रख सके और क्रोध मे आकर भविष्यवाणी कर बैठे। इसमे अपनी हानि तो उन्होने की ही, साथ ही वसुदेव एव देवकी को वर्षो

कारावास का कष्ट सहना पडा, पुत्र के वियोग का कष्ट भोगना पडा तथा बचपन से ही कृष्ण को कस के अत्याचारो का सामना करना पडा ।

इसलिए साधु को सदा अपने वचनो पर पूर्ण सयम रखना चाहिए तथा याचना करने पर भी अगर वस्तु उपलब्ध न हो तो पूर्ण समभाव रखते हुए अपने स्थान पर आना चाहिए । इसके विपरीत अगर वह अपने आप पर कन्ट्रोल नही रखता है तथा गृहस्थ के अप्रिय व्यवहार के उत्तर मे स्वय भी कटु व्यवहार कर जाता है तो अनेक कर्मो का भागी बनता है ।

भगवती सूत्र मे बताया गया है कि गौतम स्वामी भगवान महावीर से प्रश्न पूछते हैं—

"हे भगवन् ! भिक्षाचरी के लिए जाते समय मुनि कितने कर्म बांधकर आता है ?"

भगवान उत्तर देते है—"गौतम ! गोचरी के लिए गया मुनि ७-८ कर्म बाँधकर आता है ।"

आपके दिल मे शका होगी कि ७-८ कर्म क्यो ? इसका कारण यह है कि अगर आयुष्य कर्म पहले बँध चुका है तो सात कर्म और नही तो आठ कर्म बांधकर आता है ।

ये कर्म समभाव न रहने से, क्रोध आने से, द्वेष होने से और अभिमान जागृत रहने से बँधते हैं ।

गौतम स्वामी पुन प्रश्न करते हैं कि उस समय किसी के कर्मों की निर्जरा भी होती है ?

भगवान उत्तर देते हैं—"हाँ, अगर गोचरी के लिये जाने पर किसी प्रकार की तकलीफ सामने आए, कोई सकट और विपत्ति आ पडे, किन्तु उस समय साधु पूर्ण समभाव रखे तथा सयम मे दृढ रहे तो ७-८ कर्मों की निर्जरा होती है ।"

इस प्रकार भिक्षाचरी मे निर्जरा भी हो सकती है और कर्मबन्धन भी हो सकता है । समता रही तो निर्जरा और विषमता आ गई तो कर्मबन्धन होता है । इसलिये साधु को भगवान का आदेश है कि वह याचना करने जाने पर कैसा भी सकट क्यो न आए, पूर्ण समता से उसे सहन करे ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्याय की उनतीसवी गाथा मे भिक्षा के सम्बन्ध में ही आगे कहा गया है—

गोयरग्गपविट्ठस्स, पाणी नो सुप्पसारए।
'सेओ अगारवासु' त्ति, इहे भिक्खू न चिंतए।।

अर्थात्—भिक्षा के निमित्त से किसी के घर मे जाने पर साधु कभी इस प्रकार का विचार न करे कि इन लोगो के घरो मे प्रतिदिन हाथ फैलाने की अपेक्षा तो घर मे रहना ही श्रेष्ठ है।

इस गाथा के द्वारा भगवान साधु को भिक्षा के लिये जाने पर मन मे तनिक भी ग्लानि अथवा दीनता या हीनता का भाव न रखने का आदेश देते है। क्योकि साधु की भिक्षा, दीन-भिक्षा नही, अपितु वीर-भिक्षा होती है।

अभी मैने आपको बताया था कि दीन-हीन भिखारी एव साधु की याचना मे कितना अन्तर होता है। एक पद्य के द्वारा पुन उस बात को आपके सामने रखता हूँ। पद्य इस प्रकार है—

"वेपथु मलिन वक्त्र, दीना वाक् गद्गद स्वर।
मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिह्नानि याचके।।"

कहा गया है—भिखारी जब भिक्षा माँगते है तब उनके शरीर मे कपन होता है, मुँह मलिन रहता है, चेहरा दीनता से कुम्हला जाता है तथा अत्यन्त दीन वाक्य उनके मुँह से निकलते हैं, जिनसे यही झलकता है—हमे कृपा करके कुछ दो, तुम्हारे सिवाय कौन हमारी उदर-पूर्ति करेगा और तुम न दोगे तो हम बेमौत मर जायेंगे। इस प्रकार गद्गद् स्वर से वे दर-दर पर याचना करते हैं।

कवि ने आगे कहा है कि ऐसे व्यक्तियो के मरते समय भी यही चिह्न चेहरे पर बने रहते है। शरीर मे कपकपी, चेहरे पर कातरता और मलिनता, अत्यन्त शोक और पीछे रहने वाले बाल-बच्चो के लिये अपार चिन्तायुक्त दीन-वचन।

तो उन लोगो के याचना करते समय और मरते समय भी वही लक्षण शरीर और चेहरे पर रहते है। दूसरे शब्दो मे उनका जीना और मरना समान ही होता है। न उन्हे जीवित रहते हुए कभी शान्ति और सन्तोष का अनुभव होता है और न मरते वक्त भी इनकी प्राप्ति होती है।

किन्तु मुनि दोनो ही परिस्थितियो का वीरता से मुकाबला करता है। वह भिक्षा के लिये जाता है किन्तु कभी दीन-वचनो का उच्चारण नही करता और न ही उसके मन मे ऐसी भावना आती है। यहाँ तक कि भले ही उसके नेत्रों के समक्ष अनेको सरस और सुस्वादु पदार्थ हो, पर कही तनिक भी दोष वह अपने नियमो के प्रतिकूल देख लेता है तो बिना उनकी ओर दृष्टिपात किये ही उलटे पगो लौट आता

है। उन्हें छोड़कर आते समय उसके हृदय मे रचमात्र भी दु ख नही होता वरन् अपने नियम का पालन करने की खुशी होती है।

इसीलिये साधु की भिक्षा वीर-भिक्षा कहलाती है। भगवान महावीर ने भी यही आदेश साधु को दिया है कि वह भिक्षाचरी को निर्जरा का हेतु माने तथा उस समय कैसी भी परिस्थितियाँ उसके सामने क्यो न आएँ, अपने मन को विचलित न होने दे। यहाँ तक कि भर्त्सना, ताडना, अनादर या अपमान मिलने पर भी अपने चित्त को वैसा ही शान्त रखे, जैसा सम्मानपूर्वक आहार पाने पर रखता है। वह किसी प्रकार के भी अपमान या अनादर के कारण कभी यह विचार न करे कि इस प्रकार प्रतिदिन लोगो के समक्ष हाथ पसारने की अपेक्षा तो घर मे रहना अच्छा।

साधु को सतत यह विचार अपने हृदय मे रखना चाहिए कि साधुचर्या सावद्य प्रवृत्ति का सर्वथा निषेध करती है तथा गृहस्थ को सुपात्रदान का लाभ देकर उपकृत करती है। यही दोनो बाते मुनिधर्म को उज्ज्वल बनाती हैं तथा मुनि के आचार मे चार चाँद लगाती हैं।

शास्त्र की गाथा मे कहा गया है कि भिक्षु भिक्षाचरी लाने मे तनिक भी ग्लानि महसूस न करे। क्योकि सयमशील साधु का शास्त्रोक्त धर्म यही है कि वह अपनी उदरपूर्ति के निमित्त किसी भी प्रकार के आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त न हो अपितु भिक्षावृत्ति से निर्दोष आहार ग्रहण करता हुआ अपने सयम का यथाविधि पालन करे।

साधु तो प्रवृत्तिमार्ग का सर्वथा परित्याग करके निवृत्तिमार्ग पर चलने का सकल्प करता है। किन्तु अगर वही साधु भिक्षा-वृत्ति से ग्लानि रखे तथा भिक्षा लाने मे सकोच करे, इतना ही नही, वह पुन गृहस्थ बनने की भावना हृदय मे लाए तो उसके निवृत्तिमार्ग का रत्ती भर भी मूल्य नही रहता। साथ ही उसकी सावद्य प्रवृत्ति के त्याग की प्रतिज्ञा तो भग होती ही है, साधुवृत्ति का भी उच्छेद हो जाता है।

ऐसी स्थिति मे फिर जीवन की सफलता एव मोक्ष-प्राप्ति की चाह का सवाल ही कहाँ रह जाता है? क्या कोई नीम का वृक्ष लगाकर आम की प्राप्ति कर सकता है? नही। घर मे रहकर व्यक्ति त्यागी नही बनता और सासारिक सुख भोगते हुए कभी आत्म-कल्याण नही किया जा सकता। विष चाहे इच्छा से खाया जाय, अनिच्छा से खाया जाय या भूल से खा लिया जाय, वह अपना असर निश्चय रूप से करेगा ही। इसी प्रकार सासारिक भोग चाहे जैसी भावना से भोगे जायें, वे कर्मों का बधन करते हुए आत्मा को शुद्धि से अथवा मुक्ति से दूर ले ही जाएँगे। ससार के भोग अवास्तविक सुख देने वाले और चिरकाल तक घोर कष्ट प्रदान करने वाले होते हैं।

ये मोक्ष-सुख के विरोधी और महा अनिष्ट की खान हैं। इसके अलावा ये कितने दिन भोगे जाने वाले हैं ? जब तक जीवन है तभी तक इनके द्वारा सुख का अनुभव किया जा सकता है। और जीवन तो स्वय ही क्षणभगुर है, किसी भी दिन और किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है।

पूज्यपाद श्री अमीऋषिजी म० ने अपने एक पद्य मे मानव को मृत्यु की वास्तविकता बताते हुए सीख दी है—

> ऐरे मतिमद खुञ्ची रह्यो क्यो जगत बीच,
> 　　　मौत तो सदा ही सग छांह जैसे रहे है।
> जाके घर भूत औ भुयग को रहे है वास,
> 　　　सो तो काहूं काल मे अचान दु ख सहे है ।।
> सोच रे सयाने तेरो आयु दिन रात घटे,
> 　　　सरिता के पूर के समान नित बहे है।
> कहे अमोरिख क्यो निचित होय बैठो हिय,
> 　　　दया मूल परम धरम क्यो ना गहे है ।।

महाराज श्री ने प्राणी को चेतावनी देते हुए कहा है—"अरे मदबुद्धि ! तू क्यों इस जगत मे रमा हुआ है ? जिस प्रकार घर मे भूत-प्रेत या सर्प के रहने पर कभी अचानक ही विपत्ति का सामना करना पडता है, इसी प्रकार मौत भी तेरे जन्म के साथ ही छाया की तरह तेरे साथ बनी हुई है। और न जाने किस क्षण वह तुझे अपने आगोश मे ले लेगी।"

"सयाने बन्धु ! जरा विचार कर और यह भली-भाँति समझले कि जिस प्रकार नदी तेजी से बहती चली जाती है, उसी प्रकार तेरी उम्र भी प्रतिपल समाप्त होती जा रही है। इसलिए तू क्यो निश्चित होकर ससार के सुखो मे भूला हुआ है ? क्यों नही दयामय धर्म को अपनाकर सदा के लिये सुखी होता है !"

जीवन की सफलता शाश्वतसुख की प्राप्ति मे ही है और उस सुख को तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि भोगो की लालसा का त्याग कर दिया जाय। ये सासारिक भोग भोगते समय तो क्षणिक सुख प्रदान करते हैं, किन्तु जब इनसे बंधने वाले कर्मों से सामना करना पडता है, तब इनका असली प्रभाव सामने आता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन मे कहा भी है—

> जहा य किपागफला मणोरमा,
> 　　　रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
> ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
> 　　　एओवमा कामगुणा विवागे ।।

अर्थात्—जैसे किंपाक फल चखने मे और देखने से बडे मनोरम होते है और खाते समय अच्छे लगते हैं किन्तु जब पेट मे जाते हैं और उनका रस बनता है तो इस जीवन का ही नाश कर देते हैं। इसी प्रकार कामभोग भी अत्यन्त आकर्षक और सुखद जान पड़ते हैं, परन्तु अन्त मे तो सर्वनाशकारी सिद्ध होते हैं।

इसलिए साधु को कभी भी पुन घर मे रहने का विचार हृदय मे नही आने देना चाहिए। हो सकता है कि भिक्षा लाने मे सकोच या ग्लानि होने के कारण वह प्रथम तो न्यायपूर्वक या अपने श्रम से कमाकर खाने की इच्छा करे। किन्तु जिस प्रकार वह साधुवृत्ति त्यागकर आरम्भ-समारम्भ को अपना सकता है, उसी प्रकार मन के बदलने पर शनै-शनै वह काम-भोगो मे भी लिप्त हो सकता है। एक काव्य आपने अनेक बार सुना होगा—

काजर की कोठरी मे कैसो हू सयानो जाय।
एक लीक काजर की लागिहै पै लागिहै॥

यानी काजल से भरे हुए स्थान पर व्यक्ति कितनी भी चतुराई से अपने आपको बचाता हुआ जाय पर उसके वस्त्रो पर अथवा शरीर पर काजल का धब्बा लगे बिना नहीं रह सकता।

वमन की वाञ्छा

इसके अलावा यहाँ एक बात और ध्यान मे रखने की है कि एक साधु जो कि अपना घर, परिवार, धन एव मकान आदि सभी कुछ एक बार त्याग देता है, और उनसे मुँह फेरकर चल देता है, उसी का पुन गृहवास की इच्छा करना कितना निकृष्ट एव निन्दनीय विचार होता है। त्याग देने का अर्थ वमन करना होता है और इसलिए त्यागे हुए घर की पुन इच्छा करना वमन को ग्रहण करने के समान है।

आपने उत्तराध्ययन सूत्र के चौदहवें अध्याय मे पढा होगा कि इषुकार नगर मे भृगु पुरोहित, उसकी पत्नी यशा और दो पुत्रो ने एक साथ ही मुनिधर्म ग्रहण कर लिया। उसके परिणाम स्वरूप पुरोहित की सम्पत्ति वहाँ के राजा बैलगाडियो मे लदवाकर अपने राज्यकोष के लिए मँगवाते हैं।

पर रानी कमलावती जब यह देखती है तो अविलम्ब राजा के समीप जाकर उन्हे समझाते हुए कहती है—

वतासी पुरिसो राय न सो होइ पससिओ।
माहणेण परिच्चत्त, धण आदाउमिच्छसि॥

रानी ने कहा—"राजन्! वमन किये हुए पदार्थ को खानेवाला पुरुष प्रशसित नही होता। आप ब्राह्मण द्वारा छोडे हुए वमन-रूप धन को ग्रहण करते है, यह कदापि ठीक नही है।

ये मोक्ष-सुख के विरोधी और महा अनिष्ट की खान हैं। इसके अलावा ये कितने दिन भोगे जाने वाले हैं ? जब तक जीवन है तभी तक इनके द्वारा सुख का अनुभव किया जा सकता है। और जीवन तो स्वय ही क्षणभगुर है, किसी भी दिन और किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है।

पूज्यपाद श्री अमोऋषिजी म० ने अपने एक पद्य मे मानव को मृत्यु की वास्तविकता बताते हुए सीख दी है—

ऐरे मतिमद खुच्ची रह्यो क्यो जगत बीच,
मौत तो सदा ही सग छाह जैसे रहे है।
जाके घर भूत औ भुयग को रहे हैं वास,
सो तो काहूँ काल मे अचान दु ख सहे है ॥
सोच रे सयाने तेरो आयु दिन रात घटे,
सरिता के पूर के समान नित बहे है।
कहे अमीरिख क्यों निचिंत होय बैठो हिय,
दया मूल परम धरम क्यों ना गहे है ॥

महाराज श्री ने प्राणी को चेतावनी देते हुए कहा है—"अरे मदबुद्धि ! तू क्यों इस जगत मे रमा हुआ है ? जिस प्रकार घर मे भूत-प्रेत या सर्प के रहने पर कभी अचानक ही विपत्ति का सामना करना पडता है, इसी प्रकार मौत भी तेरे जन्म के साथ ही छाया की तरह तेरे साथ बनी हुई है। और न जाने किस क्षण वह तुझे अपने आगोश मे ले लेगी।"

"सयाने बन्धु ! जरा विचार कर और यह भली-भाँति समझले कि जिस प्रकार नदी तेजी से बहती चली जाती है, उसी प्रकार तेरी उम्र भी प्रतिपल समाप्त होती जा रही है। इसलिए तू क्यो निश्चित होकर ससार के सुखो मे भूला हुआ है ? क्यो नही दयामय धर्म को अपनाकर सदा के लिये सुखी होता है !"

जीवन की सफलता शाश्वतसुख की प्राप्ति मे ही है और उस सुख को तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि भोगो की लालसा का त्याग कर दिया जाय। ये सासारिक भोग भोगते समय तो क्षणिक सुख प्रदान करते हैं, किन्तु जब इनसे बँधने वाले कर्मो से सामना करना पडता है, तब इनका असली प्रभाव सामने आता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन मे कहा भी है—

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥

अर्थात्—जैसे किंपाक फल चखने मे और देखने से बडे मनोरम होते है और खाते समय अच्छे लगते हैं किन्तु जब पेट मे जाते हैं और उनका रस बनता है तो इस जीवन का ही नाश कर देते है। इसी प्रकार कामभोग भी अत्यन्त आकर्षक और सुखद जान पडते है, परन्तु अन्त मे तो सर्वनाशकारी सिद्ध होते हैं।

इसलिए साधु को कभी भी पुन घर मे रहने का विचार हृदय मे नही आने देना चाहिए। हो सकता है कि भिक्षा लाने मे सकोच या ग्लानि होने के कारण वह प्रथम तो न्यायपूर्वक या अपने श्रम से कमाकर खाने की इच्छा करे। किन्तु जिस प्रकार वह साधुवृत्ति त्यागकर आरम्भ-समारम्भ को अपना सकता है, उसी प्रकार मन के बदलने पर शनै-शनै वह काम-भोगो मे भी लिप्त हो सकता है। एक काव्य आपने अनेक बार सुना होगा—

काजर की कोठरी मे कैसो हू सयानो जाय।
एक लीक काजर की लागिहै पै लागिहै।।

यानी काजल से भरे हुए स्थान पर व्यक्ति कितनी भी चतुराई से अपने आपको बचाता हुआ जाय पर उसके वस्त्रो पर अथवा शरीर पर काजल का धब्बा लगे बिना नही रह सकता।

वमन की वाञ्छा

इसके अलावा यहाँ एक बात और ध्यान मे रखने की है कि एक साधु जो कि अपना घर, परिवार, धन एव मकान आदि सभी कुछ एक बार त्याग देता है, और उनसे मुँह फेरकर चल देता है, उसी का पुन गृहवास की इच्छा करना कितना निकृष्ट एव निन्दनीय विचार होता है। त्याग देने का अर्थ वमन करना होता है और इसलिए त्यागे हुए घर की पुन इच्छा करना वमन को ग्रहण करने के समान है।

आपने उत्तराध्ययन सूत्र के चौदहवे अध्याय मे पढा होगा कि इषुकार नगर मे भृगु पुरोहित, उसकी पत्नी यशा और दो पुत्रों ने एक साथ ही मुनिधर्म ग्रहण कर लिया। उसके परिणाम स्वरूप पुरोहित की सम्पत्ति वहाँ के राजा बैलगाडियो मे लदवाकर अपने राज्यकोष के लिए मँगवाते हैं।

पर रानी कमलावती जब यह देखती है तो अविलम्ब राजा के समीप जाकर उन्हें समझाते हुए कहती है—

वतासी पुरिसो राय न सो होइ पससिओ।
माहणेण परिच्चत्त, धण आदाउमिच्छसि।।

रानी ने कहा—"राजन्! वमन किये हुए पदार्थ को खानेवाला पुरुष प्रशसित नही होता। आप ब्राह्मण द्वारा छोडे हुए वमन-रूप धन को ग्रहण करते हैं, यह कदापि ठीक नही है।

वस्तुत त्याग किये हुए धन, वैभव और गृह को ग्रहण करना वमन किये हुए पदार्थ को ग्रहण करने के समान ही है। राजा इक्षुकार ने प्रथम तो पुरोहित को स्वय ही दान दिया था अर्थात् पुरोहित की सम्पत्ति राजा के द्वारा त्यागी हुई थी, और फिर पुरोहित ने उसे त्याग दिया। तो दो वार त्यागी हुई वस्तु वमन की हुई नहीं मानी जाय तो उसे और क्या कहा जा सकता है ?

सती राजीमती ने भी अपने देवर रथनेमि को इसी प्रकार प्रतिवोध दिया था। जव नेमिनाथ ठीक विवाह के समय अपनी होने वाली पत्नी राजुल को त्यागकर दीक्षित हो गए तो उनके भाई रथनेमि के हृदय मे राजुल को अपनाने की अभिलाषा जागृत हुई। वह उसके समक्ष गया और प्रणय-निवेदन करते हुए वोला—"राजीमती मेरे भाई तो जाकर दीक्षित हो गये पर मैं भी उनका भाई हूँ, राजकुमार हूँ और उनसे किसी प्रकार हीन नही हूँ। अत मेरे प्रेम को स्वीकार करो, सुख से जीवन-यापन करो।"

राजीमती सती थी, वुद्धिमती और चतुर थी। हृदय से वह नेमिनाथ को पति मान चुकी थी अत रथनेमि से सम्वन्ध जोडने के लिए स्वप्न मे भी तैयार नहीं थी। किन्तु उसने अपने देवर को अपशब्द कहने के वजाय अपनी चतुराई मे शिक्षा देने का विचार किया। फलस्वरूप वह उत्तर मे वोली—

"राजकुमार! आपके कथन को मैंने समझ लिया है पर इसका उत्तर देने से पहले मैं चाहती हूँ कि आप मेरे लिए कोई अत्युत्तम भेट लेकर आएँ।"

राजीमती की वात सुनकर रथनेमि फूला नही समाया और उसकी वात स्वीकार कर वहाँ से चला गया। अपने निवासस्थान पर पहुँचकर वह विचार करने लगा—"मैं कौनसी उत्तम भेट लेकर राजुल के समीप जाऊँ, उसके पास किसी वस्तु का अभाव नही है क्योकि वह स्वय ही राजा की पुत्री है।" पर विचार करते-करते आखिर उसे कुछ सूझा और उसने रत्न-जटित कटोरे मे केवल दूध ले जाने का निश्चय किया।

उसी दिन सायकाल अपने निश्चय के अनुसार वह एक वहुमूल्य कटोरे मे सुगन्धित दूध राजुल के पास ले गया और वोला—"राजीमती! देखो मैं कितनी सुन्दर भेंट लेकर तुम्हारे समीप आया हूँ। इस कटोरे मे दूध है और मैं चाहता हूँ कि हम इस दूध मे मिली हुई मिश्री के समान मधुर और एक होकर रहे।"

राजुल ने उसकी वात सुनी और मधुर मुस्कान के साथ वोली "लाइये, दूध मुझे दीजिए! मैं भी आपकी वात का अभी उत्तर देती हूँ।"

यह कहते हुए उसने हाथ मे कटोरा लिया और दूध कठ से नीचे उतारा। तत्पश्चात् कोई दवा खाकर पुन उसी कटोरे मे वमन कर दिया और अपने देवर से

बोली—"आप इस दूध को पी लीजिये। मैं तभी समझूंगी कि आपका स्नेह सच्चा है।"

इस पर रथनेमि अवाक् होकर बोला—"तुम क्या मुझसे उपहास कर रही हो ? एक राजकुमारी होकर ऐसी असभ्यता तुम्हे शोभा नही देती है। प्रेम का प्रमाण देने के लिए क्या मैं तुम्हारा वमन किया हुआ दूध पिऊँगा ?"

राजुल ने रथनेमि के क्रोध का बुरा नही माना। वह पूर्ववत् मुस्कुराती हुई कहने लगी—"देवर रथनेमि! आप वमन को ग्रहण करना नही चाहते, यह ठीक है ? किन्तु मैं भी तो आपके भाई के द्वारा वमन की हुई अर्थात् त्यागी हुई स्त्री हूँ। फिर मुझे किस प्रकार अपनाना चाहते हैं ?"

राजुल की यह बात सुनते ही रथनेमि की आँखें खुल गईं और वह अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करता हुआ वहाँ से लौट आया।

कहने का आशय यही है कि किसी भी व्यक्ति को त्याग करने के बाद पुन अपने नियम को कभी तोडना नही चाहिए। सन्तो के लिए तो त्याग का बडा जवर्दस्त महत्त्व है। जव वे घर-द्वार सभी कुछ त्याग कर अकिंचन भिक्षु वन जाते हैं तो फिर भिक्षाचरी से घवराकर पुन घर मे रहने की इच्छा करना उनके लिए वमन को ग्रहण करने के समान ही है। अत भिक्षाचरी को तप एव निर्जरा का हेतु समझ कर उन्हें मन मे ग्लानि, हीनता या दु ख को नही आने देना चाहिये। अपितु यह विचार करना चाहिए कि मैंने आरम्भ-समारम्भ का सम्पूर्ण रूप से त्याग कर दिया है और अव घर-वार तथा धन-वैभव मेरे लिए वमन के समान है। दूसरे भिक्षा लाने मे मेरे लिए किसी प्रकार की लज्जा या दीनता का कोई कारण नही है। क्योकि खाद्य पदार्थ मे मुझे तनिक भी गृद्धता, आसक्ति या लोलुपता नही है। मैं साधु हूँ और साधु का नियम ही निरवद्य भिक्षा लाकर पेट को भाडा देना है, अत उसमे दीनता कैसी ?

साधु को यह भी विचार करना चाहिए कि मेरी भिक्षा दीन-भिक्षा नही, अपितु वीर-भिक्षा है। इसे साधारण व्यक्ति नही अपना सकता। भिक्षा के लिए ही गली-गली डोलने वाले भिक्षुक की वृत्ति और मेरी वृत्ति मे श्वान एव सिंह के जितना अन्तर है। उन भिखारियो की वृत्ति से जहाँ नाना कर्मों का वन्धन होता है, वहाँ मेरी वृत्ति से मेरे अपार कर्मों की निर्जरा होती है।

वास्तव मे ही ऐसा विचार करने वाले साधु भगवान महावीर के सच्चे अनुयायी एव आज्ञाकारी सिद्ध होकर परिषहो का सामना कर सकते हैं तथा मवर मार्ग पर चलकर अपने सम्पूर्ण कर्मों की भी निर्जरा करते हुए अपनी आत्मा को [illegible] कर सकते है।

❀

१३ | हानि-लाभ को समान मानो

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

सवर तत्व के सत्तावन भेदो मे से हम बाईस भेदो का वर्णन कर चुके हैं। जिनमे पाँच समिति, तीन गुप्ति एव चौदह् परिषह् आये हैं।

आज हमे पन्द्रहवाँ 'अलाभ-परिषह्' लेना है। अलाभ का अर्थ है 'प्राप्ति न होना।' भिक्षाचरी के लिए सन्त जावे और किसी कारणवश आहार न मिले तो उस स्थिति को 'अलाभ-परिषह्' कहा जाता है। इस परिषह् पर साधु को मन, वचन एव कर्म से विजय प्राप्त करनी चाहिए, अर्थात् इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होने पर भी उसके मन मे किसी प्रकार की खिन्नता, दुःख या आवेश नही आना चाहिए।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय की तीसवी गाथा मे 'अलाभ परिषह्' के विषय मे कहा गया है—

परेसु घासमेसेज्जा, भोयणे परिणिट्ठिए।
लद्धे पिण्डे अलद्धे वा, नाणुतप्पेज्ज पण्डिए॥

अर्थात्—गृहस्थो के घरो मे भोजन तैयार हो जाने पर साधु भिक्षा के लिए जावे परन्तु वहाँ से आहार के मिलने या न मिलने पर भी पण्डित पुरुष मन मे किसी प्रकार का हर्ष या शोक न आने दे।

गाथा मे आहार के लिए 'घास' शब्द आया है। इसे सुनकर आपको कुछ आश्चर्य होगा। मराठी भाषा मे घास ग्रास को कहते हैं—'दोन घास जेवून जा'। दो ग्रास ही खालो। इसी प्रकार यहाँ ग्रास के लिए नही, किन्तु आहार के लिए गाथा मे घास शब्द दिया गया है।

तो कहा यही है कि 'परेसु' यानी साधुओ से भिन्न गृहस्थो के घरो मे भिक्षा के लिए जाने पर अगर अपने नियम और मर्यादा के अनुसार आहार न मिले तो भी साधु कदापि पश्चात्ताप न करे। पश्चात्ताप करने पर कर्मबन्धन होता है और फिर इसकी आवश्यकता भी क्या है ? वस्तु के उपलब्ध न होने मे कई कारण होते हैं।

दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है—

> बहु परघरे अत्थि, विविहं खाइम-साइम ।
> न तत्थ पण्डिओ कुप्पे इच्छा देज्ज परो न वा ।।

गृहस्थ के घर मे विविध प्रकार के खाद्य पदार्थ मौजूद हैं, कोई कमी नही है। किन्तु भावना देने की होती है और नही भी होती । ऐसी स्थिति मे मुनि क्या करे? हाथ से उठाकर तो लेना नही है। आप जानते ही हैं कि इस ससार मे वित्त, चित्त और पात्र तीनो का समान होना बडा कठिन होता है। अनेको व्यक्तियो को हम देखते हैं, उनकी दान देने की भावना वडी बलवती होती है किन्तु उसके अनुसार धन नहीं होता। फिर भी वे जो कुछ भी उनके पास होता है, उसी को इतना गद्गद् होकर देते हैं कि तीर्थंकर गोत्र का वन्धन तक कर लेते है।

कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो साधु के आ जाने पर देना पडेगा, ऐसा सोचकर तथा न देना तो कुछ बुरा लगेगा या लोग निन्दा करेंगे ऐसा विचारकर विना हार्दिक भावना के देते हैं या घर के अन्य व्यक्तियो से यहाँ तक कि नौकर-चाकरो से ही दिला देते हैं।

तीसरे प्रकार के व्यक्ति ऐसे भी पाये जाते हैं जो साधु-सन्त को आहार देना वस्तु को पानी मे वहा देना मानते हैं और ऐसे व्यक्ति प्रथम तो साधु को देखकर द्वार ही वन्द कर लेते है या द्वार वन्द नही कर पाते तो उन्हे मुफ्त का माल खाने वाले तथा कामचोर कहते हुए आहार के स्थान पर अनेक गालियाँ और अपशब्द देते हैं।

दान के प्रकार

भगवद्गीता मे भी दान के तीन प्रकार वताये गये हैं। प्रसगवश मैं उन्हे आपके सामने वर्णित कर देता हूँ। गीता के अनुसार सात्विक, राजस एव तामस, इस प्रकार तीन प्रकार का दान बताया गया है—

सात्विक दान

> दातव्यमिति यद्दानं, दीयतेऽनुपकारिणे,
> देशे काले च पात्रे च, तद्दान सात्विक स्मृतम् ।

इस श्लोक मे कृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन! दान देना हमारा कर्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर विना किसी स्वार्थ के और विना किसी प्रदर्शन के दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहलाता है।

ऐसा दान ही अपना सच्चा फल प्रदान करता है। जिस प्रकार एक किसान बाँस की नली से खेत मे अनाज के बीज वोता है और दूसरा मुट्ठी भर-भर के बीज उछालता है। स्पष्ट है कि नली से चुपचाप बीज डालने वाले के खेत मे हजारो मन

अनाज पैदा होता है और मुट्ठियाँ भर-भरकर उछालने वाले का बीज भी व्यर्थ चला जाता है। दान का हाल यही है, जो उसका प्रदर्शन करता है उसे कोई लाभ प्राप्त नही होता पर जो अन्त करण की तीव्र भावना से चुपचाप देता है वह लाभ का अधिकारी बनता है। दान के विषय मे "गुप्तदान महापुण्य" इसीलिए कहा जाता है। साथ ही यह भी कहते हैं कि अगर दाहिना हाथ दान देता है तो बाँयें हाथ को भी उसका ज्ञान नही होना चाहिए।

तो ऐसा सात्त्विक दान देने वाला ही सच्चा दाता होता है जो दीपक लेकर ढूंढने पर भी कदाचित ही प्राप्त होता है।

व्यासस्मृति मे भी कहा गया है—

शतेषु जायते शूर, सहस्रेषु च पण्डित ।
वक्ता दश सहस्रेषु, दाता भवति वा न वा ।।

यानी शूर-वीर सौ मे से एक होता है, पण्डित हजार मे एक होता है, वक्ता दस हजार मे से एक पाया जाता है, किन्तु दाता तो क्वचित होता है और नहीं भी होता है।

राजसदान

बन्धुओ! अभी हम सात्त्विक दान देने वाले सच्चे दाता के विषय मे गीता के अनुसार जानकारी कर रहे थे, अब उसमे दूसरे प्रकार के दान के विषय मे जो कुछ कहा गया है वह देखते हैं। दूसरे प्रकार का दान 'राजस' दान कहा गया है। इससे सम्बन्धित श्लोक इस प्रकार है—

यत्तु प्रत्युपकारार्थं, फलमुद्दिश्य वा पुन ।
दीयते च परिक्लिष्ट, तद्दान राजस स्मृतम् ।।

बताया गया है—जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से यानी बदले मे सासारिक स्वार्थों की पूर्ति के प्रयोजन से दिया जाता है वह 'राजस' दान कहलाता है।

आज हम देखते है कि अधिकाश व्यक्ति दान देकर बदले मे यश की प्राप्ति करना चाहते है या दान देकर लेने वाले को सदा के लिए अपना गुलाम बनाने की आकाक्षा रखते हैं। पर यह प्रवृत्ति हीरा देकर ककर प्राप्त करने के बराबर है। दान का महत्त्व जो मनुष्य नही समझता, वही ऐसा करता है। उसे जानना चाहिए—

व्याजे स्याद् द्विगुण वित्त, व्यवसाये चतुर्गुणम् ।
क्षेत्रे शतगुण प्रोक्त, पात्रेऽनन्तगुण भवेत् ।।

धन ब्याज से दुगुना, व्यापार करने से चौगुना और खेती करने से सौगुना

होता है किन्तु सुपात्र को दान देने से अनन्त गुना लाभ होता है। पर आवश्यकता है उत्तम भावनाओ की। थोडा-सा देकर भी अगर उसके बदले मे अवश्य ही कुछ पाने की लालसा हो तो वह देना निरर्थक या नही के बराबर साबित होता है।

एक राजस्थानी कवि ने अनीति से अत्यधिक धन कमाते हुए थोडा-सा दान देकर भी उसके बदले मे बहुत अधिक पाने की लालसा रखने वाले व्यक्ति के विषय मे व्यगपूर्वक कहा है—

एरण की चोरी करे दे सुई को दान।
चढ डागलिए देखता, कद आसी विमान ॥

कितनी स्पष्ट और सत्य बात है। व्यक्ति धन की चोरी करके एक सुई का तो दान देता है, किन्तु उसके बदले मे भी यह आशा रखता है कि मेरे इस दान के फलस्वरूप कब स्वर्ग के देवता मेरे लिए विमान लाकर मुझे स्वर्ग मे ले जायेंगे।

बन्धुओ ऐसा दान कभी उत्तम फल की प्राप्ति नही करा सकता और न ही यह दान श्रेष्ठ दान की श्रेणी मे रखा जा सकता है। बदले मे पाने की आकाक्षा मे दिया हुआ राजस दान मनुष्य के लिए कल्याणकर नही बनता।

तामसदान

अब आता है तीसरा दान। यह तामस दान कहलाता है। इसके विषय मे कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

अदेशकाले यद्दान-मपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञात, तत्तामसमुदाहृतम् ॥

अर्थात्—जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कारपूर्वक, अयोग्य देशकाल मे कुपात्रो के लिए यानी मद्य-मासादि अभक्ष्य वस्तुओ के खाने वालो एव चोरी-जारी करके निकृष्ट कर्म करने वालो को दिया जाता है, वह तामस दान है।

आज के युग मे लोगो की प्रवृत्तियाँ बडी निंदनीय हो गई हैं। वे अन्न से अपने गोदाम भरे रखते हैं और कई गुने दामो पर उन्हे ब्लेक से बेचते हैं। नाना प्रकार के अमूल्य वस्त्रो से अपनी पेटियाँ भरे रहते हैं और उनमे कीडे लग जाते है। इसी प्रकार सोने-चांदी और रुपयो-पैसो से उनकी तिजोरियाँ ठसी हुई रहती हैं जो उनके काम नही आता।

किन्तु वे भूखो को पेट भरने के लिए अन्न, नगो को पहनने के लिए वस्त्र और अभावग्रस्त प्राणियो को चार पैसे भी नही दे सकते। परन्तु द्वार पर भिक्षुक के आ ही जाने पर अगर देना पडता है तो जैसा कि श्लोक मे कहा गया है, अत्यन्त तिरस्कार, भर्त्सना एव अपमानजनक शब्दो के साथ उसे यत्किंचित देते हैं।

दान के लिए वस्तु का महत्त्व नही है अपितु भावना का महत्त्व है। चन्दन बाला ने भगवान महावीर को सरस एव सुस्वादु पदार्थों का दान नही दिया था। केवल उडद के बाकुले दिये थे। किन्तु उन बाकुलो को कितनी पवित्र एव उत्तम भावनाओ के साथ श्रद्धा से विभोर होकर दिया था कि अपना ससार ही घटा लिया।

तो बन्धुओ, मेरे कहने का आशय यही है कि उत्तम भावनाओ के साथ साधारण वस्तु का दिया हुआ दान भी सात्त्विक और महान् लाभ का कारण बनता है किन्तु बिना इच्छा, बिना श्रद्धा और बिना आत्मा की पवित्रता के जबर्दस्ती और अपमान के साथ दिया हुआ उत्तम पदार्थों का दान भी निष्फल चला जाता है और कर्म-बन्धनो का कारण बनता है। ऐसा दान सबसे निकृष्ट और तामस दान कहलाता है जो दिये जाने पर भी किसी उत्तम फल की प्राप्ति नही करा सकता।

सुपात्र की पहचान

ध्यान मे रखने की बात है कि भिक्षु गृहस्थ के यहाँ याचना करने जाता है और गृहस्थ अपनी भावना के अनुसार सात्विक, राजस या तामस दान उसे देता है। वह जैसा दान देगा वैसा ही फल प्राप्त करेगा। इसलिए साधु को गृहस्थ के द्वारा किसी भी प्रकार का दान दिये जाने पर हर्ष या शोक नही मानना चाहिए। उसे तो यह विचार करना चाहिए कि वह गृहस्थ को दान का लाभ देकर उपकृत करता है।

मैंने सम्भवत आपको बताया था कि शास्त्रो के अनुसार दो हेतुओ के कारण साधु को कभी भिक्षाचारी से ग्लानि नही करनी चाहिए। पहला कारण उसके लिए है—आरम्भ-समारम्भ से निवृत्ति और दूसरा कारण है—सुपात्रदान का लाभ देकर गृहस्थो पर किये जाने वाला उपकार।

तो साधु भिक्षा की याचना करके गृहस्थ पर उपकार करता है, यानी उसे दान देने का अवसर देकर उपकृत करता है। अब यह गृहस्थ पर निर्भर है कि वह उस सुन्दर योग से लाभ उठाता है या हानि। इस विषय मे साधु को विचार करने की क्या आवश्यकता है? अगर वह सत्कार एव सम्मानपूर्वक आहार देगा तो स्वय लाभ प्राप्त करेगा और ताडना या भर्त्सना करेगा तो भी अपनी हानि करेगा। इसके लिए साधु को खेद या पश्चात्ताप क्यो करना चाहिए? और यह क्यो सोचना चाहिए कि प्रतिदिन गृहस्थ के घर हाथ फैलाने से घर मे रहना अच्छा।

साधु को आहार मिल गया तो ठीक है और नही मिला तब भी कोई हानि नही। लाभ या हानि गृहस्थ यानी दान देने वाले को होती है। साधु का भला क्या बनता और बिगडता है? केवल यही तो होता है कि मिला तो पेट मे डाल लिया और न मिला तो अनशन-ऊनोदरी तप करते हुए वही समय शान्तचित्त से ज्ञान-ध्यान मे

लगाया। उसे आहार के मिलने न मिलने पर किसी भी प्रकार का विचार करने की आवश्यकता नही होती। सोचना गृहस्थो को ही चाहिए कि हम अवसर का कैसा लाभ उठा रहे है?

बन्धुओ! मेरा आप से यही कहना है कि साधु आपके यहाँ भिक्षा के लिए आते हैं पर उसके मिलने न मिलने पर उनके लिए कोई विशेष अन्तर नही पडता। किन्तु आपके लिए देने न देने की भावना के कारण महान् अन्तर पड सकता है। इस लिए आपको वडा सजग एव सावधान रहना चाहिए। अर्थात् जब भी किसी तरह के सुपात्र का सुयोग उपलब्ध हो तब हर्षित होते हुए प्रमोद भावना से यथाशक्य दान देना चाहिए। जैनागमो मे सुपात्र की भी श्रेणियाँ मानी गई हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) सम्यक्दृष्टि, (२) देशविरति श्रावक एव (३) सर्वविरति साधु।

इस प्रकार प्रथम श्रेणी मे सम्यक्दृष्टि जीव आते हैं जो वीतराग देव, निर्ग्रंथ गुरु एव केवली-प्ररूपित धर्म पर दृढ श्रद्धा रखते हैं। यद्यपि ऐसे व्यक्ति चारित्रावरणीय कर्म का क्षयोपशम न होने से व्रतो को ग्रहण नही कर पाते किन्तु लोक, अलोक, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप एव आत्मा-परमात्मा पर विश्वास रखने के कारण सुपात्र माने जाते हैं और इन्हे दान देने पर निर्जरा होती है।

दूसरी श्रेणी के सुपात्रो मे श्रावक आते है। इनके चारित्रावरणीय कर्म का भी पूरा क्षयोपशम नही होता, किन्तु अशत होता है अत ये बारह व्रत श्रावक के धारण करते हैं। पूर्ण त्याग न कर पाने पर भी नौ तत्त्व एव पच्चीस क्रियाओ के ज्ञाता होने के कारण मर्यादित जीवन-यापन करते हैं। इन्हे दान देने से भी कर्मो की निर्जरा होती है।

अब आती है तीसरी श्रेणी। इस श्रेणी मे पच महाव्रत धारी मुनि होते है। मुनि उत्तम कोटि के सुपात्र हैं क्योकि वे सम्पूर्ण सासारिक वैभव का सर्वथा परित्याग करके भिक्षावृत्ति से शरीर को टिकाते हैं तथा आत्मा की शक्तियो को जगाते हुए कर्मों से जूझते है। इसलिए सर्वोत्कृष्ट सुपात्र मुनि को देने से महान निर्जरा होती है।

एक गुजराती भजन मे भी सुपात्र की श्रेणियाँ बताते हुए कहा गया है—

मिथ्यात्वी थी सहस्र गुणा फल,
समदृष्टि ने दीधा रे।
तेथी मुनि, मुनी थी गणधर
तेथी जिनने दीधा रे
दान नित्य करजे रे, दीधाथी,
जीवने साता उपजे रे॥

भजन मे भी सुपात्र की श्रेणियाँ और सुपात्र-दान का महत्व बताया गया है तथा मानव से कहा गया है कि तुम नित्य ही दान किया करो ? दान देने पर ही जीव को स्थायी सुख प्राप्त हो सकेगा।

बन्धुओ ! यहाँ आपको शका होगी कि जब दान देना ही है तो किसी को भी क्यो न दिया जाय, उससे क्या फर्क पड सकता है ? वस्तु वही है चाहे किसी को भी क्यो न दे।

इस विषय को पानी की बूंद के उदाहरण से समझा जा सकता है। पानी की बूंद वही है, किन्तु वह जलते हुए तवे पर गिरेगी तो तुरन्त जल कर भस्म हो जायगी। वही बूंद अगर कमल के पत्ते पर गिर जायगी तो मोती तो नही बन सकेगी, किन्तु कुछ समय तक मोती के समान चमकेगी और देखने वालो के हृदयो को प्रफुल्लित करेगी। पर अगर वही बूंद स्वाति नक्षत्र मे सीप के अन्दर गिरेगी तो मूल्यवान मोती का रूप धारण कर लेगी।

इस प्रकार पानी की बूंद एक ही है पर वह तवे के समान कुपात्र के पास पहुँच जाय तो पूर्णतया निष्फल हो जाती है और सीप के समान सुपात्र को प्राप्त होती है तो मोती के समान बहुमूल्य फल प्रदान करती है।

ठीक यही हाल कुपात्र और सुपात्र को दान देने से होता है। इसीलिए भजन मे कवि ने कहा है—एक मिथ्यात्वी को दान देने की बजाय अगर एक सम्यग्दृष्टि को दान दिया जाय तो वह हजार गुना फल प्रदान करता है और केवल सम्यग्दृष्टि को दान देने से अनेक गुना लाभ मुनिराज को देने से होता है। इसी प्रकार मुनि से अधिक गणधर को देने से और गणधर से भी अधिक तीर्थंकर को देने से शुभ फल की प्राप्ति होती है।

सगम ग्वाले ने बडी कठिनाई से खीर की प्राप्ति की थी। किन्तु उसे स्वय न खाकर वह किन्ही सयमी मुनि की प्रतीक्षा करने लगा। उसकी तीव्र भावना के अनुसार मासखमण की तपस्या किये हुए मुनि भी उधर आ निकले और हर्ष विभोर होकर उसने मुनि को खीर का दान दिया। मुनिराज शान्ति भाव से खीर लेकर अपने स्थान को लौट गये।

सगम की खीर कोई अमूल्य वस्तु नही थी, अमूल्य और उत्कृष्ट तो उसकी देने की भावना थी। उसी के परिणामस्वरूप आगे जाकर वह महान सिद्धि का उपभोक्ता और मगध-सम्राट् श्रेणिक को भी चकित करने वाला शालिभद्र सेठ बना।

शख राजा ने भी केवल दाख का धोया हुआ पानी देकर तीर्थंकर नाम गोत्र का बन्धन किया और बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ के उच्च पद की प्राप्ति की।

यह सब दान देने के पीछे रही हुई भावना का ही चमत्कार था। इसीलिए मुमुक्षु प्राणी अपने चित्त, वित्त एव पात्र की शुद्धि का ध्यान रखते हुए नि स्वार्थ भाव से और विना उसका प्रदर्शन किये दान देते हैं। होना भी यही चाहिये। दाता को कभी दान देते हुए सन्तुष्ट नही होना चाहिये। कहा भी है—

"सतोषो नैव कर्तव्यो दानाध्ययन कर्मसुतु।"

अर्थात् व्यक्ति को दान, अध्ययन एव कर्म से कभी सन्तुष्ट नही होना चाहिए। क्योंकि इनकी काई सीमा नही है।

दान श्रावक के व्रतो मे वडा महान् व्रत है। जीवन के अन्तिम क्षण तक भी दान देने की भावना लुप्त नही होनी चाहिए। दानवीर कर्ण ने अपने जीवन मे तो कभी किसी याचक को निराश किया ही नही था, मरते समय भी अपने दाँतो को पत्थर पर पटक कर तोडते हुए उनमे लगा हुआ एक माशा सोना दान मे दे दिया था।

एक बार हमारा चातुर्मास घाटकोपर बम्बई मे था। वहाँ लक्ष्मीदास पीताम्बर नामक एक लक्षाधीश सद्गृहस्थ थे। वडे श्रद्धालु एव निरहकारी व्यक्ति थे। सदा आठ दिन मे एक वेला करते थे और समय-समय पर अनेक प्रकार का तप किया करते थे। प्रत्येक शनिवार और रविवार को घाटकोपर प्रवचन सुनने के लिए आया करते थे पर बिना किसी हिचकिचाहट के सबसे पीछे बैठते थे।

एक दिन रात्रि को वे मेरे पास बैठ तो बोले—"मेरे मन मे दो बातो की अभिलाषा बाकी है।"

मैंने कुछ आश्चर्य से कहा—"भाई! तुम्हे सम्पूर्ण सासारिक सुख प्राप्त है और साथ ही धर्म-ध्यान भी करते जा रहे थे। फिर किस बात की तमन्ना तुम्हारे हृदय मे बाकी है?"

वे सकुचित होते हुए बोले—"महाराज जी! मैंने पाँच सौ एक, एक हजार एक और पाँच हजार एक का दान तो कई बार किया है पर मैं सोचता हूँ कि मेरे हाथो से एक लाख रुपयो का दान कब होगा? यह इच्छा मेरे मन मे वडी तीव्र है। दूसरे मैंने वेले, तेले, अठाई वगैरह भी किये हैं, किन्तु मासखमण अभी तक नही किया। अत. सोचता हूँ कि मेरे शरीर से एक महीने की तपस्या कब होगी?"

व्यक्ति के मन मे जब इस प्रकार की भावनाएँ बनी रहती है, तभी वह उन्नति के पथ पर बढता है। अगर अपने कार्यों से वह सन्तुष्ट हो जाय तो प्रगति का द्वार भी अवरुद्ध हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि दान से कभी सन्तोष मत करो।

दूसरी बात है—अध्ययन, यानी ज्ञानप्राप्ति से कभी सन्तुष्ट मत होओ। इस पृथ्वी पर अनेकानेक ज्ञानी आचार्य, सिद्ध एव केवलज्ञानी हो गए हैं। उनके

मुकावले मे आज हमारे पास है भी क्या ? सिन्धु मे बिन्दु के बराबर भी नही कहा जा सकता । फिर भी जो अपने आपको ज्ञानी मानता है, वह केवल उसका अहकार है और पूर्ण ज्ञानी न होने पर भी स्वय को ज्ञानी मानने वाला अज्ञान है।

आज लोग थोडी सी पुस्तके पढकर और कुछ परीक्षाओ की डिगरियाँ लेकर अपने आपको पूर्ण ज्ञानी मान लेते हैं। वे भूल जाते हैं कि आध्यात्मिक ज्ञान के मुकावले मे भौतिक ज्ञान क्या महत्त्व रखता है ? यह ठीक है कि भौतिक ज्ञान के द्वारा मनुष्य आज वाह्य-दृष्टि से शक्तिशाली वन गया है। वह पख न होने पर भी गगन मे वडी ऊँचाई पर उड सकता है और सागर की छाती चीर कर उसमे से रत्न ला सकता है। किन्तु आभ्यतर या आत्मिक ज्ञान के अभाव मे या उसकी अपूर्णता से वह आत्मा को ससार-मुक्त कैसे कर सकता है ? आत्मा तो पिजरे मे बद्ध प्राणी के समान ही कष्ट भोगती रहती है।

आत्मज्ञान का महत्व वताते हुए कहा है—

> वाग्वैखरी शब्दझरी, शास्त्र-व्याख्यान कौशलम् ।
> वैदुष्य विदुषा तद्वत्, भुक्तये न च मुक्तये ।।
> अविज्ञाते परे तत्त्वे, शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।
> विज्ञाऽतेपि परे तत्त्वे, शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।।
>
> —विवेक चूडामणि ६०-६१

आत्मज्ञान के अभावो मे विद्वानो की वाक्कुशलता, शब्दो की धारा-वाहिकता, शास्त्र-व्याख्यान की कुशलता और विद्वत्ता, ये सभी भोगो का कारण हो सकती हैं, मोक्ष का नही।

आत्मतत्त्व न जानने पर शास्त्राध्ययन व्यर्थ है तथा उसे जान लेने पर भी शास्त्राध्ययन निरर्थक है।

वस्तुत भौतिक ज्ञान से भौतिक सुखो की उपलब्धि हो सकती है और भोग के साधन अधिक से अधिक जुटाये जा सकते हैं, किन्तु उनसे आत्मा की मुक्ति सम्भव नही है। आत्मा की मुक्ति तो तभी हो सकती है, जबकि आत्मा के सम्यक् ज्ञान को जगाया जाय तथा उसकी अनन्त शक्ति को प्राप्त किया जाय।

भौतिक ज्ञान एव आत्मज्ञान मे महान् अन्तर है। भौतिक ज्ञान भले ही आपको आकाश मे उडा सकता है, भोगो की प्राप्ति करा सकता है तथा इस लोक मे प्रशसा का पात्र वना सकता है। किन्तु यह अस्थायी और विध्वसी है। इस शरीर के नष्ट होते ही वह लुप्त हो जाता है, आगे कुछ भी सहायता नही करता।

लेकिन आत्मिक ज्ञान अज्ञान के अधकार को मिटाता है, कषायो का नाश करता है, धर्म को विशाल वनाता हुआ पापो को जड से उखाडता है तथा आत्मा

को चिर शाति एव चिर सुख प्रदान करता है। यह शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नही होता तथा जन्म-जन्म तक साथ रहकर ससार को घटाता है। इस प्रकार यह मनुष्य का इष्ट-साधन करता है तथा आत्मा के कल्याण का कारण बनता है। इसीलिए ज्ञानी पुरुष कहते है—

न ज्ञानतुल्य किल कल्पवृक्षो,
न ज्ञानतुल्या किल कामधेनु ।
न ज्ञानतुल्य किल कामकुम्भो,
ज्ञानेन चिन्तामणिरप्यतुल्य ॥

अर्थात्—ज्ञान कल्पवृक्ष से भी बढकर अभीष्ट फल देने वाला है तथा कामधेनु से बढकर अमृत प्रदान करने वाला है। कामकुम्भ इसकी तुलना नही कर सकता तथा मनवाछित फल प्रदान करने वाला चिन्तामणि रत्न भी इसके समक्ष नगण्य है।

अधिक क्या कहा जाय ? सहस्रो सूर्य एव हजारो चन्द्र भी जिस नेत्रविहीन व्यक्ति के लिए निरर्थक हैं, उसी व्यक्ति का अन्तर आत्मज्ञान के उदय होने पर दिव्य प्रकाश से ज्योतिर्मय हो उठता है।

'आवश्यक निर्युक्ति' मे भी यही बताया है—

"दव्वुज्जो उज्जोओ, पगासइ परिमियम्मि खेत्तमि ।
भावुज्जो उज्जोओ, लोगालोग पगासेइ ॥"

यानी सूर्य और चन्द्र का द्रव्य प्रकाश तो परिमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है, किन्तु ज्ञान का प्रकाश समस्त लोकालोक को प्रकाशित कर देता है।

इसलिये बन्धुओ, आत्मज्ञान की प्राप्ति करना आवश्यक है और इसे अधिकाधिक प्राप्त करने का प्रयत्न भी अनिवार्य है। ज्ञान के अलौकिक प्रकाश मे तो जीव जगत के सम्पूर्ण चराचर पदार्थो को हस्तकगनवत् जान सकता है, फिर हमने अभी पाया ही क्या है ?

विवेक चूडामणि की दूसरी गाथा मे कहा गया है—आत्मतत्व न जानने पर शास्त्राध्ययन व्यर्थ है तथा उसे जान लेने पर भी शास्त्राध्ययन व्यर्थ है।

आत्मज्ञान का यह गम्भीर विवेचन यथार्थ है। हजार शास्त्रो को तोते के समान रट लिया जाय और उनका पारायण किया जाय, किन्तु आत्मतत्त्व को अगर न जाने तो उस व्यक्ति का शास्त्राध्ययन निरर्थक है और इसी प्रकार आत्मतत्त्व को अगर व्यक्ति जान ले तो फिर शास्त्रो के अध्ययन करने की जरूरत ही क्या है ?

ज्ञान का उद्देश्य आत्मतत्त्व को जानना है और जब तक उसे न जान लिया जाय, हमे ज्ञानार्जन से सन्तुष्ट नही होना है। जिस दिन भी हमे अपने ज्ञान मे पूर्णता

दिखाई दे जाएगी और उससे सन्तोष हो जाएगा, उसी दिन हमारी प्रगति रुक जाएगी तथा मुक्ति की अभिलाषा खटाई मे जा पडेगी ।

अब तीसरी बात कर्म से सन्तुष्ट न होने की है । जो व्यक्ति यह विचार करता है कि मैंने सेवा बहुत कर ली, ज्ञानार्जन कर लिया, दान खूब दे दिया, खूब व्रत किये है और तप भी बहुत किया है, वह व्यक्ति कभी अपने इच्छित उद्देश्य को प्राप्त नही कर सकता । अभी मैंने आपको बताया था कि सन्तुष्टि प्रगति का मार्ग अवरुद्ध कर देती है ।

गीता की ध्वनि केवल यही है—"निरन्तर कर्म करते जाओ किन्तु फलप्राप्ति की आशा मत करो ।"

कहा जाता है कि एक बार कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति गांधीजी से मिलने आया। गाँधीजी उस समय अपने आश्रम से बाहर की जमीन को फावडे से खोद रहे थे। व्यक्ति उनके पास पहुँचा, नमस्कार किया और बोला—"महात्माजी ! मैं आपसे गीता का रहस्य जानना चाहता हूँ ।"

महात्माजी उस व्यक्ति की बात सुनकर मुस्कराये और बोले—"अच्छा आप बैठिये ।"

यह कहने के पश्चात् वे पुन फावडे से जमीन खोदने लग गये । आगन्तुक व्यक्ति कुछ देर तक चुपचाप बैठा हुआ उनका कार्य देखता रहा । वह सोच रहा था, अब इनका कार्य समाप्त होगा और ये मुझे बैठकर मुझे गीता का रहस्य समझाएँगे ।

किन्तु काफी देर तक बैठे रहने पर भी जब उन्होने अपना कार्य नही छोडा तो आगत सज्जन को कुछ बुरा लगा और वह बोला—"महात्मा जी, मै तो कितनी दूर से आपकी ख्याति सुनकर आपसे गीता का मर्म समझने आया था । पर लगता है कि आपको केवल अपने समय का महत्त्व ही अधिक जान पडता है, दूसरे का नही ।"

महात्माजी आगन्तुक की बात पर हँस पडे और मधुरता से बोले—"भाई ! गीता का रहस्य समझा तो रहा हूँ मैं ।"

यह सुनकर व्यक्ति चकराया और कहने लगा—"कहाँ समझा रहे हैं आप ? मैं कब से बैठा हूँ पर आप तो एक शब्द भी नही बोले ।"

"अरे भाई ! मेरे बोलने की आवश्यकता ही क्या है ? गीता का उपदेश केवल यही है कि 'कर्म करो ।' वही तो मैं आपको जबसे बता रहा हूँ । बस, गीता का यही रहस्य है—निरन्तर कर्म करते जाओ, फल की आशा मत करो ।"

वह जिज्ञासु व्यक्ति गांधीजी की बात सुनकर बहुत शर्मिन्दा हुआ, किन्तु भली-भाँति समझ गया कि गांधीजी ने गीता के रहस्य को केवल समझा ही नहीं है, उसे जीवन मे भी उतार लिया है ।

वस्तुत महात्मा गाँधी अपने जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नही जाने देते थे। वे इस बात पर विश्वास रखते थे कि लगन से किया हुआ कर्म कभी निष्फल नही जा सकता। भारत को स्वाधीन करना कोई हँसी-खेल नही था, किन्तु दृढ सकल्प और कर्म मे आस्था रखते हुए उन्होने केवल उन्नीस व्यक्तियो का लेकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति का प्रयत्न शुरू कर दिया था। परिणाम क्या हुआ, आप जानते ही हैं। धीरे-धीरे अनेकानेक व्यक्ति उनके साथ होते गये और भारत स्वतन्त्र होकर रहा।

कहने का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति को अपने कर्म से कभी निराश नही होना चाहिए तथा उसमे प्रमाद का अनुभव करते हुए निष्क्रियता नही आने देना चाहिए। भले ही किन्ही कारणो से गति धीमी हो जाय, पर कर्म करते हुए कभी रुकना नही चाहिए। धीरे-धीरे भी व्यक्ति चलता रहे तो मजिल अवश्य मिलती है। मैंने बचपन मे एक कहानी पढी थी कि एक बार एक खरगोश और कछुए मे दौड़ हुई।

खरगोश बडा अहकारी था। वह अपने प्रतिद्वन्द्वी को देखकर बडे उपहास और तिरस्कारपूर्वक बोला—"मूर्ख, तू मेरे साथ मुकाबला करने के लिये तैयार हुआ है? जरा अपनी चाल तो देख? इस चीटी जैसी चाल से तू मुझे दौड मे हरा सकेगा?"

कछुआ बेचारा सहम गया। पर वह बडी शाति और नम्रता से बोला—"भाई! दो मे से एक की जीत और दूसरे की हार तो होती ही है। पर मुझे अपने कर्म मे विश्वास है अत तुम्हारे मुकाबले मे आया हूँ। मैं अपने कर्म से विमुख नही होऊँगा, प्रयत्न करता रहूँगा ताकि अगर हार भी मेर पल्ले पडे, तब भी अफसोस की बात नही होगी।"

ऐसे वार्तालाप के बाद प्रात काल मे दोनो की दौड प्रारम्भ हुई। खरगोश तो पवन-वेग से भाग चला और कछुआ अपनी चाल के अनुसार धीरे-धीरे चलने लगा। उसकी आँखो के सामने ही खरगोश चौकडियाँ भरता हुआ नजरो से ओझल हो चुका था। कछुआ जानता था कि उसकी और खरगोश की चाल मे जमीन-आसमान का अन्तर है, किन्तु आत्म-विश्वास के धनी और कर्म की महत्ता को समझने वाले बहादुर कछुए ने खरगोश के नजरो से ओझल हो जाने पर भी चिन्ता नही की और धीरे-धीरे चलता ही रहा।

इधर खरगोश अल्पकाल मे ही जब निश्चित किये हुए स्थान के काफी करीब आ गया तो सोचने लगा—"बडी ठण्डी हवा चल रही है और समीप ही मीठे पानी का झरना बह रहा है, क्यो न ठण्डा-ठण्डा जल पीकर कुछ देर विश्राम करलू। वह कछुआ तो यहाँ शाम तक भी नही पहुँच पाएगा और मैं थोडी ही देर बाद अपने गतव्य तक पहुँच जाऊँगा।"

यह विचारकर अभिमानी खरगोश झरने का ठण्डा पानी पीकर निश्चितता पूर्वक सो गया। सयोगवश उसे गहरी नीद आ गई और वह घण्टो सोता रहा।

इधर कछुआ अविराम गति से चलता रहा। वह जरा भी निराश नही हुआ और धीरे-धीरे चलकर भी खरगोश के समीप से होता हुआ नियत स्थान पर जा पहुँचा। पर घण्टो सो लेने के पश्चात जब खरगोश उठा तब भी यह सोचकर कि मूर्ख कछुआ अभी तो आधी राह भी पार नही कर पाया होगा, दौडकर अपने लक्ष्य की ओर गया।

किन्तु जब वहाँ पहुँचा तो मस्तक पीटकर रह गया, क्योकि कछुआ वहाँ पहले ही पहुँचकर शान्ति से बैठा था।

बन्धुओ, कछुए के इस उदाहरण से आप भलीभाँति समझ गए होंगे कि केवल अपने कर्म की ओर दृष्टिपात करने वाला व्यक्ति किस प्रकार लक्ष्य को पाकर छोडता है। अगर कछुआ यह विचार करता कि मेरा और खरगोश का मुकाबला कैसे हो सकता है ? और यह सोचकर वह हिम्मत हारकर रास्ते मे ही बैठ जाता तो क्या वह खरगोश को दौड मे परास्त कर सकता था ? नही।

बस, इसी प्रकार मनुष्य को भी अपनी कमजोरियो पर ध्यान न देते हुए सदा सुकर्मों मे रत रहना चाहिए। न कभी किए हुए कर्मो का फल न मिल पाने से निराश होना चाहिए और न ही प्रमाद के वश होकर निष्क्रिय होना चाहिए। उसे विश्वास होना चाहिए कि कृत-कर्मों का फल देर-सवेर स्वय ही मिलेगा। आग जलाने पर उसका ताप न लगे यह कभी सम्भव नही होता, इसी प्रकार कर्म-फल न मिले यह भी नही हो सकता।

तो बन्धुओ, एक वाक्य के द्वारा अभी मैंने आपको यह बताया है कि दान, अध्ययन एव कर्म से व्यक्ति को कभी सतुष्ट नही होना चाहिए। ये तीनो ही आत्मोन्नति मे सहायक होते हैं। इनमे से पहला दान है, जिसके विषय मे बहुत कुछ बताया जा चुका है। दान देने से व्यक्ति को अधिक लाभ होता है, बजाय दान लेने वाले के। क्योकि जड धन तो मृत्यु के पश्चात् यही पडा रह जाता है, पर अगर व्यक्ति उसे दान मे देता है तो उस धन से अनेक गुना पुण्य वह परलोक मे साथ ले जाता है।

इसलिए दान देकर व्यक्ति लेने वाले पर अधिक एहसान नही करता किन्तु अपना बडा भारी उपकार करता है। दान की व्याख्या करते हुए कहा भी है—

'स्वपरोपकारार्थं वितरण दान।'

अपने एव पराये उपकार के लिए देने का नाम दान है।

तो दान देकर गृहस्थ अपना स्वय ही महान् उपकार करता है, अत साधु को दान लेने से ग्लानि अथवा हीनता का अनुभव नही करना चाहिए। उसे तो यह

विचार करना चाहिए कि याचना करके शरीर को भाड़ा देता हुआ मैं अपनी आत्मा का उपकार तो करता ही हूँ साथ ही गृहस्थो को भी दान का सुयोग देकर उपकृत करता हूँ। इस प्रकार दान लेने वाले और देने वाले, दोनो ही लाभ मे रहते हैं। पर सच पूछा जाय तो लेने वाले की अपेक्षा दान देने वाला अगर उत्तम भावनाओ से देता है तो बहुत अधिक प्राप्त करता है। कभी-कभी तो दाता भावो की उत्कृष्टता के कारण 'तीर्थंकर' गोत्र भी बाँध लेता है। जबकि लेने वाला केवल अपने शरीर की आवश्यकता पूरी करता है।

इस प्रकार साधुओ के लिए कहा जा सकता है—"आप तिरैं औरन को तारैं।" आवश्यकता केवल इस बात की है कि भगवान के आदेशानुसार वे अपने मन पर पूर्ण सयम रखें तथा भिक्षाचरी के लिए जाने पर गृहस्थ के यहाँ कुछ मिले या न मिले, दोनो ही स्थितियो मे पूर्ण समभाव रखते हुए अपने स्थान पर लौटे। अच्छा आहार मिल जाने पर कभी यह न सोचे कि यह मेरे पुण्यो के प्रताप से मिला है और उसके न मिलने पर किसी प्रकार का विषाद भाव मन मे न आने दें।

जो अपने मन पर इतना सयम रखता है वही सुसाधु अपनी शुद्ध भावनाओ के कारण दृढ कदमो से साधना-पथ पर बढता है तथा मुक्ति का अधिकारी बनता है।

❀

१४ | अलाभो तं न तज्जए

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

कल हमने 'अलाभ परिषह' के विषय मे विचार-विमर्श किया था। आज भी इसी पर कुछ आगे चलाएंगे। 'अलाभ-परिषह' सवर के सत्तावन भेदो मे मे तेईसवाँ भेद है।

कल मैंने "श्री उत्तराध्ययन सूत्र" के दूसरे अध्ययन मे दी हुई तीसवी गाथा आपके सामने रखी थी, आज इकतीसवी गाथा कहते हुए अपने विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ। गाथा इस प्रकार है—

अज्जेवाह न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया।
जो एव पडिसचिक्खे, अलाभो त न तज्जए ॥

अर्थात् जो साधु इस प्रकार विचार करता है कि आज मुझे आहार नही मिला है तो 'सुए' यानी कल मिल जाएगा, उसे अलाभ परिषह से किसी प्रकार का कष्ट नही होता।

भगवान का आदेश है कि साधु को नियत समय पर भिक्षा के लिए जाने पर भी अगर शुद्ध आहार उपलब्ध न हो तो वह खेद न करे। वरन पूर्ण स्थिरभाव से यह विचार करे कि आज आहार नही मिला तो क्या हुआ, कल मिल जाएगा, और कल भी न मिला तो परसो सही।

अभिप्राय यही है कि आहार के लिए जाने पर भी अगर उसकी प्राप्ति न हो तो वह किंचित् मात्र भी खेद न करे और अपने स्थान पर आकर दृढता पूर्वक आत्म-साधना मे लग जाए। आहार के अलाभ से उसके भावो मे तनिक भी अशुद्धता नही आनी चाहिए। अगर भावनाओ मे अन्तर आ जाता है तो त्यागवृत्ति दूषित होती है और उसकी सार्थकता नही रहती।

इस ससार मे अधिकतर यही देखा जाता है कि इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होने पर व्यक्ति को सबसे पहले क्रोध आता है। अलाभ की स्थिति में अगर किसी का हाथ न हो तो व्यक्ति भगवान पर ही क्रोध करता है और अगर किसी से याचना करने पर

वह प्रदान न करे तो उस व्यक्ति पर क्रोध किया जाता है। पर साधु को इन दोनो स्थितियो मे क्रोध करना वर्जित है। उसके लिए यही निर्देश है कि किसी वस्तु के लिए याचना करने पर अथवा भिक्षा के न मिलने पर भी साधु न तो अपने कर्मों को कोसे और न ही जिससे याचना की हो, उस पर ही क्रोध करे। क्योकि क्रोध बडा तीव्र विष माना गया है जोकि करने वाले की भी हानि करता है और जिस पर किया जाता है उसका भी नुकसान करता है।

एक गाथा मे कहा गया है—

कोहो वितर्कि अमय अहिंसा

अगर कोई प्रश्न करे कि क्रोध क्या है, और अमृत क्या है ? तो उसका उत्तर इस गाथा के द्वारा दिया जा सकता है कि क्रोध विष है और अहिंसा अमृत।

क्रोध के द्वारा व्यक्ति निविड कर्मों का बन्धन कर लेता है और अहिंसा के द्वारा अनेकानेक कर्मों की निर्जरा। इसीलिए साधु को मन, वचन एव कर्म, इन तीनो मे से किसी को भी हिंसा मे प्रवृत्त नही होने देना चाहिए।

साधु किसी गृहस्थ के यहाँ भिक्षाचरी के लिए जाता है, उस समय अगर दो व्यक्ति साथ मे भोजन कर रहे हो और एक तो साधु को देखकर गद्गद् होता हुआ अह्वान करता है—"महाराज पधारिये !" और दूसरा व्यक्ति मौन रह जाता है तो ऐसी स्थिति मे भी भगवान ने आहार लेने का निषेध किया है। क्योकि मौन उपेक्षा तथा निषेध का सूचक है, अत उस स्थिति मे आहार लेने से चुप रह जाने वाले व्यक्ति के मन मे दु.ख होगा।

इसी प्रकार एक दुकान दो व्यक्तियो के साझे मे हो। साधु उस कपडे की दुकान से कपडे के लिए याचना करे पर एक भागीदार उस समय सहर्ष तैयार हो जाय तथा दूसरा मौन रहे तो उस हालत मे भी साधु को कपडा नही लेना चाहिए। क्योकि सम्भवत बाद मे उन दोनो मालिको मे कुछ खटपट हो जाय और कपडा देने वाले व्यक्ति को दु ख हो। किसी का दिल दुखाना भी हिंसा है।

तो साधु को न तो किसी अन्य के हृदय को क्लेश पहुँचाना चाहिए और न ही इच्छित वस्तु की अप्राप्ति से स्वय क्लेश का अनुभव करना चाहिए। अगर वस्तु के अलाभ से मन को क्लेश का अनुभव होगा तो क्रोध का आविर्भाव भी हो जाएगा। साधु को देने वाले के मौन रहने पर तो वस्तु का लेना अनुचित है ही, साथ ही दाता मौन न रहकर अगर कटु शब्दो से इकार कर दे या अपमानजनक शब्द कहे तो भी अपने मन मे खिन्नता, ग्लानि, क्लेश या द ख का अनुभव नही करना चाहिए।

जो सच्चे महापुरुष होते हैं वे तो अपकारी का भी उपकार करते हैं तथा स्वय कष्ट पाने पर भी उसके देने वाले का सम्मान करते हैं।

कसौटी मे खरा कौन उतरा ?

कहा जाता है कि एकवार अनेक ऋषियो ने एकत्रित होकर विचार किया कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश, इन तीनो की परीक्षा लेकर देखा जाए कि उनमे कौन सब श्रेष्ठ एव महान है।

अव समस्या यह उठी कि इनकी परीक्षा कैसे ली जाय और कौन इन वडे-वडे देवो के सन्मुख जाए ? अन्त मे वडे विचार-विमर्श के वाद यह तय हुआ कि यह कार्य ऋषिश्रेष्ठ भृगु को सौंपा जाय और वे ही अपनी इच्छानुसार सवकी परीक्षा लें।

महर्षि भृगु ने समस्त ऋषियो के आग्रह को स्वीकार किया और वहाँ से चल पडे। सर्वप्रथम वे ब्रह्मा के समीप पहुँचे। ब्रह्माजी उस समय वेदो का विवेचन कर रहे थे। भृगु ऋषि उनके निकट जा पहुँचे पर बिना किमी सम्मान का प्रदर्शन किये अशिष्ट ढग से उनकी वगल मे जा वैठे।

यह देखकर ब्रह्मा जी को वडा वुरा लगा कि एक ऋषि इस प्रकार विना उन्हे सम्मान दिये उनके समीप आकर बैठ जाये। उन्होने वेदो पर उपदेश देना बन्द कर दिया और भृगु जी को वुरा-भला कहना आरम्भ किया। भृगु ऋषि हँसते हुए ब्रह्मा जी की गालियाँ और कटु वचन सुनते रहे और कुछ समय पश्चात् अपनी परीक्षा का प्रथम भाग समाप्त समझ कर वहाँ से चल दिये।

ब्रह्मा जी के पास से उठकर महर्षि शिवजी के निवास-स्थान पर गये। शिवजी उस समय पार्वती के साथ क्रीडा कर रहे थे। भृगु ऋषि ने यहाँ भी अशिष्टता वताई। परिणामस्वरूप शिवजी क्रोध से आग-ववूला हो गये। वे भी भृगु जी को मार डालते पर पार्वती ने वीच-वचाव करके उन्हे छुडा दिया। भृगु ऋषि वहाँ से जान लेकर भागे। परीक्षा उन्हे वडी मँहगी पड रही थी। किन्तु अब एक ही भाग उसका वच रहा था, अत उसे भी पूरा करने का निश्चय किया।

अब वे विष्णुजी के यहाँ गये। विष्णु उस समय शेष शैय्या पर निद्रा ले रहे थे। उन्हे सोये हुए देखकर भृगु जी कपट-क्रोध से आग-ववूला हो गये और मन ही मन मे डरते हुए ऊपर से साहस करके उन्होंने विष्णु की छाती मे लात मार दी।

विष्णु पैर के प्रहार मे चौक पडे और आँखें खोली तो पाया कि सामने भृगु ऋषि खडे हैं। वे एकदम उठे और भृगु के चरण पकड कर सहलाते हुए वोले—

"भगवन् मेरे कठोर सीने से टकराने पर आपके चरणो मे कष्ट पहुँचा होगा। मैं अपनी भूल और अशिष्टता के लिए आपसे क्षमा मांगता हूँ।"

भृगु ऋषि विष्णु का व्यवहार देखकर गद्‌गद् हो गए और उन्हें उठाकर अपने गले से लगा लिया। उनकी परीक्षा समाप्त हो चुकी थी और विष्णु उसमे खरे उतर चुके थे।

तो वधुओ, जिन्हे लोग भगवान कहते हैं, वे भी जब अपने सीने मे लात
ाकर नाराज नही हुए, जरा भी उन्होंने क्रोध नही किया तो फिर साधारण व्यक्ति
ी तो वात ही क्या है ? विष्णु का व्यवहार जगत के सामने आदर्श प्रस्तुत करता
ा कहता है कि—अपकारी के प्रति भी मन मे क्रोध का भाव नही आना चाहिए ।
ास प्रकार भृगु का लात मारना विष्णु की परीक्षा थी, उसी प्रकार साधक के लिए
ी कष्ट एव परिषह कसौटियाँ हैं । उन पर कसा जाकर अगर वह खरा नही उतरता
ी उसकी साधना फल प्रदान नही कर सकती । परिषहो के आने पर मन मे अगर
ाध आता है तो उससे किसी न किसी प्रकार की हिंसा होने की सम्भावना रहती
। अत क्रोध का सर्वथा त्याग करके क्षमा एव अहिंसा को ही अपनाना चाहिए ।
ाध विषरूप है अत उसका त्याग करना उचित है और अहिंसा अमृत है अत उसको
ृण करना ।

आगे कहा है—

'भाणो अरि किं हियमप्पमादो ।'

सासारिक प्राणी का सवसे वडा शत्रु मान है । रावण और विभीषण दोनो
ो भाई थे । पर रावण के अभिमान ने उसको परिवार सहित नष्ट कर दिया और
भीषण की निरभिमानता ने लका का राज्य प्रदान किया ।

श्री स्थानाग सूत्र मे भी मान की निकृष्टता वताते हुए कहा है—

सेलथभ समाणं माण मणुपविट्ठे जीवे,
काल करेइ णेरइएसु उववज्जति ।

अर्थात् पत्थर के खम्भे के समान जीवन मे कभी नही झुकने वाला अहकार
ात्मा को नरक गति की ओर ले जाता है ।

कभी-कभी तो मिथ्याभिमान का परिणाम अगले जन्मो मे तो क्या, इसी जन्म
और तुरन्त ही मिल जाता है । रावण और कस के अभिमान ने उन्हें उसी जन्म
नष्ट किया था यह आप जानते ही हैं । एक ईसाई लघुकथा के द्वारा भी यही वात
पको वताता हूँ ।

अभिमान का परिणाम

एक वार एक गिरजाघर मे ईसामसीह के अनेक भक्त उनका गुण-गान करने
लिए वैठे हुए थे । भक्ति पूर्ण मधुर प्रार्थना से गिरजाघर का वातावरण वडा शात
। आनन्दप्रद वन गया था ।

प्रार्थना के पश्चात् वहाँ के पादरी ने समस्त उपस्थित व्यक्तियो को उपदेश दिया। अपने उपदेश मे उन्होने कहा—"प्रभु ईसा ईश्वर के दूत हैं। उनके बताये हुए मार्ग पर चलने से ही जीव नरक के भीषण दु खो से बच सकता है तथा स्वर्ग की प्राप्ति कर सकता है। ससार के समस्त कष्ट ईसामसीह की कृपा से टल जाते हैं।

इस प्रकार पादरी ने उपदेश दिया और सभी को ईसा की शरण में आने का आग्रह किया। उस समय गिरजाघर मे उपस्थित व्यक्तियो के बीच मे एक स्त्री बैठी थी। वह ईसाई नही थी किन्तु बडे सरल हृदय की थी। अत पादरी का उपदेश सुनकर गद्‌गद् हो गई। जब और लोग वहाँ से चले गये तो वह स्त्री सकुचित होती हुई कुछ आगे बढी और बडी नम्रता से पादरी से बोली—

"मैं ईसाई नही हूँ पर क्या नरक की यातना मे परित्राण नही पा सकती ?"

पादरी उस निश्छलहृदया स्त्री की बात सुनकर चिढ गया और अभिमान सहित बोला—"नही ! जो ईसाई धर्म को विधिवत नही अपनाते, उन पर प्रभु ईसु कभी कृपा नही करते।"

पादरी ने अपनी बात की ही थी कि अचानक आकाश मे भयकर गर्जना हुई और बिजली के द्वारा गिरजाघर मे आग ही आग हो गई। गिरजाघर का भीतरी हिस्सा भी आग की लपेट मे आ गया।

आकाश मे हुआ भीषण गर्जन और गिरजाघर से उठती आग को देखकर अनेक व्यक्ति दौडकर वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने अन्दर रहे हुए प्राणियो को बचाने का प्रयत्न किया। उस प्रयत्न के परिणामस्वरूप उस स्त्री को तो बचा लिया गया किन्तु पादरी को नही बचाया जा सका। वह प्रज्वलित अग्नि की गोद मे समा चुका था।

इस घटना को देखकर जो लोग अभी-अभी पादरी का यह उपदेश सुनकर गये थे कि प्रभु ईसु, ईसाई धर्म को न मानने वालो पर कभी कृपा नही करते, व बडे चकित हुए और विचार करने लगे कि गिरजाघर के पादरी तथा ईसाइयो के गौरव-रूप व्यक्ति पर गिरजाघर के अन्दर भी प्रभु ईसा ने कृपा नही की और जो ईसाई नही थी, वह सरल स्त्री कैसे बच गई ? किन्तु धीरे-धीरे उनकी समझ मे आ गया कि पादरी अहकारी था। अपने अहकार के कारण उसने प्रभु ईसामसीह की महत्ता को भी धब्बा लगाया था। इसी कारण उसे अविलम्ब फल मिला है। दूसरे शब्दो मे, उसका मिथ्याभिमान उसे ले डूबा है।

बन्धुओ, ऐसे उदाहरण पढकर और सुनकर हमे ज्ञात होता है कि अभिमान का फल कभी अच्छा नही निकलता। व्यक्ति को कभी भी अपने कुल, ऐश्वर्य, रूप,

ज्ञान और साधना आदि किसी का मान नही करना चाहिए। मान कभी भी आत्मा को शुद्ध नहीं रहने देता तथा विनय के नाश का कारण बनकर आत्म-गुणो को विकृत कर देता है।

आगे कहा है—दुनिया मे प्राणी का हित करने वाला अप्रमाद है। प्रमादी व्यक्ति जीवन के किसी भी क्षेत्र मे सफल नही हो सकता। कल मैंने आपको खरगोश और कछुए की दौड के विषय मे बताया था कि कछुआ यद्यपि खरगोश का स्वप्न मे भी मुकाबला नही कर सकता था। किन्तु वह अप्रमादी था, अत लगन-पूर्वक धीरे-धीरे चलता रहा। परिणाम यह हुआ कि उसने अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। किन्तु खरगोश प्रमादी था अत तेज दौडने की क्षमता रखने पर भी प्रमाद के कारण सो गया और कछुए से पीछे रह गया।

साधक के लिए भी साधना मुक्ति को प्राप्त कराने वाला मार्ग है। किन्तु अगर साधक प्रमाद मे पड गया तो मार्ग कटना कठिन हो जाएगा, पर अगर वह अपनी शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे भी बढता रहे तो निश्चय ही अपनी मन्जिल को प्राप्त कर सकता है। अत आवश्यक है कि वह ज्ञान-प्राप्ति मे, चिन्तन-मनन मे, तप-त्याग मे और ध्यान-साधना मे प्रमाद न रखे, तभी लक्ष्य को पा सकता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—

घोरा मुहुत्ता अबल सरीरं,
भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्ते।

कहते हैं—समय बडा भयकर है और शरीर प्रतिपल जीर्ण-शीर्ण होता जा रहा है। अत साधक को अप्रमत्त भाव से भारड पक्षी की तरह विचरण करना चाहिए।

भारड पक्षी सदा सतर्क और सजग रहता है। अत उसका उदाहरण साधक के लिए दिया गया है। वस्तुत सतक जागरूक एव सतर्क रहने वाला साधक ही अपने पथ पर अग्रसर हो सकता है तथा गतव्य को पा सकता है।

अब आता है—'माया भयम्'। यानी माया के जैसा कोई भय नही है। माया से आप दो अर्थ ले सकते हैं। पहला तो धन है। आप लोग कहा करते हैं—धन को डर है शरीर को नही। तो जहाँ धन होता है वहाँ उसकी सुरक्षा की चिन्ता हो जाती है। धनवान को दिन-रात चैन नही पडती। चोर-डाकुओ का नाम सुनते ही वह कांप जाता है। किन्तु ऐसा भय दीन-दरिद्र को अथवा हम जैसे साधुओ को कभी नहीं सताता। हमारे पास वैसा धन ही नही है, जिसे चोर चुरा सके।

माया का दूसरा अर्थ कपट से लिया जाता है। कपटी व्यक्ति भी सदा भय-भीत रहता है कि कहीं उसकी पोल खुल न जाय। मायावी व्यक्ति इस ससार मे

किसी का सम्मान प्राप्त नही कर सकता । लोग उसके पास बैठने-उठने से भी डरने लगते हैं । दूसरे पारमार्थिक दृष्टि से भी मन मे माया या कपट रखने वाला व्यक्ति आत्म-शुद्धि को प्राप्त नही होता तथा अपने ससार को बढाता जाता है। कहा भी है—

जइ वि य णिगणे किसे चरे,
जइ वि य भु जेमासमतसो ।
जे इह मायाइ मिज्जइ,
आगता गब्भाऽणतसो ॥

अर्थात्—व्यक्ति भले ही नग्न रहे, महिने-महिने का अनशन करे और शरीर को कृश एव अत्यन्त क्षीण कर डाले, किन्तु अगर वह अपने अन्तर मे माया और दम्भ रखता है तो जन्म-मरण के अनन्त चक्र मे भटकता ही रहता है ।

इसीलिये मुमुक्षु प्राणी को माया का सर्वथा त्याग करने का आदेश दिया गया है । माया कषाय के वश मे पडा हुआ प्राणी आत्मा के हिताहित का भान भूल जाता हैं, वह तो प्रतिपल औरो के अहित का चिन्तन करता है और उस पर भी अपनी पोल खुल न जाये, इसके लिए भयभीत बना रहता है ।

अब कहते हैं—"**शरणम् तु सत्यम् ।**' जीव के लिए इस ससार मे सत्य के अलावा अन्य कुछ भी शरणदाता नही है । सत्य की महत्ता शब्दो से नही बताई जा सकती । 'प्रश्नव्याकरण सूत्र' मे तो कहा है—'**त सच्च भगव ।**' सत्य ही भगवान है।

भला इससे बढकर सत्य का महत्व और क्या बताया जा सकता है ? भगवान से बढकर तो और कुछ है नही । अत सत्य को उन्ही के समान कहा गया है दूसरे सत्य के महत्व को और भी बढाने के लिए सत्य को ही भगवान माना गया है। पर यह असत्य नही है और न ही इसमे अतिशयोक्ति है । जो सत्य को पहचान लेता है वह कभी भी और कही भी धोखा नही खाता । परिणाम यह होता है कि सत्य-वादी अपनी आत्मा को निरन्तर कलुष से बचाता चला जाता है और एक दिन अपनी आत्मा को परमात्मा या भगवान के रूप मे परिणत करा लेता है ।

सत्य के विषय मे कहा गया है—

एकतः सकल पाप-मसत्योत्थ ततोऽन्यत ।
साम्यमेव वदन्त्यार्या-स्तुलाया धृतयोस्तयो ॥

—ज्ञानार्णव, पृष्ठ १२६

कहते हैं—एक ओर जगत के समस्त पाप एव दूसरी ओर असत्य का पाप—इन दोना को तराजू मे तोला जाये तो बराबर होंगे, ऐसा आर्यपुरुष कहते हैं ।

वस्तुत जो प्राणी सत्य को अपना लेता है वह ससार के समस्त दुर्गुणो से
व जाता है। असत्य अनेक पापो पर कुछ समय के लिए तो पर्दा डालने मे समर्थ
 ही जाता है पर उस काल मे भी कर्मों का जितना वन्धन होता है वह जीव को
सार-भ्रमण कराने का हेतु बनता है। अत व्यक्ति को सत्य का महत्व समझते हुए
से अन्तरात्मा से अपनाना चाहिए। सत्य किस प्रकार व्यक्ति को अनेक पापो से
चाता है, इसे एक उदाहरण से आपको वताने का प्रयत्न करता हूँ।

सत्य का प्रभाव

एक सेठ बडा सज्जन, ईमानदार एव धर्म मे विश्वास करने वाला था।
न्तु दुर्भाग्य से उसके पुत्र ने अपने पिता के समस्त गुणो से विरोधी गुण अपना
ये। इकलौता पुत्र था और सम्पत्ति बहुत थी, अत दुर्व्यसनो का शिकार बनते उसे
र नही लगी।

पिता ने जव अपने पुत्र को कुमार्ग पर जाते देखा तो बहुत दुखी हुआ और
ोचने लगा—किस प्रकार इसे मार्ग पर लाया जाय? सयोगवश एक सत उस नगर
 आए। सेठ बडे भक्ति-भाव से उनके दर्शन करने गया। सत कुछ दिन ठहरे और
ठ उनकी सेवा मे प्रतिदिन पहुँचता रहा। किन्तु पुत्र की ओर से जो दु:ख उसके
न मे था, वह सदा उसके चेहरे पर झलका करता था।

एक दिन सन्त ने उससे पूछ लिया—"सेठ जी! मैंने सुना है कि आपके
ास बहुत सम्पत्ति है, भरा-पूरा परिवार है और एक पुत्र भी है, फिर इन सभी
ासारिक सुखो के होते हुए भी आप सदा उदास एव चिंतित क्यो दिखाई देते हैं?"

सेठ ने सत की सहानुभूति पाकर अपनी चिन्ता का कारण उनसे कहा। वे
ोले—"भगवन्! सभी तरह का सुख मुझे हासिल है किन्तु मेरा पुत्र कुमार्गगामी
न गया है। कोई भी ऐसा कुव्यसन नही बचा जिसे उसने न अपनाया हो। यही
चन्ता मुझे सदा सताती रहती है कि मेरे मरने के बाद वह क्या करेगा और किस
कार वश का नाम कलकित करेगा?"

सत सेठ की वात सुनकर मुस्कराये और बोले—"एक दिन उसे मेरे पास
 आना।"

सेठ ने उदास होकर कहा—"महाराज! वह तो साधुओ की छाया से भी
र भागता है, कहता है साधु अपने पास आने वाले व्यक्तियो को अनेक प्रकार के
याग कराते रहते हैं।"

सत ने कहा—"तुम उससे कह देना कि मैं उसे किसी भी बात का त्याग
हीं कराऊँगा।"

सेठ घर गया और अगले दिन अपने पुत्र से बोला—

"बेटा ! यहाँ पर बड़े विद्वान एवं त्यागी संत आये हुए हैं। तुम मेरे साथ चलकर उनके दर्शन तो करो।"

पुत्र यह सुनकर भड़क गया और बोला—"पिताजी ! मैं उनके पास नहीं जाऊँगा। साधु लोग यह छोड़ो, वह छोड़ो के सिवाय कोई बात ही नही करते।"

सेठ ने उसे समझाया—"पुत्र ! मैंने महाराज से पहले ही कह दिया है कि आप मेरे लड़के को कुछ भी त्याग करने के लिए मत कहियेगा। उन्होंने यह बात स्वीकार भी कर ली है। अतः कम से कम एक बार ही मेरे आग्रह को मान कर उनके पास चलो।"

पुत्र ने सोचा—पिताजी इतना आग्रह कर रहे हैं, और जब सन्त मुझसे कोई त्याग करने के लिए नहीं कहेंगे तो एक बार चलने मे आखिर मेरा क्या बिगड़ जायेगा ? यह विचार कर वह पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए सन्त के निवास स्थान पर आ गया।

पिता-पुत्र ने सन्त के दर्शन किये और उन्होने बैठने के लिए कहा। पर सेठ के लड़के ने कह दिया—"आप मुझे किसी बात का त्याग करने के लिए न कहे तो बैठ सकता हूँ, अन्यथा इसी क्षण चला जाऊँगा।"

सन्त मधुरता पूर्वक हँसे और बोले—"वत्स ! मैं तुम्हे कुछ भी छोड़ने के लिए नही कहूँगा, पर अगर कुछ ग्रहण करने के लिए कहूँ तो स्वीकार करोगे ?"

"बिना आपकी बात सुने कि आप मुझे क्या ग्रहण करने के लिए कहते हैं, मैं कैसे हाँ कह सकता हूँ ?" पुत्र ने उत्तर दिया।

"हाँ यह भी ठीक है। तो मैं केवल यह कहता हूँ कि तुम सत्य बोलना स्वीकार कर लो। इसके अलावा और जो कुछ भी करना चाहो, करते रहो।"

पुत्र सन्त की बात पर कुछ देर तक विचार करता रहा। उसने सोचा—"महाराज की बात मानने से मेरे किसी काम मे बाधा तो आयेगी नही। ये न तो मुझे जुआ खेलने से मना करते हैं, न शराब पीने से और न ही वेश्यागमन से रोकते है। फिर सच बोलने मात्र का नियम लेने से मेरा क्या बिगड़ता है ? यह सोचकर वह बोला—"ठीक है महाराज ! सत्य बोलने का एक नियम करवा दीजिए।"

सन्त ने प्रसन्नतापूर्वक उसे सत्य बोलने का नियम दिला दिया। कुछ समय पश्चात् पुत्र उठकर चला गया। शाम को उसने खाना खाया और जब शराब की याद आई तो घर से बाहर जाने लगा। संयोगवश उसी समय उसकी दुकान के वृद्ध

मुनीम बाहर से आते हुए मिल गये। उन्होंन पूछ लिया—"बेटे! अच्छी तरह से तो हो? इस समय कहाँ जा रहे हो?"

श्रेष्ठिपुत्र बडे सकट मे पड गया। हमेशा तो वह कोई भी बहाना बाहर जाने का बना देता था। पर आज तो वह सच बोलने का नियम लेकर आया था अत सोचने लगा—"अब कोई बहाना बनाता हूँ तो असत्य का पाप लगता है और सत्य कहूँ कैसे? मुनीम मेरे पिता के समान है, इनसे कैसे कह सकता हूँ कि शराब पीने जा रहा हूँ।" ऐसा सोचते हुए वह कुछ न कहकर पुन अन्दर चला आया।

कुछ समय और व्यतीत हुआ तो उसे ख्याल आया कि मेरे दोस्त पत्ते लिये बैठे होंगे, मेरे बिना दाँव लगायेगा भी कौन? चलूँ अब वही सही। यह विचारकर वह पुन उठा और घर से बाहर निकला। पर बाहर निकलते-निकलते उसके पिताजी दुकान से आते हुए मिल गये। सहज भाव से उन्होंने पूछ लिया—

"पुत्र किधर जा रहे हो?" लडके की फिर मुश्किल हो गई। गलत कारण बताये तो झूठ और सच कहे तो पिता क्या सोचेंगे कि जुआ खेलने जा रहा है। वह फिर मन मारकर लौट आया। पर कुछ रात बीतने पर फिर उसे मन बहलाने के लिए वेश्या के यहाँ जाने का मन हुआ। वह भगवान का नाम लेकर फिर उठा और कमरे से बाहर जाने लगा।

पर आश्चर्यजनक सयोग सब उसी दिन घटने थे। वह कमरे से बाहर निकल भी नही पाया था कि उसकी माँ गरम दूध का गिलास लेकर सामने आ गई और कह बैठी—"बेटा, दूध पीलो और सो जाओ! अब इतनी रात गये कहाँ जा रहे हो?"

बेचारा पुत्र भारी मुसीबत मे पड गया। वह माँ से क्या कहता कि कहाँ जा रहा हूँ? बहुत ही झुँझलाते हुए उसने दूध लिया और बोला—"कही नही जाता, दूध पीकर सोता हूँ।"

इस प्रकार सत्य बोलने का नियम लेकर वह उस दिन कही नही जा पाया। और फिर तो रोज-रोज ही ऐसा होने लगा। परिवार काफी बडा था और ऊपर से मुनीम, गुमास्ते तथा नौकर-चाकर भी रहते थे। कोई भी उसे बाहर जाते देखकर पूछ ही लेता कि कहाँ जा रहे हो? वह उत्तर दे नही सकता था, क्योंकि पूछने वाला उसके दुर्व्यसन के बारे मे जानकर माता-पिता से शिकायत कर सकता था।

पर धीरे-धीरे उसकी बुरी आदतें स्वय ही छूटने लगी। जब कुछ दिन तक वह जुआ, शराब या मुजरे मे नही जा पाया तो फिर उसे स्वय भी उन सबसे नफरत हो गई। यह सब सत्य बोलने का नियम लेने का ही परिणाम था। स्पष्ट है कि एक सत्य ही जीवन के अनेक दुर्गुणो को नष्ट कर देता है। इसीलिए श्लोक मे कहा गया

है—सत्य ही मानव के लिए शरण लेने का स्थान है और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी शरण लेनी चाहिए ।

आगे कहते हैं—'लोहो दुहम् ।' लोभ जैसा कोई दु ख नही है । इस ससार मे मनुष्य लोभ के कारण नाना पाप करता है । इस महा-कपाय का वर्णन करते हुए हमारे शास्त्र कहते है कि ससारी प्राणी जव लोभ के वश मे हो जाते हैं तो दिन-रात उन्हे तृष्णा सताती रहती है । उनकी इच्छायें और कामनायें कभी पूरी नही होती और जव इच्छाओ का अन्त नही आता तो तृप्ति की सम्भावना भी नही होती ।

वास्तव मे लोभ अग्नि के समान है, जिसमे ज्यो-ज्यो ई घन डाला जाय वह भडकती चली जाती है । लोभ को शान्त करने के लिए मनुष्य हीरे, मोती, माणिक, सोना, चादी, धन-धान्य, मकान एव जमीन आदि जुटाता जाता है किन्तु लोभ की ज्वालाएँ उन्हे पाकर और-और बढती हैं । परिणाम यह होता है कि प्राणी को इस जीवन मे तृष्णा की आग मे जलना पडता है और भारी परिग्रह को जुटाने मे जो पाप करने पडते हैं, उनके कारण जन्म-जन्मान्तर तक ससार-भ्रमण करना हाता है ।

भगवद्गीता मे कहा है—

> त्रिविध नरकस्येद द्वार नाशनमात्मन ।
> काम. क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतन्त्त्रयत्यजेत् ।।

अर्थात्—नरक के तीन द्वार हैं जो आत्मा का विनाश करते हैं । वे हैं—काम, क्रोध और लोभ । अतएव इन तीनो का त्याग करना चाहिए ।

वस्तुत लोभ महा दु खदायी है और इसे त्यागे विना मानव कभी सुख या शान्ति महसूस नही कर सकता ।

लोभ को दु ख वताने के वाद आगे यह भी वताया है कि फिर सुख क्या है ? स विषय मे कहा है—'सुहमाह तुट्ठी ।' सन्तोष के समान सुख नही है ।

वास्तव मे ही मनुष्य की तृष्णा कभी शान्त नही होती और वह कितना भी ग्रह क्यो न करता जाय, सदा अतृप्त और दुखी रहता है । आज मनुष्य की हवस तनी वढ गयी है कि उसका कही किनारा ही दृष्टिगोचर नही होता । एक आवश्यकता वह पूरी करता है कि उसकी जगह पाँच आवश्यकतायें नई उत्पन्न हो जाती । इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह अपनी स्थिति मे सदा सन्तुष्ट रहे । ऐसा रने पर आध्यात्मिक लाभ तो होगा ही, साथ ही सासारिक दृष्टि से भी वह लाभ रहेगा ।

सन्तोषी व्यक्ति धन कमाने की अनेक झझटो से तथा पापो से बच जाता है और जब अधिक धन इकट्ठा नही करता तो व्यर्थ के व्यय से भी बचता है। दूसरे उसके जीवन मे सादगी और सयम आ जाता है अत वह परम शान्ति का अनुभव करता है।

एक श्लोक मे कहा भी है—

> **सन्तोषामृततृप्ताना, यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।**
> **कुतस्तद्धनलुब्धाना-मितश्चेतश्च धावताम् ।।**

अर्थात्—सन्तोषरूपी अमृत को पाकर जो तृप्त हो गये हैं और इस कारण जिनका चित्त शान्त हो गया है, उन्हे जिस सुख का अनुभव होता है, वह सुख धन के लोभ मे पडकर इधर-उधर दौड-धूप मचाने वालो के भाग्य मे कहाँ ?

कहने का अभिप्राय यही है कि सुख सतोष रखने मे है। 'अलाभ परिषह' भी साधक को सतोष धारण करने की प्रेरणा देता है। भिक्षाचरी के लिए जाने पर साधु को अगर सयोग न मिले तो भी वह सतोष रखे तथा अगले दिन मिल जाएगा, ऐसा विचार करे। जो साधक ऐसा सोच लेता है उसे 'अलाभ परिषह' तकलीफ नही देता। सतोष धारण करने से ही आत्मा का कल्याण होता है।

इस ससार मे मनुष्य को अनेक प्रकार के कष्टो और परिषहो का सामना करना पडता है। किन्तु जो व्यक्ति साधारण होते हैं वे रो-रोकर उन्हे भोगते है और जो असाधारण अर्थात् महान् होते हैं वे हँसते हुए उन पर विजय प्राप्त करते हैं।

किसी हिन्दी भाषा के कवि ने कहा है—

> **ये दुनिया एक उलझन है, कहीं धोखा कहीं ठोकर।**
> **कोई हँस-हँस के जीता है, कोई जीता है रो-रोकर।**
> **जो गिरकर भी सम्हल जाये, उसे इन्सान कहते हैं।**
> **किसी के काम जो आये, उसे इन्सान कहते हैं।**
> **पराया दर्द अपनाये उसे इन्सान कहते हैं।**

कवि ने कहा है—यह ससार एक उलझन है। और इसमे व्यक्ति कही धोखा खाता है तथा कही पर ठोकर खाकर गिर पडता है। अर्थात् नाना प्रकार के कष्ट उसके सामने आते हैं। कभी वह धनाभाव के कारण रोता है तो कभी उसका धन कोई चुरा ले जाता है। कभी बालक के जन्म पर हँसता है, किन्तु उसी की मृत्यु हो जाने पर रोता है। कभी भार्या, कुभार्या साबित होती है और कभी पुत्र अपमानित करता है। इसके अलावा कभी-कभी मनुष्य स्वय भी पतन के मार्ग पर अग्रसर होकर अपनी आत्मा को गिरा लेता है।

पर आगे कहा है कि इन्सान वही है जो गिरकर भी सम्हल जाता है। गलतियाँ और भूले होना कोई बडी वात नही है, वे मनुष्य से ही होती हैं किन्तु अपनी भूलो का सुधार कर लेने वाला सच्चा इन्सान कहलाता है। दूसरे शब्दो मे, मार्ग से च्युत होना असम्भव नही है, मनुष्य पथ-भ्रष्ट हो जाता है, किन्तु सच्चा इन्सान वह है जो पुन सही मार्ग ढूंढकर उस पर चल पडता है। सुमार्ग पर चलने वाला पराये दुख-दर्द से दुखी होता है तथा उन्हें मिटाने का प्रयास करता है। ऐसा व्यक्ति कभी स्वार्थी नही बनता तथा प्रत्येक जरूरतमन्द के काम आता है। यही सच्चे मानव या इन्सान के लक्षण होते हैं।

कविता मे आगे कहा गया है—

अगर गलती रुलाती है तो रस्ता भी बताती है।
मनुज गलती का पुतला है ये अकसर हो ही जाती है।
जो गलती करके पछताये, उसे इन्सान कहते हैं।

कवि का कथन है कि गलती या भूल इन्सान से ही होती है। किन्तु गलती अगर पहले रुलाती है तो बाद मे सही मार्ग भी दिखा देती है। आप सोचेंगे कि यह कैसी वात है? गलती किस प्रकार मार्ग वताती है? इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति ठोकर खाता है वही बाद मे सभल कर चलने का प्रयत्न करता है।

इसी विषय की अगर अधिक विवेचना की जाय तो स्पष्ट समझा जा सकता है कि मुमुक्षु व्यक्ति यद्यपि वहुत सावधानी रखता है कि उसके द्वारा कोई दुष्कृत्य न हो पाये। किन्तु मन की अस्थिरता एव चपलता के कारण वह मन से, वचन से और कभी-कभी तन से भी गिर जाता है।

किन्तु गिरने के पश्चात् वह गिरा ही रहे, यह आवश्यक नही है। अपने पतन पर वह पश्चात्ताप करता है, पूर्ण निष्कपट एव सरल भाव से अपने दोषो के लिए गुरु के समक्ष आलोचना करके प्रायश्चित्त करता हुआ पुन अपनी गलतियो को न दुहराने की प्रतिज्ञा करता है। इस प्रकार जो गलतियाँ उसे दुखी करती हैं, रुलाती है, वे ही कुछ समय पश्चात् सही मार्ग भी वताती है।

एक उर्दू भाषा के कवि ने भी अपने शेर मे कहा है कि गलतियाँ हो जाने पर इन्सान को सोचना चाहिए कि—

तुहमतें चन्द अपने जिम्मे धर चले।
किसलिए आए थे हम क्या कर चले।

ताभो तं न तज्जए

अर्थात्—व्यक्ति को विचार करना चाहिए कि इस ससार मे आकर हम केवल कलक ही अपने माथे पर लेकर जा रहे है। खेद है कि जो मनुष्य-जीवन हमे आत्मा को उन्नत वनाने के लिए मिला था, उसके द्वारा हमने आत्मा का और पतन कर लिया है। इस प्रकार क्या करने आये थे और क्या करके जा रहे हैं ?

जो भव्य प्राणी ऐसा सोचते हैं वे गिरकर भी उठ जाते हैं, ठोकर खाकर सभल जाते है और वे ही सच्चे इन्सान कहला सकते हैं।

तो वन्धुओ, प्रत्येक साधक को और प्रत्येक व्यक्ति को भली-भांति समझ लेना चाहिए कि यह ससार एक जाल है जो सुख एव दु ख, लाभ एव अलाभ के तानो-वानो से वुना हुआ है। यहाँ कभी सुख प्राप्त होता है और कभी दु ख, कभी लाभ होता है और कभी अलाभ-परिषह सामने आता है। पर जो इन सभी स्थितियो ...भाव रखता है वही सिद्धि के सोपान पर चढ़ता है।

❀

१५ | शरीरं व्याधिमंदिरम्

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

सवर तत्व के सत्तावन भेदो मे से तेईस भेदो का वर्णन किया जा चुका है। अव चौबीसवें भेद का जो कि सोलहवाँ परिषह है, वर्णन किया जा रहा है। इस परिषह का नाम है—'रोग परिषह'।

आप और हम सभी जानते हैं कि जहाँ शरीर है, वहाँ रोगो के आक्रमण का भी सदा भय है। साधु, श्रावक या अन्य कोई भी व्यक्ति क्यो न हो, वह कभी भी और किसी समय भी रोग से आक्रात हो सकता है। रोगो से वचना किसी भी शरीरधारी के लिए सभव नही है। भले ही व्यक्ति एकदेशीय व्रतधारी श्रावक हो या सर्वदेशीय महाव्रत धारी मुनि, पूर्वकृत कर्मों का परिणाम तो उसे भोगना ही पडता है और वे अनेक रूपो मे उसके समक्ष आते हैं। कभी व्यक्ति को धन की हानि होती है, कभी स्वजनो का वियोग होता है, कभी किसी शत्रु का सामना करना पडता है और कभी रोगो का।

साधारणतया यही देखा जाता है कि व्यक्ति रोगाक्रात होने पर चीखता है, चिल्लाता है, रोता है और इसके साथ-साथ भगवान को कोसता जाता है। साराश यही है कि वह वीमारी के समय निरन्तर आर्तध्यान करता रहता है। परिणाम यह होता है कि पूर्व कर्मो से तो उसे छुटकारा मिल नही पाता, उलटे अनेक नवीन कर्म वँध जाते हैं।

किन्तु मुनि तो अपने पूर्व कर्मों की निर्जरा करने के लिए और नवीन कर्मों का आगमन रोकने के लिए सयम ग्रहण करता है अत उसे रोगादि परिषहो के उपस्थित होने पर विचलित नही होना चाहिए अपितु समभाव एव शाति से उन्हे सहन करना चाहिए।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन की वत्तीसवी गाथा मे कहा गया है—

नच्चा उप्पइयं दुक्ख, वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो थामए पन्न, पुट्ठो तत्थऽहियासए॥

भगवान महावीर का आदेश है कि साधु अपने शरीर मे उत्पन्न हुए दु ख को जानकर वेदना से दुखी न होता हुआ दीनता रहित बुद्धि को स्थापन करे तथा महसूस होने वाले दु ख को समतापूर्वक सहन करे।

अभिप्राय यही है कि साधु को भले ही भयकर ज्वर हो, कोई भी तीव्र वेदना पहुँचाने वाल घाव, व्रण या सूजन आदि शरीर मे हो, वह किसी भी प्रकार का दु ख या विह्वलता का अनुभव न करे और न ही आर्त-ध्यान मन मे लाये।

सयमशील साधु को चाहिए कि वह रोगजनित वेदना मे अपनी बुद्धि को स्थिर और मन को शान्त रखे। वह इस प्रकार का चिन्तन करे कि—इस आत्मा ने कृतकर्मों के कारण अनेक बार शारीरिक एव मानसिक कष्टो का अनुभव किया है। इस समय भी मुझे जो कष्ट उत्पन्न हो रहा है वह असाता वेदनीय कर्मों के कारण है। कर्मों का भुगतान तो जीव को करना ही पडता है। किसी भी उपाय से उससे बचा नही जा सकता। इसीलिए अनिवार्य समझकर उनके कारण उत्पन्न रोगादि को समतापूर्वक सहन करना चाहिए। हाय-हाय करने से या रोने-चीखने से बीमारी तो कभी हट नही सकती, फिर चिन्ता करने से या आर्तध्यान करने से क्या लाभ है ?

सस्कृत साहित्य मे शरीर के विषय मे कहा जाता है—"शरीर व्याधि-मन्दिरम्।" यह शरीर अनेक व्याधियो का घर है।

हम ग्रन्थो मे पढते हैं कि मनुष्य के शरीर पर साढे तीन करोड रोम होते हैं और प्रत्येक रोम के मूल मे पौने दो रोग छिपे रहते हैं। इस प्रकार साढे पाँच करोड से भी अधिक रोग शरीर मे रहते हैं। सौ-दोसो या लाख-दो लाख नहीं, करोडो रोगो का घर यह शरीर होता है। आप सोचेंगे कि जब इतने रोग इस शरीर मे विद्यमान रहते हैं तो फिर ये सदा ही हमे क्यो नही सताते ? इसका कारण यह है कि जब तक मानव के पल्ले में पुण्य होता है, रोग भी अपना सिर ऊँचा नही करते। किन्तु जब पुण्यवानी मे कमी आ जाती है और पापो का उदय होता है तो इनकी बन आती है और तनिक से कारण को निमित बनाकर ये दु ख देने लगते हैं। यथा—ग्रीष्म की धूप चलकर आए, पानी पी लिया तो बीमार पड गए। छत पर सोये, सर्दी लगी कि निमोनिया हो गया। गरी खाकर पानी पी लिया, खाँसी हो गई। इसी प्रकार छोटे-छोटे निमित्तो को लेकर ही रोग शरीर मे घर कर जाते हैं।

ऐसी स्थितियो मे मुनि को यही सोचना चाहिए कि मेरे पाप कर्म अपना कर्ज वसूल करने आए हैं और मुझे सहर्ष चुकाना चाहिये। यह जीवन तो क्षणभगुर है ही, किसी भी बहाने से नष्ट होगा, फिर रोगो से घबरा कर अपनी साधना मे बाधा डालने से क्या लाभ है ? अगर मै आर्तध्यान करूँगा तो अधिक कर्म मेरी आत्मा को घेरते जाएँगे और ससार बढेगा।

भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक मे बडा आश्चर्य प्रगट करते हुए कहा है—

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ति ।
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम् ।।
आयु परिस्रवति छिन्न घटादिवाम्भो ।
लोकस्तथाऽप्यहितमाचरतीति चित्रम् ।।

वृद्धावस्था भयकर बाघिन की तरह सामने खडी है । रोग शत्रुओ की तरह आक्रमण कर रहे हैं । आयु फूटे हुए घडे के पानी की तरह निकली चली जा रही है । पर आश्चर्य की बात है कि लोग फिर भी वही काम करते हैं, जिनसे उनका अनिष्ट हो ।

वस्तुत जरारूपी सिहनी इस शरीर की ओर सदा ताक लगाए रहता है जो कि दाव पाते ही खून चूस लेती है । युवावस्था मे रहने वाली शक्ति वृद्धावस्था मे नही टिकती । जिस प्रकार खेल-तमाशे वाले पहले ही सूचना देते हैं—'येणार-येणार ।' वैसे ही यह वृद्धावस्था कहती है—मैं आने वाली हूँ, आने वाली हूँ ! अत अगर चाहो तो अभी धर्मध्यान कर लो ।

रोग भी वृद्धावस्था से कम नही है । वृद्धावस्था तो युवावस्था के बाद ही आती है किन्तु रोग तो न शैशवावस्था देखते हैं, न युवावस्था और न ही वृद्धावस्था का ध्यान रखते हैं । किसी भी आयु मे और किसी भी समय वे अचानक ही आक्रमण कर बैठते हैं । वे यह नही देखते कि बच्चे को बहुत तकलीफ होगी और वृद्ध अशक्ति के कारण हमारा सामना नही कर पाएगा । तो पूर्व कर्म रोगो के रूप मे प्रत्येक जीव से अपनी वसूली कर ही लेते हैं, किसी को भी नही छोडते ।

श्लोक के तीसरे चरण मे कहा है—जिस प्रकार फूटे हुए घडे मे से एक-एक बूंद पानी टपकता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी क्षण-क्षण मे समाप्त होता चला जाता है । किन्तु बडे आश्चर्य की बात है कि व्यक्ति ऐसी स्थिति मे भी चेतता नही है और सकटो से घबराता हुआ नवीन कर्मों का बन्धन करता चला जाता है जो आत्मा के लिये महा अनिष्ट का कारण बनता है । जिन्दगी के इस छोटे से काल मे भी मानव इसी प्रकार आत्मा का हित न सोचता हुआ अनेकानेक अगले जन्मो के लिये दु ख एव कष्ट का सामान तैयार कर लेता है ।

एक कवि ने जीवन की अल्पता और उस अल्पकाल मे भी मनुष्य की बेपरवाही के विषय मे बताते हुए कहा है—

शतहि वर्ष की आयु, रात मे बीतते आधे ।
ताके आधे-आध वृद्ध बालकपन साधे ।।

रहे यहै दिन, आधि-व्याधि गृहकाज समोये।
नानाविधि बकवाद करत, सर्वदिन को खोये॥
जल की तरग सदृश, देह खेह ह्वै जात है।
सुख कहो कहाँ इन नरन को, जासो फूलत गात है।

आज व्यक्तियो को धर्म-ध्यान करने के लिये अथवा तप-त्याग अपनाने के लिये कहा जाता है तो वे कह देते हैं अभी तो बहुत उम्र बाकी है, फिर कर लेंगे। किन्तु कवि कहता है कि मनुष्य को जीवन मे आखिर समय मिलता ही कितना है?

यद्यपि आज मुश्किल मे ही कोई सौ वर्ष की उमर तक जीता है, अगर हम उम्र को सौ वर्ष की मान ले तो उस हिसाब से सौ के आधे अर्थात् पचास वर्ष तो रात्रि को सोने मे व्यतीत हो जाते है। बचे पचास, उनमे से साढे बारह वर्ष बचपन के और साढे बारह वर्ष वृद्धावस्था के व्यर्थ जाते हैं। क्योकि बाल्यकाल मे बालक आत्मा के महत्व को नही समझता तथा लोक-परलोक, पाप-पुण्य एव स्वर्ग-नरक आदि के विषय मे गम्भीरता से नही सोच सकता और वृद्धावस्था मे इन सबके विषय मे ज्ञान होने पर भी अशक्ति के कारण आत्मकल्याण के लिये साधना नहीं कर सकता।

तो पचास वर्ष रात्रि के साढे बारह वर्ष बचपन के और साढे बारह वर्ष वृद्धावस्था के निकाल देने के पश्चात् अगर आयु की सौ वरस मानते हैं तो केवल पच्चीस वर्ष बाकी रह जाते हैं। इन पच्चीस वर्षों मे भी क्या व्यक्ति आत्म-कल्याण के लिये कुछ करता है? नही। वह अपनी युवावस्था मे घमण्ड के मारे जमीन पर पाँव नही रखता। अपने परिवार का, धन का, रूप का और शक्ति का गर्व हृदय मे भरे हुए, बात-बात मे लोगो से उलझता है, नाना प्रकार के बहानो को लेकर औरो से झगडता है और इनसे समय बचा तो आधि-व्याधि या उपाधियो से जूझता रहता है। परिणाम यह होता है कि यह मानव-जीवन जिसप्रकार जल की तरग आती है और चली जाती है, उसी प्रकार क्षण-क्षण करके समाप्त हो जाता है। फिर बताइये कि मानव अपने जीवन से क्या लाभ उठाता है और किस बात का गर्व करता है? कुछ भी तो उसके पास गर्व करने लायक नही है। समस्त सासारिक वैभव तो अस्थिर है ही, शरीर भी क्षणभगुर है जो कि देखते-देखते ही नष्ट होकर खाक मे मिल जाता है।

इसीलिये कवि सुन्दरदास जी कहते हैं—

सत सदा उपदेश बतावत,
केश सबै सिर श्वेत भये हैं।
तू ममता अजहूँ नहिं छाडत,
मौतहु आइ सदेश दये हैं॥

आजु कि काल चले उठि मूरख,
तेरे ही देखत केते गये हैं।
सुन्दर क्यो नहिं राम सभारत,
या जग मे कहु कौन रहे हैं।

सत-महापुरुष जगत के प्रत्येक व्यक्ति को चेतावनी देते हुए कहते हैं—"भोले प्राणी ! तू जीवन भर सासारिक कार्यों मे व्यस्त रहा, नाना प्रकार के भौतिक पदार्थों को जुटाने मे लगा रहा तथा अपने परिवार के व्यक्तियो और स्वजनो के मोह मे पड़ा हुआ अनेकानेक कुकर्म कर चुका। यहाँ तक कि अव तो तेरे सिर के सम्पूर्ण केश भी श्वेत हो चुके हैं, किन्तु अव तक भी तू इन सवके प्रति रही हुई आसक्ति एव ममता का त्याग नही करता।"

"ओ मूर्ख ! यह तो ध्यान मे रख कि मौत ने तुझे अनेको सदेश भेज दिये हैं। यानी वृद्धावस्था के कारण तेरा शरीर शिथिल हो गया है, गात्र सकुचित हो गया है, कान वहरे हो चुके हैं और दाँत टूट गए हैं। वाल भी सफेद हो चुके है तथा नेत्रो से वरावर दिखाई नही देता। फिर भी तू सावधान नही होता, जवकि तेरे समक्ष ही असख्य व्यक्ति इस पृथ्वी पर से उठ चुके हैं। निश्चय ही तू भी यहाँ नही रहेगा, क्योकि इस जगत मे कोई भी स्थायी नही रहता। फिर भाई कम से कम अव तो तू ईश-चिन्तन कर और धर्मध्यान मे मन लगा।"

वस्तुत जिन भोगोपभोगो के साधनो को जुटाने के लिये मनुष्य दिन-रात दौड-धूप करता है और जिनकी प्राप्ति के लिये अथक श्रम करता रहता है, वे क्या स्थायी रहने वाले हैं ? नही। भले ही मानव अपने अमूल्य जन्म को इस प्रकार वृथा गँवाकर भी उसे सफल समझता है पर देखा जाय तो वह क्षण-क्षण करके निरर्थक ही जाता है।

एक मराठी कवि ने भी जीवन के सम्वन्ध मे कहा है—

घटका गेली, पर्ले गेली, तास बाजे क्षणाणा,
आयुष्याचा नाश होतो, राम का हो म्हणाणा ?
एक प्रहर, दोन प्रहर, तीन प्रहर गेले,
प्रपचाच्या व्यापाने चार ही प्रहर गेले ॥

हिन्दी के कवि ने जो वात कही है, वही वात मराठी कवि भी कह रहा है कि पल जाता है, घडी जाती है और घडी मे टकोरे लगते हुए दिन-रात व्यतीत होते जाते हैं। इस प्रकार एक-एक पल, घटिका और प्रहर, दो प्रहर तथा तीन प्रहर व्यतीत होते हुए आयुष्य वीतता चल जाता है।

यह बताते हुए कवि कहता है—"अरे प्राणी ! तू सासारिक प्रपचो मे दिन के और रात्रि के चारो प्रहर व्यतीत कर देता है, फिर राम का यानी भगवान का भजन कब करेगा ?'

वस्तुत यह शरीर तो प्रतिपल जीर्ण होता चला जाता है, पर मनुष्य इस बात की परवाह नही करता और इसके द्वारा कोई लाभ नही उठाता । जब तक वह स्वस्थ रहता है, तब तक तो अपने रूप के, धन के या परिवार के घमण्ड मे भूला रहता है तथा भौतिक उपलब्धियो की प्राप्ति के लिये भाग-दौड करता है और जब उसी शरीर को रोग घेर लेते है तो हाय-हाय करता हुआ अपने कर्मों को और भगवान को कोसता रहता है ।

किन्तु जो भव्य प्राणी अपने जीवन का महत्त्व समझ लेते हैं वे जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नही गँवाते और निरतर आत्मोन्नति मे लगे रहते हैं । वे स्वस्थ रहते हैं तब भी अपनी आत्मा के लाभ का प्रयत्न करते हैं और रोगो का आक्रमण हो जाने पर भी 'रोग परिषह' पर विजय प्राप्त करते हुए अपना सम्पूर्ण ध्यान आत्मा का कष्ट मिटाने की ओर लगाये रहते हैं ।

चक्रवर्ती सनत्कुमार के विषय में आपने पढा और सुना होगा कि वे अद्वितीय सौन्दर्य के धनी थे । स्वर्ग के देवता भी उनके सौन्दर्य का अवलोकन करने की आकाक्षा रखते थे ।

एक बार एक देव दीन-दरिद्र ब्राह्मण का रूप धारण करके सनत्कुमार महाराज के सौन्दर्य-दर्शन की लालसा से आया । वह प्रातकाल महल के द्वार पर पहुँचा और प्रहरियो से महाराज के दर्शन की इच्छा प्रकट की । द्वारपालो ने उसे रोका और कुछ समय पश्चात् राज्य-दरबार के समय उपस्थित होकर महाराज से मिलने की सलाह दी । ब्राह्मण माना नही और उसने कहा—"मैं बडी दूर से आया हूँ, यहाँ तक कि पैरो की जूतियाँ भी मेरी फट गई हैं । कृपया तुम महाराज से यही बात जाकर कहो ताकि वे मुझे अविलम्ब दर्शन दे । मुझे विश्वास है कि वे मेरी प्रार्थना ठुकराएँगे नही ।"

द्वारपाल ब्राह्मण की उत्कट इच्छा जानकर महाराज के पास गया और उन्हें ब्राह्मण की सारी बात कह सुनाई । चक्रवर्ती सनत्कुमार बडे दयालु थे । उन्होंने दया करके ब्राह्मण को अपने पास आने की इजाजत दे दी ।

द्वारपालो के कथनानुसार ब्राह्मण हर्षित होता हुआ राजमहल मे पहुँचा । ज्योंही वह महाराज के समक्ष पहुँचा, उसकी आँखें आश्चर्य से विस्फारित हो गई । अत्यन्त चकित और गद्‌गद् होकर वह बोल उठा—

"अहो ! कैसा अद्वितीय रूप है ! मैंने जैसा सुना था उससे भी अधिक सौन्दर्य है आपका । मैं धन्य हो गया आपकी शरीर सम्पदा देखकर ।"

अपने सौन्दर्य की ऐसी प्रशसा सुनकर महाराज सनत्कुमार तनिक गर्व से भर गये और बोले—"द्विज श्रेष्ठ ! अभी तुमने मेरा सौन्दर्य अच्छी तरह और पूर्ण रूप से कहाँ देखा है ? इस समय तो मैं स्नान आदि नित्य कार्यों के लिए जा रहा हूँ अत वस्त्राभरण से रहित हूं । अगर तुम्हे मेरा रूप देखना है तो जव मैं वस्त्रालकारो से सुसज्जित होकर दरवार मे आऊँ तव देखना ।"

"जो आज्ञा !" कहकर ब्राह्मण पुन राज्य दरबार मे पहुँचने का निश्चय करके राजमहल से वाहर आ गया ।

अपने निश्चय के अनुसार वह नियत समय पर दरबार मे पहुँचा और एक स्थान पर बैठकर सनत्कुमार का सौन्दर्य-पान करता रहा ।

कुछ समय पश्चात् जब राजा की निगाह उस पर पडी तो उन्होंने ब्राह्मण को अपने पास बुलाया और पूछा—"ब्राह्मण देवता ! अब वताओ कि मेरा सौन्दर्य तुम्हे कैसा लगा ?"

"महाराज ! अब तो वह वात नही रही ।" ब्राह्मण के यह वचन सुनकर चक्रवर्ती सनत्कुमार मानो आकाश से गिर पडे । महा विस्मय से उन्होंने पूछा—"यह क्या कह रहे हो ? अव तो मेरे रूप मे चार चाँद लग गये हैं और तुम कह रहे हो, वह बात नही रही ? इसका क्या प्रमाण है ?"

ब्राह्मण वोला—"महाराज आप तनिक समीप रखी हुई इस पीकदानी मे थूकिये ।"

सनत्कुमार जी ने वैसा ही किया । पर थूकने के पश्चात् देखते क्या हैं कि उनके थूक मे सैकडो कीडे विलविला रहे हैं । वह इस कारण कि उनके शरीर मे सोलहो रोग हो गये थे । शरीर की ऐसी स्थिति देखकर महाराज को विरक्ति हो गई और उन्होने सयम ग्रहण कर लिया । किन्तु रोगो ने उसके पश्चात् भी उनका पिंड नही छोडा । पर वे सच्चे मुनि थे अत विना उनकी परवाह किये निरन्तर साधना मार्ग पर अग्रसर होते रहे । 'रोग परिषह' पर उन्होंने पूर्णतया विजय प्राप्त कर ली थी ।

यहाँ तक कि उनकी दृढता की परीक्षा स्वय देवता ने आकर कई वार ली । एक वार देव वैद्य का रूप वनाकर उनके पास आया और वोला—"महाराज ! अगर आप मेरी दवा ले तो मैं आपकी वीमारियाँ ठीक कर दूंगा ।"

पर धन्य थे सनत्कुमार मुनि, जिन्होंने उत्तर दिया—"वैद्यजी ! आप शरीर का रोग ठीक कर देंगे, किन्तु कर्म रूपी रोगो को भी नष्ट कर सकेंगे क्या ? शरीर तो

वैसे भी नष्ट होने वाला है अत उसकी चिन्ता करने से क्या लाभ है ? मैं तो कर्म-रूपी रोगो का सम्पूर्ण रूप से नाश करना चाहता हूँ और उसी मे जुटा हुआ हूँ। इसलिए शरीर के इन रोगो के उपचार मे अपने जीवन के अमूल्य क्षण व्यर्थ जाने देना नही चाहता ।"

इस प्रकार 'रोग-परिषह' को जीतते हुए मुनि सनत्कुमार अपनी साधना को उत्कर्ष की ओर वढाते रहे । यद्यपि उनकी शारीरिक स्थिति अत्यन्त खराब थी। विचरण करना कठिन होता था, क्योकि पैरो मे घाव ही घाव हो गये थे । किन्तु उनकी ओर से वे पूर्णतया लापरवाह थे । देव ने उस समय भी मोची का रूप वना-कर उन्हें कसौटी पर कसने की इच्छा से आकर कहा—"महाराज ! आपके पैरो मे वहुत घाव हो चुके है अत आप कहे तो मैं पदत्राण आपके लिए तैयार कर दूं ।"

पर मुनिश्रेष्ठ कव इसके लिए तैयार होने वाले थे ? उन्होने स्पष्ट इन्कार कर दिया। कहने का अभिप्राय यही है कि मुनिधर्म का सच्चे मायनो मे पालन करने वाले महामुनि सनत्कुमार जी अनेक रोगो के शरीर मे विद्यमान रहते हुए भी विना उनसे रचमात्र भी विचलित हुए अपनी आत्म-साधना मे लगे रहे और अपने लक्ष्य की प्राप्ति मे सफल हुए । इसे ही 'रोग-परिषह' विजय कहते हैं ।

भगवान का आदेश भी यही है—

तेगिच्छ नाभिनदेज्जा, सचिक्खऽत्तगवेसए ।
एव खु तस्स सामण्ण, ज न कुज्जा न कारवे ।।

उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २, गा० ३३

अर्थात् आत्मा की गवेषणा करने वाला साधु रोगादि की चिकित्सा का कभी अनुमोदन न करे अपितु समाधि मे रहता हुआ किसी औषधि के द्वारा न तो स्वय उसके प्रतिकार करने का प्रयत्न करे और न दूसरो से करावे । इसी मे उसकी साधुता की महत्ता है ।

आशय यही है कि रोगो को पूर्वकृत कर्मो का फल समझकर साधु पूर्ण समभाव पूर्वक उनके द्वारा पैदा हुई वेदना को सहन करे तथा उन्हे भोग लेने मे आत्मा का कल्याण यानी कर्मों की निर्जरा समझे । अत्यन्त धैर्य एव दृढता पूर्वक रोग-जनित वेदना को सहन करने पर ही साधु सच्चा श्रमण कहला सकता है ।

एक वात और ध्यान मे रखने की है कि भले ही साधु स्वय चिकित्सा-शास्त्र का ज्ञाता हो तथा रोग-निवारण की क्षमता रखता हो, किन्तु उस स्थिति मे भी वह अपनी चिकित्सा स्वय न करे और न ही औरो से कराने का प्रयत्न करे यानी अपनी अनुमति ही न दे ।

वन्धुओ ! यहाँ आपको शका होगी और आपके हृदय मे यह विचार उठेगा कि आखिर सत-साध्वी अपना इलाज तो कराते ही है । वे शास्त्रोक्त निषेध का पालन कहाँ करते हैं ?

इस विषय मे आप गम्भीरता पूर्वक समझें कि भगवान महावीर की आज्ञानुसार शास्त्रकारो ने रोगादि की भयानक स्थिति मे साधु के लिए जो उपचार का निषेध किया है, वह उत्सर्ग मार्ग है और सिर्फ जिनकल्पी श्रमण की अपेक्षा से प्रतिपादित किया गया है ।

अपवाद मार्ग मे तो स्थविरकल्पी साधु के लिए उपचार एव औषधि का निषेध नही है । उसकी चिकित्सा के लिए निरवद्य औषधि का प्रयोग किया जा सकता है । लोक व्यवहार की दृष्टि से भी यह अनुचित नही है । क्योकि अगर एक सत किसी विशेष प्रकार की व्याधि से पीडित है और उससे उसकी साधना मे बाधा पडती है तो उपचार कराना चाहिए । न करने पर लोग कहते हैं कि जैन अहिंसक होते हैं, किन्तु साधु को व्याधि से पीडित देखकर भी उसका उपचार न करके कितनी निर्दयता, क्रूरता या हिंसा का प्रमाण दे रहे हैं ? इस प्रकार रोग-पीडित साधु की निरवद्य औषधि द्वारा भी चिकित्सा न करने पर निन्दा होती है तथा जैन समाज आलोचना का पात्र बनता है ।

फिर भी साधु को चाहिए कि वह अपने शरीर मे पैदा हुए रोगो के लिए किंचित् मात्र भी चिन्ता न करे, उनके तुरन्त निवारण की अपेक्षा न करे, शाति एव समता पूर्वक उन्हे सहन तथा परिणामो मे तनिक भी विषमता या आर्त-ध्यान न आने दे । साथ ही वह रोग-निवारण के लिये औषधि की अपेक्षा आत्म-बल पर अधिक विश्वास रखे तथा उसके द्वारा ही स्वस्थता का इच्छुक बना रहे । पर औषधि अगर लेनी पडे तो अपने नियमो का कडाई से पालन करते हुए लेवे । यह नहीं कि डॉक्टर या वैद्य ने कहा कि रात्रि के समय दवा लेनी पडेगी तो साधु तैयार हो जाय। साधु के लिये जीवन पर्यन्त का रात्रि को आहार-पानी आदि का त्याग होता है अत आत्मार्थी मुनि इसके लिये स्पष्ट इन्कार करे ।

एक बार घाटकोपर बम्बई मे मुनि मोतीऋषि जी की तबियत रात्रि मे बहुत खराब हो गई । सघ के अध्यक्ष हरिभाई रात मे डॉक्टर को लाये और बोले—"महाराज को इन्जेक्शन लगा दीजिये ।"

हमने इसके लिये स्पष्ट इन्कार कर दिया कि—"हमारे यहाँ रात्रि को यह सब नही हो सकता ।"

डॉक्टर ने भी बहुत जोर देकर कहा—"अगर इन्हें इजेक्शन अभी नही दिया जाएगा तो सभव है लकवा हो जाय और ये समाप्त हो जायें ।"

पर वधुओ, हम किस प्रकार यह स्वीकार कर सकते थे । इन्जेक्शन नही दिया गया और फिर भी वे धीरे-धीरे स्वस्थ हो गये । हमने अजमेर की ओर विहार कर दिया तो वे मार्ग मे आकर मिल गये ।

इसी प्रकार जैसे रात्रि मे औषधि, जल या अन्य कोई भी वस्तु नही ली जाती है, उसी प्रकार सचित वस्तु का उपयोग साधु के लिये नही हो सकता । यथा—किसी वैद्य ने कह दिया—"अमुक झाड की ताजी पत्तियो का रस ले लो ।" तो क्या वह लिया जाएगा ? नही, साधु सचित्त वस्तुओ का प्रयोग कभी नही करने देगा ।

अभिप्राय यही है कि जो साधु इन सब बातो का ध्यान रखते हुए औषधि का अत्यल्प प्रयोग करते हैं तथा पूर्ण समतापूर्वक रोग-जन्य वेदना को सहन करते हैं वे ही 'रोग परिषह' पर विजय प्राप्त करते हुए आत्म-कल्याण कर सकते है ।

१६ | समाज बनाम शरीर

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

सवर तत्त्व के सत्तावन भेदो मे चौबीसवा भेद 'रोग परिषह' आया है। इसके विषय मे श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्याय मे बत्तीस एव तेतीसवी गाथा के द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है।

भगवान महावीर की चेतावनी है—"हे मुने ! शरीर मे रोग की उत्पत्ति होने के बाद उसकी वेदना से होने वाले दु ख से पीडित होकर भी तुम अपनी बुद्धि को स्थिर रखो, तनिक भी हृदय मे दीनता मत आने दो अन्यथा मन विचलित हो जाएगा और सवर मार्ग से हटकर आश्रव की ओर बढेगा। संयम-पथ मे नियमो का पालन करते हुए अगर रोगो का आक्रमण हुआ तो उन्हे समतापूर्वक सहन करो तथा साधु-मर्यादा मे रहकर चिकित्सा कराओ। अगर तुमने चिकित्सा के लिए निवद्य औषधि का त्याग करके सचित्त का उपयोग किया तथा किसी प्रकार का दोष साधु आचरण मे आने दिया तो साधुत्व कलकित हो जायेगा।"

साराश यही है कि बीमारी का इलाज भी किया जाय तो साधु-मर्यादा के अनुकूल होना चाहिए। अगर ऐसा न हो सके तो पूर्ण समभाव से सहन करना चाहिए। शरीर जहाँ है वहाँ रोगो का उत्पन्न होना कोई बडी बात नही है। बडी बात उन्हे समतापूर्वक सहन करने की है और अपनी मर्यादा मे रहकर ही उसका उपचार करवाने की है।

भाइयो ! यह विषय हमने कल लिया था और 'रोग परिषह' के विषय म विचार-विमर्श भी किया था।

आज तो मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि मनुष्य-शरीर के समान ही समाज रूपी शरीर भी होता है। तथा जिस प्रकार यह शरीर रोगो से पीडित होता है, इसी प्रकार समाज-रूपी शरीर भी अनेक रोगो से पीडित होता है।

समाज के रोग

आप विचार करेंगे कि समाज को कौन से रोग होते हैं ? उसे न बुखार

आता है, न पेट-दर्द होता है और न ही निमोनिया या हृदय रोग ही कष्ट पहुँचता है। आपका विचार सही है, पर समाज भी रोगो से पीडित अवश्य होता है। हमारे शरीर के जैसे रोग उसे भले ही नही होते किन्तु उसको अन्य विभिन्न प्रकार के रोग पीडित करते हैं। जैसे—दहेज प्रथा, फिजूलखर्ची, रिश्वतखारी, मानव की मानव से ईर्ष्या, जलन और शत्रुता तथा असगठितता।

समाज का सबसे बडा रोग असगठन है। इस रोग से पीडित होने के कारण व्यक्ति, व्यक्ति से ईर्ष्या करता है, घृणा करता है, तथा एक-दूसरे की बढती को स्वीकार नही कर सकता। असगठन के कारण ही समाज की तरक्की नही होती, उसमे अच्छाइयाँ नही ठहरने पाती और वह सुख शान्ति स पूर्ण समृद्धता को प्राप्त नही कर पाता। दूसरे शब्दो मे समाज रूपी शरीर स्वस्थ नही रह पाता। हम अपने इस नश्वर शरीर को स्वस्थ रखने के लिए तो नाना प्रकार की औषधियाँ लेते है, किन्तु समाज रूपी शरीर को नीरोग बनाने के लिए इसमे रही हुई बुराइयाँ रूपी बीमारियाँ ठीक करने का प्रयत्न नही करते। इस प्रकार कैसे काम चल सकता है?

जिस प्रकार मनुष्य का शरीर स्वस्थ रहे तो वह आत्म-कल्याण का प्रयत्न करता है और धर्माराधन कर सकता है, इसी प्रकार समाज रूपी शरीर स्वस्थ रहे तो उसमे धर्म टिकता है अन्यथा व्यक्ति धन को लेकर आपस मे ईर्ष्या-द्वेष करते हैं, मकान और जमीन के लिए झगडते हैं, दहेज की कुप्रथा के-कारण एक-दूसरे को कोसते हैं तथा और तो और अपने धर्म एव सम्प्रदाय को लेकर भी खून-खच्चर करने से बाज नही आते। समाज रूपी शरीर की अस्वस्थता के कारण ही हमारी नई पीढी के बालक-बालिकाएँ अनुशासनहीन, उच्छृखल एव उद्दड हो रहे हैं। इसी का प्रमाण स्कूलो और कॉलेजो मे शिक्षार्थियो की हडतालें, माँगें एव अतीव अव्यवस्था है। आज छात्रो मे विनय का तो नामोनिशान ही नही रह गया है, वे अपने शिक्षको को और आचार्यो को गाली-गलौज देकर ही सन्तुष्ट नही होते, उन्हे मारते है और कई बार तो सुनने मे आता है कि अध्यापको या प्रोफेसरो की छाती मे छुरे भी घोप देते हैं।

इन सबका क्या कारण है? केवल सभ्यता और हमारी धर्ममय पुनीत सस्कृति की कमी। इसी वजह से आज उन गुरुओ को शिष्य प्रताडित करते हैं जिन्हे हमारी सस्कृति और धर्म भगवान से भी बढकर मानते हैं। यह इसलिए कि मुमुक्षु गुरु के बिना धर्म-मार्ग को नही समझ सकता तथा उनकी सहायता के बिना भगवान को भी नही पा सकता।

पुराणो मे गुरु की महिमा बताते हुए कहा गया है—

न बिना यानपात्रेण तरितु शक्यतेऽर्णव.।
नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽय भवार्णव ॥

—आदिपुराण ६।१७५

अर्थात्—जिस प्रकार जहाज के विना समुद्र को पार नही किया जा सकता, उसी प्रकार गुरु के मार्ग-दर्शन के विना ससार-सागर से पार पाना वहुत कठिन है।

कहने का अभिप्राय यही है कि समाज मे आज जो अव्यवस्था वनी हुई है और अशाति एव अनुशासनहीनता का साम्राज्य फैला हुआ है, उसका कारण समाज का रोग-पीडित होना ही है। अत आवश्यक ही नही अनिवार्य है कि समाज को रोग-मुक्त करने के लिए सगठन रूपी औषधि लेनी चाहिए। इस औषधि को लेने पर ही समाज टिक सकेगा और उसका शरीर निरोग वनेगा।

आज समाज के नेता और विचारक सम्मेलन करते हैं, प्रस्ताव पारित किये जाते हैं तथा वाद-विवाद और वहसें होती है, किन्तु केवल इतना करने से क्या हो सकता है ?

मान लीजिए एक रोगी डॉक्टर के पास जाता है और उन्हे अपने पेट-दर्द के विपय मे, वुखार के वारे मे या अन्य सभी रोगो के विषय मे विस्तारपूर्वक वता देता है। डॉक्टर भी मरीज के समस्त रोगों पर पूर्ण विचार करके अत्युत्तम औषधियां लिखकर नुसखा उसे दे देता है। किन्तु मरीज उसे अपने घर ले जाता है और दिन मे अनेक बार उस नुसखे को पढता है तथा औषधियो की उत्तमता की सराहना करता है किन्तु क्या ऐसा करने से उसकी बीमारियाँ ठीक हो सकती हैं ? नही। रोटी-रोटी के नारे लगाने से पेट नही भरता जव तक पेट मे अन्न नही डाला जाता।

इसी प्रकार विचारको के विचार करने और वाद-विवाद करने से समाज की समस्याये सुलझ नही सकती, न ही उसमे व्यवस्था या अनुशासन स्थापित हो सकता है। इसके लिए तो क्रियात्मक कार्य करना पडेगा। रोटी-रोटी करने से पेट नही भरता और पानी-पानी कहने से प्यास नही मिटती, इसी तरह सगठन-सगठन के नारे लगाने से सगठन भी नही हो सकता। इसके लिए क्रियात्मक कार्य करना पडेगा और तभी समाजरूपी शरीर के सम्पूर्ण अवयव स्वस्थ हो सकेंगे। किन्तु क्या किया जाय ?

"माली बिना बाग आ बगडी जाय।"

गुजराती भाषा के एक भजन मे कहा गया है—माली के न होने से वगीचा विगड जाता है। वात सही है। हम जानते हैं और देखते हैं कि अच्छे वगीचो मे उनके माली दिन-रात परिश्रम करते हैं। वे नए-नए पौधे लगाते हैं, पुरानो को हटाते है, घास-फूस को साफ करते रहते हैं तथा आवश्यकतानुसार पौधो की काट-छाट भी कैंची के द्वारा करते हैं। इतना श्रम करने पर वगीचा फलता-फूलता है तथा लोगों के आकर्षण एव मनोरजन का केन्द्र वनता है।

समाज भी एक विशाल वगीचा है और इसके सभी सदस्य एक-एक पेड के रूप मे है, किन्तु समाज रूपी इस वगीचे का एक भी पेड या पौधा क्या निर्दोष और सुन्दर

है ? नही, सभी मे कुछ न कुछ नुक्स पाया जाता है। कोई अज्ञान से व्याप्त है, कोई प्रमाद से पीडित है, कोई धनाभाव को रोता है, कोई ईर्ष्या-द्वेष का शिकार है और कोई धर्मान्धता के विष से मतवाला है। कहाँ तक गिनाया जाय, आज के युग मे हमारा समाज अनेकानेक बुराइयो का और कमियो का घर बनकर रह गया है। न कोई किसी की सुनता है और न ही दूसरे की सहायता करता है। बस—'अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग।' यही कहावत चरितार्थ हो रही है।

पर ऐसा होना नही चाहिए। व्यक्ति अगर अपने सुख और दु ख के विषय मे विचार करता है तो उसे दूसरे के सुख और दु ख का भी ध्यान रखना चाहिए। आज समाज की स्थिति देखकर मेरा अन्त करण बहुत ही क्षुब्ध होता है, लगता है किस प्रकार इसका कल्याण होगा, किस प्रकार यह अपने सुन्दर सस्कारो को पुनर्जीवित करेगा और किस प्रकार इसमे नीति और धर्म का ठहराव होगा ?

सबसे बडी बात यह है कि आज के समाज मे जिसके पास बुद्धि है, बल है तथा कुछ करने की क्षमता है वे इसके सुधार का प्रयत्न करते नही हैं और जो करना चाहते हैं उनके पास ताकत नही है। सन्त केवल मार्ग-दर्शन कर सकते हैं, किसी को जबर्दस्ती उस पर चला नही सकते। किन्तु आपके पास सामाजिक शक्ति है, आप सही मार्ग पर न चलने वालो को सामाजिक तौर पर किसी न किसी प्रकार से दडित भी कर सकते हैं पर यह प्रयत्न करने पर ही तो किया जा सकता है। हम देखते है कि जिनके पास आज धन है वे व्याह-शादी मे लाखो रुपया लगाते हैं और पैसे का बडा भारी हिस्सा केवल अपने बडप्पन का प्रदर्शन करने के लिए भी व्यर्थ खर्च कर देते हैं। और इसका परिणाम यह होता है कि साधारण स्थिति वाले व्यक्तियो को घर-द्वार बेचकर भी बच्चे-बच्चियो का व्याह करना पडता है, और उस पर भी कृपणता का कलक मस्तक पर लगाना पड जाता है।

इसका कारण क्या है ? यही कि समाज के व्यक्तियो मे सुधार की भावना नही है, कोई बन्धन नही है और कोई विधान भी नही है। इसलिए बन्धुओ, आप लोगों का कर्तव्य है कि आप एकत्रित होकर ऐसी व्यवस्था करे, ऐसे नियम बनाये कि जिनके द्वारा सभी का हित हो और सभी निश्चितता की सास ले सकें। यही नीति का मार्ग है और धर्म का भी। धर्म और नीति पर चलने वाले व्यक्ति इस जीवन मे भी शान्ति प्राप्त करते है और मृत्यु के पश्चात् भी अमर होकर लोगों के दिलो पर राज्य करते हैं। एक उदाहरण से मैं इस बात को आपके सामने रखता हूँ।

बादशाह और बुढ़िया

ईरान मे नौशेरवाँ नामक एक बादशाह हुआ था। वह बडा न्यायी और नीतिवान था। अपनी प्रजा को वह सतानवत् चाहता था तथा उनके सुख-दु ख को अपना सुख-दु ख मानता था।

एक बार उसने अपने लिये एक विशाल महल बनवाने का विचार किया। इस विचार को क्रियान्वित करने पर मालूम हुआ कि जिस विशाल भूमि पर महल बनने जा रहा है, उसमे अनेको व्यक्तियो के मकान हैं। यह जानकर बादशाह ने हुक्म दिया कि महल जहाँ बनने जा रहा है, वहाँ जिन-जिन व्यक्तियो के मकान हैं, उन सभी प्रजाजनो को मुँहमाँगे दाम दो, जिन्हे दूसरे मकान चाहिये, मकान दो, जो जमीन लेना चाहे दुगुनी-चौगुनी जमीन देकर सतुष्ट करो। आशय यह कि किसी को भी दुखी या असतुष्ट मत होने दो तथा उनके मकानो के बदले मे इतना कुछ दो कि वे परम प्रसन्नता पूर्वक अपने मकान, महल बनाने के लिये दे सकें।

बादशाह के हुक्म का यथाविधि पालन हुआ और लोगो ने मुहमाँगा धन, जमीन या अन्य मकान लेकर सहर्ष अपने मकान छोड दिये। किन्तु एक बुढिया अपनी झोपडी छोडने के लिये तैयार नही हुई।

जब बादशाह को इस बात का पता लगा तो वे स्वय उस वृद्धा के पास आए और बडी नम्रता तथा प्रेमपूर्वक बोले—"माँजी! महल बनाने मे तुम्हारी झोंपडी से बाधा पडती है अत तुम भी और लोगो के समान जितना भी चाहो धन ले लो या अन्य स्थान पर जमीन या मकान, जो भी इच्छा हो माँग लो। मैं तुम्हे तनिक भी अप्रसन्न नही करना चाहता, तुम्हारी प्रसन्नता से तुम्हारे पसद की वस्तु देकर ही यह झोपडी लेना चाहता हूँ।"

पर बुढिया बडे अजीब और कर्कश स्वभाव की थी। उसने बादशाह का लिहाज नही किया और मुहतोड उत्तर दे दिया—"मैं किसी भी कीमत पर अपनी झोपडी तुम्हारा राजमहल बनवाने के लिए नही दूँगी। यह मेरी जमीन है अत तुम्हे नही मिलेगी। तुम राजमहल बनवाओ, चाहे मत बनवाओ।"

बादशाह यह सुनकर बोले—"वृद्धा माँ! जैसी तुम्हारी इच्छा हो करो। तुम नही देना चाहती हो तो मैं जबर्दस्ती तुम्हारी झोपडी अपना महल बनवाने के लिये नही लूँगा।" यह कहकर वे चले गये और अपने कर्मचारियो से बोले—"बुढिया की झोपडी को यथास्थान खडी रहने दो, भले ही महल कुछ टेढा बने कोई बात नही।" यही हुआ भी। नौशेरवाँ का महल बुढिया की झोपडी के कारण उस स्थान पर टेढा ही बना।

बन्धुओ! अगर आज का युग होता तो कोई बादशाह, राजा या सरकार ही सही, किसी बुढिया की ऐसी गुस्ताखी बर्दाश्त करता? नही, कुछ मिनटो मे ही बूढी को झोपडी से निकाल कर बाहर कर दिया जाता। किन्तु नौशेरवाँ सच्चा मानव था, न्यायी था, नीतिवान था और सफल शासक था। अत उसने बुढिया को भी एक

इन्सान के नाते कष्ट नही दिया। अपना राजमहल भले ही टेढा-मेढा बनवा लिया। इस पर फारसी भाषा मे एक कवि कहता है—

> बरनामवर बजेरे जमीं दफ्न करदा अन्त,
> कदहस्तिये जमीं पर न शान मार।
> आखिर नाशाला कि सुपर जेरे दद खाक,
> खाकश चुनावो खुर्द करो॰खुश्नानावोखा ।।

वादशाह नौशेरवान कीर्तिवान, यशस्वी तथा नेकी के रास्ते पर चलने वाला था। पर मरने के बाद उसे भी जमीन मे गढना पडा, कोई नामो-निशान उसका वाकी नही रहा। इसी प्रकार वह बुढिया जिसने राजमहल के लिये जमीन नही दी और इतिहास मे अपना नाम काले अक्षरो मे लिखवाया, क्या वह इस ससार मे जिन्दा रह गई ? नही। उसे भी मरना पडा। यानी वादशाह और वह वृद्धा, दोनो ही जमीन मे दफन हुए। फिर जीवित कौन है ? जिसने अच्छा काम किया और लोग श्रद्धा या प्रशसापूर्वक जिसका नाम लेते हो।

वर्षों बीत गये किन्तु नौशेरवाँ वादशाह आज भी जीवित हैं, क्योकि लोग उसे सम्मानपूर्वक एक नीतिवान तथा न्यायी के रूप मे स्मरण करते हैं। वस्तुत उसी मनुष्य का जीवन सार्थक है जो अपने जीवन काल मे उत्तम कार्य करते हैं तथा उत्तम गुणो को अपनाकर अपना मानव-जन्म सार्थक कर लेते हैं।

बन्धुओ, हम सबने भी इस पृथ्वी पर जन्म लिया है, और जन्म लिया है तो एक दिन मरना भी अवश्य पडेगा। तो क्या हमे ऐसा कुछ नही करना चाहिए, जिससे हमे मरने के वाद भी लोग याद करें। प्रश्न होता है कि वे कार्य क्या हो सकते हैं जिनके करने से लोग मरने के वाद भी याद करते है ? उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि अगर व्यक्ति समाज के प्रत्येक सदस्य के प्रति समवेदना और सहानुभूति रखते हुए एक-दूसरे को सहयोग दे, प्रत्येक अभावग्रस्त व्यक्ति के अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न करे, पीडित व्यक्ति की सेवा करने मे कभी पीछे न रहे तथा सामाजिक कुरीतियो को, कुप्रथाओ को और साम्प्रदायिक विष को निर्मूल करने का प्रयत्न करे। ऐसा करने पर ही समाज मे सहृदयता का फैलाव होगा तथा धर्म टिक सकेगा।

ध्यान मे रखने की बात है कि व्यक्ति व्यवहार जगत मे इन सब कार्यो को करते हुए अपनी आत्मा के कल्याण को भी न भूले। समाज और देश का भला करने के साथ-साथ वह अपनी आत्मा के भले को भी न भूले। हमारी आत्मा भी तो अनन्त काल के कर्मों के चक्कर मे पडी हुई नाना योनियो मे भ्रमण कर रही है और असीम दुख का अनुभव करती रही है। अत इसे कर्म-मुक्त करना ही हमारा सर्वोपरि

कर्तव्य है। सक्षेप मे, आशय यही हे कि स्व और पर का कल्याण करना ही हमारा कर्तव्य और उद्देश्य है। जिसे करने पर हम इस लोक मे तो शाति प्राप्त कर ही सकते हैं, परलोक मे भी शाश्वत सुख की प्राप्ति कर सकते हैं। जिन महामानवो ने ऐसा किया है वे ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके हैं और ससार मे मरकर भी अमर हो गये हैं।

मराठी भाषा मे कहा गया है—

"असूनहि जिवत मेला कोण ? असे जो सदा निरुद्योगी।
उत्साह रहित ज्याचे मन, किंवा जो सदा असे रोगी॥"

कहते हैं कि जो व्यक्ति सदा निरुद्योगी बना रहता है तथा जिसका मन सदा उत्साहविहीन होता है वह जीवित रहता हुआ भी मृतक के समान है। ऐसा पुरुषार्थ-हीन व्यक्ति न तो स्वय ही अपनी सहायता कर सकता है और न कोई अन्य व्यक्ति ही उसे सहायता देकर ऊँचा उठा सकता है। पुरुषार्थहीनता का एक उदाहरण आपके समक्ष रखता हूँ।

पुरुषार्थहीन व्यक्ति

कहते हैं कि एक चोर ने एक बार नगर मे किसी के घर चोरी की। किन्तु दुर्भाग्य से लोगो ने उसे देख लिया और वे उसके पीछे दौड पडे।

लोगो को अपने पीछे भागते देखकर चोर घबरा गया और दौडते-दौडते ज्यो ही एक मन्दिर दिखाई दिया, उसमे घुस गया। मन्दिर एक देवी का था। चोर विह्वल होकर देवी के चरणो मे गिर पडा और उससे प्रार्थना करने लगा—"मैं अब तुम्हारी शरण मे हूँ मुझे बचाओ।"

देवी ने चोर को ऐसी स्थिति मे देखा तो बोली—"भाई घबरा मत ! मैं तुझे बचाने की कोशिश करूँगी पर तू इतना कर कि उठकर मन्दिर के किवाड अन्दर से बन्द कर ले।"

"देवी ! तुमने कहा सो ठीक है पर मेरे तो मानो घुटने ही टूट गये हैं। मैं कैसे उठकर किवाड बन्द करूँ ?"

देवी ने भक्त की यह बात सुनी तो बोली—"अच्छा तुझसे उठा नही जाता तो तू इतना करना कि लोग अगर मन्दिर के अन्दर आ जाएँ तो मेरे पीछे रहकर जोर से आवाज ही कर देना।"

चोर बोला—"मुझसे तो यह भी नही हो सकता देवी, भय के मारे गला जो बैठ गया है।"

देवी को चोर की बात सुनकर कुछ झुझलाहट हुई पर अपने आप पर जब्त करती हुई फिर बोली—

"निकम्मे व्यक्ति ! तुझसे तो कुछ भी नही होता पर खैर यही बैठे-बैठे वे लोग जो तेरे पीछे आ रहे हैं, उनके आने पर अपनी आँखें निकालकर ही उन्हे डराना। बाकी मैं सम्हाल लूंगी।"

पर चोर फिर घबराकर बोल पडा—"देवी माता ! मैं तो यह भी नही कर सकूंगा। मेरी आंखे तो पथरा ही गई हैं।"

अब देवी अपने क्रोध को नही रोक सकी और कह बैठी—"तू मेरे मन्दिर से निकल जा। तेरे जैसे पुरुषार्थहीन की मैं भी कोई सहायता नही करूंगी।"

वस्तुत जो व्यक्ति पुरुषार्थ मे रहित होता है, वह न तो स्वय ही अपना भला कर पाता है और न ही कोई दूसरा उसकी सहायता करता है। किसी ने सत्य ही कहा है—

"मन के लगडे को असख्य देवता मिलकर भी नही उठा सकते।"

किन्तु इसके विपरीत जो अपने मन को उत्साह, साहस और पुरुषार्थ से पूरित रखता है, वह अपने चरणो मे देवताओ को भी झुका लेता है। पुरुषार्थी व्यक्ति के लिए कोई भी कार्य कठिन नही है।

आचार्य चाणक्य का कथन है—

कोऽतिभारः समर्थाना, किं दूर व्यवसायिनाम्।
को विदेश सुविद्याना, कोऽप्रिय प्रियवादिनाम्॥

समर्थ एव पुरुषार्थी व्यक्तियो के लिये कुछ भी अति भार नही है, व्यापारियो के लिये कोई भी स्थान दूर नही है, विद्वानो के लिये विदेश मे कोई कठिनाई नही है और मधुर बोलने वालो के लिये कोई भी अप्रिय नही है।

तो मराठी कवि ने अपने पद्य मे यही बताया है कि वे व्यक्ति जीवित होते हुए भी मृतक के समान हैं जो पुरुपार्थ अथवा उद्यम नही करते, जिनका मन उत्साह मे रहित होता है और जो सदा रोगी रहते है।

ऐसे व्यक्ति जब अपना ही भला नही कर सकते हैं तो परिवार का, समाज का और देश का भला करने मे किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं। आज अधिकाश व्यक्ति यह कहते हैं—"महाराज ! समाज की व सघ की स्थिति देखकर बडा दुःख होता है पर क्या करें हमारी कुछ चलती नही।" अरे भाई ! चल क्यो नही सकती ? पर इसके लिए प्रयत्न तो करो, केवल विचार करने या 'माइक' के सामने खडे होकर भाषण देने से क्या हो सकता है ? आप अपने जैसे विचार रखने वाले व्यक्तियो

को साथ लेकर क्रियात्मक रूप से कुछ करो। तभी हो सकेगा। ऐसा होना चाहिए, कहने मात्र से कुछ नही होता। स्वय करने से होता है। हमारा चातुर्मास कराने के के लिए अगर आप दिल ही मे विचार करते रहते तो चातुर्मास कैसे होता ? इसके लिए आपने मिल-जुलकर दौड-भाग की तो चातुर्मास के लिए हमे यहाँ ले आए या नही ? वस ऐसा ही प्रयत्न प्रत्येक कार्य के लिए होना चाहिए। जो कार्य आप करना चाहते हैं, उसके लिये अन्य व्यक्तियो को सहयोगी वनाकर आपको जी-जान से जुट जाना चाहिए।

अन्य व्यक्तियो को सहयोगी वनाने का प्रयत्न करना ही सगठन है और सगठन होने पर हर कार्य सभव हो जाता है। 'अकेला चना भाड नही फोड सकता'— यह कहावत आप अनेक वार सुनते हैं। इसका भावार्थ यही है कि एक व्यक्ति महान् कार्य को नही कर सकता, किन्तु वहुत से व्यक्ति मिलकर उसे सहज ही सम्पन्न कर लेते हैं।

समाज-सगठन, समाज-सेवा एव धर्म-प्रचार मे जो व्यक्ति रुचि लेते हैं तथा आन्तरिक उत्साहपूर्वक इन कार्यों को करते हैं वे मरकर भी अमर हो जाते हैं। अहमदनगर मे श्री किशनदास जी मूथा और सतारा मे श्री वालमुकुन्द जी मूथा सच्चे श्रावक एव धर्मानुरागी व्यक्ति थे। इन्होने अपने जीवन मे वहुत समाज सेवा की तथा स्वय भी धर्माराधन किया। मैंने स्वय किशनदास जी से शास्त्रो का पठन किया था। उनके उपकार का मुझे सदा स्मरण रहता है। उपकार का वडा भारी महत्व है। कहा भी है—

सहयोगदानमुपकार, लौकिको लोकोत्तरश्च।

—जैन सिद्धान्तदीपिका

इस गाथा मे वताया गया है कि किसी व्यक्ति को सहयोग देने को उपकार कहते है। यह दो प्रकार का होता है। एक लौकिक एव दूसरा लोकोत्तर। किसी अभावग्रस्त व्यक्ति को अन्न, वस्त्र, धन एव इसी प्रकार की अन्य वस्तुओ से सहायता करना लौकिक उपकार कहलाता है तथा धर्मोपदेश देकर व्यक्ति की आत्मा को निर्मल वनाने का प्रयत्न करना तथा निर्वद्य दान आदि देना लोकोत्तर उपकार कहा जाता है।

तो मानव को जहाँ, जिस प्रकार की सहायता आवश्यक हो, वैसी ही प्रदान करते रहना चाहिए। कोई भी प्राणी किये हुए उपकार को कभी भूलता नही है तथा जीवन भर वडी श्रद्धा से स्मरण करता है।

उर्दू भाषा के शायर 'चकवस्त' ने तो यहाँ तक कहा है—

जिसने कुछ अहसाँ किया, एक वोझ हम पर रख दिया।
सिर से तिनका क्या उतारा, सर पे छप्पर रख दिया॥

शायर ने उपकार का कितना वडा महत्व वताया है ? कहा है—जिस व्यक्ति ने हम पर थोडा-सा भी एहसान किया है, मानो हमारे मस्तक पर वडा भारी वोझ रख दिया है। ऐसा लगता है कि सिर पर से हटाया तो उपकार के रूप मे एक तिनका है किन्तु उसके वदले एहसान का वडा भारी वजनी छप्पर लाद दिया है।

कहने का आशय यही है कि जो व्यक्ति अन्य व्यक्ति की सहायता करता है, समाज की सेवा करता है और धर्म का प्रचार करता है, वह इस लोक मे तो यश का भागी वनता ही है, परलोक मे जाकर भी अपने जीवन का लाभ उठा लेता है। इसलिये मानव को अपने जीवन का महत्व समझते हुए सदा अपनी आत्मा के कल्याण के लिए तथा औरो की आत्मा को भी सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

ऐसा करने पर ही मानव-जन्म सार्थक हो सकेगा तथा इसका पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकेगा। (कोई भी व्यक्ति चाहे वह श्रावक हो या साधु हो, उसे अपने जीवन के लक्ष्य को नही भूलना चाहिए। और वह लक्ष्य तभी प्राप्त हो सकता है जव कि आत्मा को आश्रव की ओर से हटाकर सवर मे लाया जाय।) सवर वह मार्ग है, जिस पर चलकर आत्मा कर्मों के नवीन वन्धन से वचती है तथा पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करती हुई उत्तरोत्तर सिद्धि की ओर वढती है। अतएव सवर के भेदो को भली प्रकार समझते हुए प्रत्येक मुमुक्षु को उसका आराधन करना चाहिए। तभी आत्म-कल्याण हो सकेगा।

❋

१७ | यह चाम चमार के काम को नाहिं

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो ।

कल मैंने आपको वताया था कि समाज भी हमारे शरीर के समान ही शरीर है । हमारे शरीर मे अनेक अग और उपाग हैं । तथा समाज-रूपी शरीर मे उसके सदस्य अग एव उपागो के स्थान पर हैं । आप जानते हैं कि हमारा शरीर तभी स्वस्थ रहता है जवकि उसके किसी भी अग मे पीडा न हो, कोई भी अग विकृत न हो तथा कोई असुन्दर भी न हो ।

इसी प्रकार समाज-रूपी शरीर का भी हाल है । यह तभी स्वस्थ रह सकता है जवकि इसके अग रूपी सभी सदस्य खुशहाल हो, किसी को भी कोई कष्ट, चिन्ता अथवा अशान्ति न हो तथा सभी मे सद्‌गुणो का सौन्दर्य हो । किन्तु यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? तभी जवकि सव इसके लिए सगठित होकर प्रयत्नशील वनें । पर ऐसा होता कहाँ है ? आज प्रत्येक व्यक्ति अपनी इस नश्वर देह को स्वस्थ रखने के लिए तो नाना प्रयत्न करता है । तनिक पेट मे दर्द हो जाय या शरीर गरम हो जाय तो तुरन्त डा० को बुलाकर दिखाता है और अनेक औषधियो का सेवन प्रारम्भ कर देता है । इसी प्रकार शरीर की सुन्दरता वनाए रखने के लिए भी विविध प्रकार के वस्त्राभूषण पहनता है तथा इत्र व सुगन्धित तेल लगाकर वालो की और चेहरे की शोभा वढाने का प्रयत्न करता है, किन्तु सव कुछ करने पर भी इसका अन्त कैसा होता है, और यह किसके काम आता है ? किसी के भी नही । गाय, भैंस और अन्य जानवरो का चमडा तो फिर भी अनेक कामो मे लिया जाता है पर मनुष्य की चमडी किसी के काम नही आती ।

सन्त तुलसीदास जी ने इसीलिये कहा है—

> तेल फुलेल अनेक लगावत,
>
> खींच के बन्द सवारत बाँहि ।
>
> भोगन भोग अनेक करे,
>
> तरुणी वर देख अति हरषाहि ॥

ले दर्पन मुख देखत है औ—
अति आनन्द से निरखत छाहि ।
तुलसीदास भजो हरि नामा,
यह चाम चमार के काम को नाहि ।।

सन्त ने इस शरीर का तिरस्कार करते हुए मनुष्य को चेतावनी दी है—"भोले प्राणियो ! अपने शरीर का सौन्दर्य निखारने के लिये तुम तेल-फुलेल अर्थात् सुगन्धित इत्र आदि लगाते हो तथा कीमती और सुन्दर वस्त्र पहनकर अपनी वाहो को गर्व से चढाते हो । हाथ मे दर्पण लेकर घण्टो बडे हर्ष से अपने सुन्दर चेहरे की छवि निरखते हो तथा अपने चारो ओर बिखरी हुई भोग-सामग्री तथा सुन्दर पत्नी को देखकर फूले नही समाते हो । किन्तु यही शरीर प्राणो के निकल जाने के पश्चात् चमार के उपयोग मे भी नही आता यानी मनुष्य के शरीर की चमडी से तो वह भी कोई वस्तु नहीं बनाता । इसलिए इस निरर्थक देह की ममता छोडकर इसके द्वारा भगवान का भजन क्यो नही करते हो ? ईश—नाम लेने पर कम से कम आत्मा का तो आगे चलकर कुछ भला हो सकेगा । नही तो कितना भी इस देह को बना-सवारकर रखो, अन्त मे यह आग मे ही फूंकने के काम आयेगा और कोई भी लाभ इससे नही है ।"

बन्धुओ ! कहने का आशय यही है कि अपने शरीर को स्वस्थ रखने के लिये मनुष्य सदा प्रयत्न करता है, जो कि नश्वर है और एक दिन मिट्टी मे मिलने वाला है । किन्तु इसके द्वारा सेवा, साधना या धर्माराधना करके अपनी आत्मा को कर्मो के कर्ज से मुक्त करना नही चाहता । वह भूल जाता है कि यह शरीर अनेक पुण्य कर्मों के योग से मिला है और अब इसके द्वारा चाहे तो वह ससार-परिभ्रमण बढा सकता है और चाहे तो ससार को समाप्त भी कर सकता है । अर्थात् ससार-मुक्त हो सकता है ।

कर्मों का कर्ज

आप जानते है कि कोई व्यक्ति अगर धन-पैसे के रूप मे किसी से कर्ज लेता है तो अपने को दिवालिया साबित करके या दीनता का प्रदर्शन करके इसी जन्म मे उस कर्ज से मुक्त भी हो सकता है । किन्तु कर्मो का ऋण ऐसा जबर्दस्त होता है कि वह न दिवालिया होकर चुकाया जा सकता है और न ही उसके लिए किसी प्रकार की दीनता, हीनता या प्रार्थना ही काम आती है । कर्म रूपी कर्ज से तो व्यक्ति जन्म-जन्मान्तर तक भोगने पर ही छुटकारा पा सकता है । इस सम्बन्ध मे एक रूपक है—

एक व्यापारी को व्यापार मे बडा जबर्दस्त घाटा लगा । घाटा लगने पर वह देश के राजा के पास गया और उससे ऋण के रूप मे धन मांगा ।

व्यापारी प्रतिष्ठित था अत राजा ने उसे ऋण के तौर पर बहुत-सा धन दे दिया । व्यापारी के मन मे खोट थी अत वह धन लेकर हर्षित होता हुआ वहाँ से

चला और सोचने लगा—"इतना धन मेरे पास जीवन भर खाने के लिए बहुत है। राजा को तो मैं पुन लौटाऊँगा नही, और मर जाऊँगा तो मेरे कौन से लडके वाले हैं जिनसे वह वसूल करेगा। यानी इतना धन तो मैं जीवन भर मे भी कमा नही सकता था, जितना राजा ने दे दिया है। अब न तो मुझे कमाने की झझट करनी पडेगी और न लौटाने की ही फिक्र रहेगी।" यह विचार करता हुआ व्यापारी अपने गाँव को लौटा। किन्तु बहुत धन पास मे होने के कारण चोर-डाकुओ के भय से वह मार्ग में रहने वाले एक तेली के यहाँ रात्रि-विश्राम के लिए ठहर गया।

तेली के यहाँ दो बैल थे जिन्हे वह बारी-बारी से घानी चलाने के लिए जोता करता था। व्यापारी तेली के यहाँ उसी स्थान पर सोया था जहाँ दोनो बैल बँधे हुए थे। बैल आपस मे बाते कर रहे थे, और व्यापारी पशुओ की भाषा समझता था अत कान देकर सुनने लगा।

दोनो बैलो मे से पहला बैल कह रहा था—

"भाई ! मुझ पर अपने मालिक इस तेली का पिछले जन्म का बडा कर्ज था किन्तु वर्षों इसकी सेवा करने पर अब वह कर्ज चुक गया है और प्रात काल होते-होते मैं उस कर्ज से मुक्त होकर इस योनि से छूट जाऊँगा।"

पहले बैल की बात सुनकर दूसरा बोला—

"मेरा भी यही हाल है। मैं भी मालिक का कर्जा चुका रहा हूँ किन्तु अभी एक हजार का मुझ पर कर्ज बाकी है। पर अगर अपना मालिक कल राजा के बैल के साथ एक हजार रुपये की शर्त पर मेरी दौड रख दे तो मैं जीत जाऊँगा और मालिक को एक हजार रुपया मिल जाने पर मैं भी कर्ज से मुक्त होकर यह पशुयोनि त्याग दूँगा।"

व्यापारी बैलो की यह बात सुनकर दग रह गया पर उसने प्रात काल बैलो के कथन की सत्यता जानने का निश्चय किया। रात्रि को मन की हलचल के कारण उसे ठीक तरह से निद्रा भी नही आई। किन्तु पौ फटते-फटते उसने आँख खोलकर बैलो की ओर देखा तो उसकी आँखें फटी की फटी रह गई। वास्तव मे ही एक बैल मरा पडा था।

यह देखकर उसने तेली को दोनो बैलो मे रात्रि को होने वाली बातचीत सुना दी और कहा—"विश्वास न हो तो आज इस दूसरे बैल की राजा के बैल के साथ दौड करवा दो।" तेली व्यापारी की बात सुनकर चकित तो था ही। अत यथार्थता जानने के लिए नगर की ओर चल पडा। व्यापारी भी साथ ही गया क्योकि उसे भी सत्य को जानना था।

जब दोनो पुन नगर मे पहुँचे तो देखा कि बाहर मैदान मे बैलो की दौड का

इन्तजाम हो रहा है। तेली ने भी अपने बैल को दौड के लिए नियुक्त कर दिया तथा जीतने पर एक हजार रुपया लेने की शर्त राजा से कर ली।

बैलो की दौड हुई और सचमुच ही तेली का बैल जीत गया। शर्त के अनुसार राजा ने तेली को एक हजार रुपये दे दिए। पर इधर तेली का रुपए हाथ मे लेना था कि उधर उसका बैल जमीन पर गिर पडा और प्राणहीन हो गया।

यह देखकर राजा से ऋण में धन लेने वाले व्यापारी की आँखें खुल गईं। वह उसी क्षण भागा हुआ राजा के समक्ष पहुँचा और उसका सम्पूर्ण धन वापिस करते हुए तेली के बैलो की कथा कहते हुए बोला—

"हुजूर! मैंने देखा है कि बैल पशु हैं पर उन्हे भी पिछले जन्मो का ऋण तेली को चुकाना पडा। मैं आपसे धन ले गया था और कसूर माफ करें तो कहता हूँ कि मेरे हृदय मे बेईमानी आ गई थी। मैं सोचता था कि इस धन से आनन्दपूर्वक जीवन बिताऊँगा और मैं तो ऋण आपको चुकाऊँगा नही तथा मेरे मरने पर भी फिर आप यह कर्ज वसूल नही कर सकते थे, क्योकि मेरे औलाद नही है। किन्तु आज इन बैलो ने मेरी आँखें खोल दी हैं। अत आप अपना धन कृपया पुन स्वीकार कीजिए क्योकि इस जन्म मे तो मैं यह कर्ज उतार नही सकता और अगले जन्मो तक कर्जे के बोझ को ढोना मुझे उचित नही लगता। बेईमानी के द्वारा आपका इतना धन हडपने पर मेरे न जाने कितने कर्म बधेंगे और न जाने कितनी और किन-किन योनियो मे जाकर मुझे आपका कर्जा चुकाना पडेगा।"

तो बधुओ, प्रसगवश मैंने आपको कर्मों के विषय मे बताया है कि उन्हे भोगे बिना कभी उनसे छुटकारा नही मिलता चाहे उस बीच मे कितने भी जन्म क्यो न लेने पडे। वैसे हमारा मूल विषय समाज-रूपी शरीर को लेकर चल रहा था और मैं आपको यह कहने जा रहा था कि मनुष्य को अपने इस शरीर के समान ही समाज-रूपी शरीर का भी ध्यान रखना चाहिए।

अपने शरीर के किसी अश मे अगर पीडा होती है तो हम अविलम्ब औषधि लेते हैं, इसी प्रकार समाज-रूपी शरीर मे अर्थात् समाज के किसी भी सदस्य के दुखी होने पर हमे पीडा होनी चाहिए और उसके निवारणार्थ प्रयत्न करना चाहिए। अपने शरीर का सौन्दर्य निखारने के लिए जिस प्रकार हम सावधान रहते हैं, उसी प्रकार समाज के सभी सदस्यो का मन निर्मल और निर्दोष बने तथा उसे सच्चे सौन्दर्य का रूप दिया जा सके। इसके बारे मे सतत जागरूक रहना चाहिये। स्पष्ट है कि जिस प्रकार शरीर के सभी अग रोग एव पीडा रहित होने हैं तो शरीर नीरोग कहा जा सकता है, इसी प्रकार समाज के प्रत्येक सदस्य के खुशहाल एव निश्चित रहने पर ही समाज-रूपी शरीर स्वस्थ कहा जा सकता है।

समाज-रूपी शरीर के रोग

हमारे समाज-शरीर मे सबसे बडे रोग कुप्रथाओ के रूप मे हैं। जिनके कारण इसके अधिकाश सदस्य चिन्तित और पीडित रहते हैं। इन कुप्रथाओ मे भी सबसे बुरी प्रथा दहेज लेने की है। पहले समाज मे लोग लडकी का पैसा लेते थे किन्तु इसे अत्यन्त निकृष्ट बताकर सन्तो ने अपने उपदेशो द्वारा इसे मिटाने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध मे सफलता भी मिली और नब्बे फीसदी लोगो ने लडकी का पैसा लेना बन्द कर दिया। पर उसके बदले लोगो ने लडको के लिए दहेज के रूप मे धन लेना प्रारम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ है कि जिसके कई लडकियाँ होती है, वे बेचारे जीवन भर जी-तोड परिश्रम करते है और पैसे पैदा करने का प्रयत्न करते है, किन्तु इतने पर भी वे लडकियो के लिए दहेज नही जुटा पाते और उनके ससुराल वालो के ताने तथा व्यग-वचन सुनने के लिए बाध्य हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे आप ही बताइये कि उन लडकी वालो के मन की कैसी दशा रहती होगी? क्या वे अपने जीवन मे कभी सुख एव चैन का अनुभव कर सकते होगे? नहीं। इसलिए आपको सर्वप्रथम तो समाज के इस भयकर रोग को मिटाना चाहिए।

इस बात को लेकर अनेक श्रीमत व्यक्ति कहते हैं—"अगर हम ब्याह-शादी मे पैसा खर्च नही करेंगे तो बदनामी होगी और हमारा नाम कैसे होगा? अरे भाई! क्या लाखो रुपया बर्बाद करने से ही व्यक्ति का नाम होता है? हमारे अमोलक ऋषि जी म के एक परमभक्त हैदराबाद के परमसहाय नामक व्यक्ति के ब्याह मे एक लाख और उनके पुत्र के विवाह मे ढाई लाख रुपया खर्च हुआ था। पर यह कभी आपने सुना क्या? नही सुना होगा। किन्तु उन्होने ही बयालीस हजार रुपया खर्च करके धार्मिक पुस्तकें छपवाईं और हर एक गाँव मे पेटी भिजवाई। इसलिए उनका नाम हमेशा के लिए रह गया।

तो बन्धुओ, दहेज प्रथा रूपी यह सबसे बडा रोग समाज के अनेक सदस्यो को पीडित करता रहता है। अत इसे मिटाने का आप सभी को मिलकर प्रयत्न करना चाहिए। अगर यह भयानक रोग समाज से निकल जाता है तो अनेको व्यक्ति निश्चिन्तता की सास ले सकते है तथा शातिपूर्वक अपनी जिन्दगी बसर कर सकते है।

समाज मे मौसर की प्रथा भी बडी घातक थी। कुछ समय पहले तक लोग एक-एक मौसर मे हजारो, लाखो रुपए खर्च करके जीवन भर के लिए कर्ज से दब जाया करते थे। आजकल तो फिर भी यह कुरूढि काफी कम हो गई है। क्योकि महगाई अत्यधिक बढ जाने से खाना खिलाना कठिन हो गया है।

इस युग मे तो अब जिस रोग ने समाज मे घर किया है, वह है आपसी फूट। इस फूट ने अनेक रूप धारण करके समाज को रोगी बना रखा है। मनुष्य

आज धर्म को लेकर आपस मे झगड रहा है, सम्प्रदाय को लेकर एक-दूसरे की धज्जियां उडाने के प्रयत्न मे लगा हुआ है। पद-लोलुपता के कारण रिश्वत देकर अनेको व्यक्तियो को खरीद लेता है, वह पैसे के बल पर नाना अनैतिक कार्यों को करता चला जाता है। इन सवका परिणाम भयकर फूट या कलह के रूप मे जनता के सामने आता है। इसलिए आपको चाहिए कि आप लोग सगठित होकर इन समाज-विरोधी कार्यों के विरुद्ध आवाज उठाएँ, गलत मार्ग पर चलने वाले लोगो को समझाएँ तथा सगठित होकर उस प्रत्येक कार्य को करने का बीडा उठाये जो सामाजिक वैमनस्य को मिटाता है।

जब तक यह आपसी वैमनस्य नही मिट जाता है तब तक आप लोग समाजोपयोगी कार्यों को करने मे सक्षम नही बन सकते। क्योकि जब तक आपसी कलह मे आपका समय और पैसा वर्बाद होता रहेगा तब तक समाजोपयोगी कार्यों के लिए आप समय कैसे निकालेंगे ?

आज समाज के रोगो को मिटाने के लिए तथा इसमे शाति की स्थापना करते हुए इसे उन्नत बनाने मे कितनी शक्ति की आवश्यकता है ? हमारी नई पीढी के बालको को जो कि समाज के भावी कर्णधार हैं, कितने सुसस्कृत और सभ्य बनाना है ? महावीर के सिद्धातो का प्रचार करके सच्चा धर्म क्या है, इसको जनमानस मे स्थापित करना कितना आवश्यक है ? पर यह सब हो कैसे ? तभी तो हो सकता है जबकि आप लोग धर्म, सम्प्रदाय एव अपनी श्रीमताई का झूठा अभिमान त्यागकर एक हो जाएँ और अपना समय एव शक्ति इस ओर लगायें।

हो सकता है, आप यह विचार करे कि यही सब करने से क्या हमारी आत्मा का कल्याण हो जाएगा ? बधुओ ! आत्म-कल्याण के लिए तो स्वय साधना करनी पडेगी किन्तु क्या हमारा यह कर्तव्य नही है कि हम अन्य पथभ्रष्ट प्राणियो को भी मार्गदर्शन करें। समाज के एव देश के दीन-दरिद्र अथवा दुखी व्यक्तियो की सेवा एव सहायता करने से भी तो असख्य कर्मों की निर्जरा होती है। अन्यथा भगवान महावीर कैसे फरमाते—

मित्ति मे सव्व भूएसु, वैर मज्झ न केणई।

यानि—पृथ्वी के समस्त प्राणियो के साथ मेरी मित्रता है, किसी के साथ भी वैर-विरोध नही है।

कितनी सुन्दर एव आत्मोत्थान करने वाली भावना है ? अगर यही भावना समाज के प्रत्येक सदस्य के मानस मे स्थान करले तो क्या एक भी प्राणी दुखी रह सकता है ? नही, ऐसा करने पर ही भगवान के सिद्धातो का सच्चे अर्थो मे प्रचार हो सकता है तथा प्रत्येक प्राणी के हृदय मे धर्म अपने शुद्ध रूप मे स्थापित हो सकता है।

पर ऐसा होता कहाँ है ? आपको प्रथम तो धन इकट्ठा करने की चिन्ता से ही मुक्ति नही मिलती और अगर कुछ समय मिलता है तो उसे आप आपसी वैमनस्य को बढाने मे निरर्थक कर देते हैं। इसके अलावा भाग-दौड करके अधिक श्रम करना आप अपनी श्रीमताई के खिलाफ समझते हैं यानि अपनी पोजीशन के लिये हेय मानते हैं। किन्तु यह उचित नही है। आपके समक्ष एक दोहा रख रहा हूँ, जिसमे कहा गया है—

सज्जन सम्पत पायके, और न रखिये चित्त।
ये तीनो न विसारिये, हरि, अरि अपनो मित्त ॥

दोहे मे जीवन को सुन्दर बनाने के लिए बडी उत्तम सीख दी गई है तथा कहा है—"भाई ! तुम सम्पत्ति प्राप्त करने पर और सब बातें भले ही भूल जाओ किन्तु हरि, अरि और मित्र इन तीनो को कभी मत भूलना।"

न भूलने वाली बातो मे सर्वप्रथम हरि का उल्लेख किया गया है। हरि अर्थात् भगवान। चाहे हम उन्हे महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण अथवा किसी भी नाम से पुकारे किन्तु सुख या दु ख मे कभी भी उन्हे विस्मरण न करें। आप कहेगे भगवान तो निरजन और निर्विकार हैं, वे हमे किस प्रकार सहायता दे सकते हैं ? पर आप जानते हैं कि लकडी निर्जीव होने पर भी लाखो व्यक्तियो के चलने मे सहायक बनती है, इसी प्रकार भगवान का स्मरण हमारे मानस को शात, निष्कपट और स्थिर बनाता हुआ शुद्धि की ओर बढाता है। भगवान का स्मरण करने पर ही मन मे जिज्ञासा होती है कि उन्होंने किन गुणो को अपनाकर तथा किस प्रकार त्याग एव तप का मार्ग ग्रहण करके स्वय को ससार-मुक्त बनाया था ? महापुरुषो की जयन्तियो को मनाने का उद्देश्य भी तो यही होता है कि उस दिन हम उन्हे स्मरण करें तथा उनके गुणो को अपने जीवन मे भी उतारने का सकल्प करें।

जो मुमुक्षु होते हैं वे ईश-चिन्तन मे ही अपना अधिक से अधिक समय व्यतीत करते हैं और वास्तव मे ही भगवान के नाम मे इतनी शक्ति होती है कि पापी से पापी व्यक्ति भी अगर सच्चे हृदय मे प्रार्थना और भक्ति मे लीन हो जाता है तो अपने कर्मों को नष्ट कर सकता है।

पूज्य श्री अमीऋषिजी म० ने अपने एक पद्य मे भगवान का नाम लेने मे कितना लाभ होता है, यह बताया है। पद्य इस प्रकार है—

प्रभु नाम लिए सब विघन विलाय जाय,
गरुड शब्द सुन त्रास होय व्याल को।
महामोह तिमिर पुलाय ज्यो दिनेश उदे,
मेघ बरसत दूर करत दुकाल को ॥

यह सुनकर हिरणी बेचारी आँखो मे आँसू भरकर बोली—"ठीक है, पर तुम इतना करो कि एक बार मुझे अपने बच्चो के पास जाने दो। मैं उनसे कहकर आती हूँ कि अब वे कभी मेरा इन्तजार न करें।"

भील बडा सरल और निष्कपट व्यक्ति था। उसने हिरणी को जाने की अनुमति दे दी, पर कह दिया—

"शीघ्र लौटकर आना, मुझे घर पहुँचने मे देर हो रही है।" हिरणी यह सुनकर चौकडियाँ भरती हुई एक ओर को चल दी।

पर कुछ ही काल बीता था कि उसी तालाब पर एक हिरण पानी पीने आ गया। उसे देखकर भी भील ने पुन धनुष-बाण चढाया पर सयोग कि फिर एक बेल-पत्र पेड से टूटा और उसके धनुष से टकराकर शिवलिंग पर गिर गया।

बेचारा भील सोचने लगा—"आज क्या बात है कि मेरे द्वारा भगवान शिव की पूजा बेलपत्र से फिर इस दूसरे प्रहर मे हो गई है?" पर उसी समय हिरण डरता हुआ उससे बोल उठा—"भाई! मुझे थोडी सी देर के लिए अपनी पत्नी और बच्चो से मिल आने दो, मैं वापिस आऊँगा तब खुशी से मुझे मार डालना।" भील ने हिरण की बात भी मान ली और उसे भी जाने दिया।

अब दिन का तीसरा प्रहर होने आया और भील ने फिर कुछ हिरण और हिरणियो को तालाब की ओर आते देखा। उसने सोचा—"इस बार तो एक-दो को मार ही लूँगा और यह सोचते-सोचते उसने धनुष पर बाण चढाया।

पर महान आश्चर्य की बात हुई कि उसके धनुष सीधा करते ही तीसरी बार बेलपत्र गिरा और उसके धनुप से टकराकर शिवलिंग पर गिर गया।

इधर हिरण और हिरणियो ने जब भील को धनुष पर बाण चढाए देखा तो हिरण बोले—"भीलराज! तुम हमे मार डालो पर इन हिरणियो को जाने दो।"

भील चकित होकर पूछ बैठा—"ऐसा क्यो? तुम क्यो मरना चाहते हो?"

उत्तर मे एक हिरण बोला—"प्रथम तो हम हिरणियो की जान बचाएँगे, यह बडा पुण्य कार्य होगा, दूसरे इनके बच्चे अपनी माताओ के बिना जीवित नहीं रह सकेंगे, वे भी मर जाएँगे तो उनकी जानें भी हमारे मरने से बच जाएँगी।"

हिरणो की बात सुनकर भील ने अपने धनुप को हिरणो की दिशा मे घुमाया किन्तु उसी समय हिरणियाँ व्याकुल होकर बोल पडीं—"अरे! अरे!! यह क्या कर रहे हो? हमारे रहते इन लोगो को मत मारो। ये हमारे पति हैं। पति के बिना स्त्री का जीवन व्यर्थ है। दूसरे अपनी जान देकर जो स्त्री अपने पति की प्राणरक्षा

करती है वह स्वर्ग मे जाती है तथा अपने पति को वहाँ फिर से पा लेती है। इसलिए इन सबको छोड दो और भले ही हम सबको मार डालो।

भील विचारा किंकर्तव्यविमूढ-सा हो गया। वह सोच ही नहीं सका कि हिरणो को मारे या हिरणियो को। ऐसी स्थिति मे उसे शिवजी की याद आई और वह मन ही मन प्रार्थना करने लगा—"प्रभो! अब आप ही मुझे मार्ग सुझाओ। मेरे अनजाने ही आज तीनो प्रहर की पूजा मेरे द्वारा आपकी हुई है, अत आप कृपा करके बताओ कि मैं क्या करूँ?"

भील बड़े सच्चे और सरल हृदय से शिवजी का आह्वान कर रहा था। दूसरे महापुरुषो का कथन भी है कि भगवान का निवास शुद्ध एव सरल हृदय मे होता है। इसी सचाई के प्रमाण स्वरूप जबकि भील शिव से प्रार्थना कर रहा था, उसके ज्ञान-चक्षु खुल गये और उसे विचार आया—"मैं क्या करने जा रहा हूँ? मेरे जीवन को धिक्कार है। बेचारे ये प्राणी पशु होकर भी अपने-अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं, किन्तु मैं मनुष्य होकर भी धर्म से विमुख होता हुआ इनकी हत्या का प्रयास कर रहा हूँ।'

उसने आँखे खोली और हिरण तथा हिरणियो ने कहा—"तुम सब अपने-अपने घर जाओ। मैं आज से किसी भी प्राणी की कभी हत्या नही करूँगा।' यह सुनते ही सब प्राणी हर्ष से भरकर अपने-अपने स्थान की ओर भाग गये।

तत्पश्चात् भील शिवजी के मन्दिर मे गया। उनके समक्ष अपना मस्तक झुकाया और घर की ओर चल पडा। रास्ते मे उसने कुछ कन्दमूल एकत्रित किये और माता-पिता का तथा अपना पेट भरा। उस दिन के पश्चात् भील ने कभी किसी प्राणी की हत्या नही की तथा मेहनत-मजदूरी करके अपने परिवार का पेट भरने लगा।

इसे कहा जाता है भगवान के नाम का प्रभाव, जिस भील ने जीवन मे कभी भगवान के मन्दिर की ओर मुँह नही किया था तथा सदा निर्दोष प्राणियो की हत्या करता हुआ जीवनयापन करता था। वही व्यक्ति एक बार भगवान शिव का स्मरण करके ही सदा के लिए अहिंसक बन गया तथा निविड़ कर्मबन्धनो से बच गया।

अब दोहे मे बताई हुई दूसरी बात यह आती है कि अटूट सम्पत्ति प्राप्त कर लेने पर भी व्यक्ति कभी अपने शत्रु की ओर से निश्चिन्त न हो अर्थात् उसे कभी भी न भूले। जिस प्रकार काल रूपी दुश्मन न जाने किस वक्त चुपचाप आकर व्यक्ति को दबोच लेता है, उसी प्रकार शत्रु भी कब दाव पाते ही आक्रमण कर बैठता है, यह कहा नहीं जा सकता। बडे-बडे साम्राज्य भी किसी घर-भेदिये के द्वारा जो कि राज्य का शत्रु बन जाता है, तनिक सी असावधानी के कारण नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार

अखड घडे पर अचानक एक ठीकरी गिरकर उसे खड-खड कर देती है, इसी प्रकार शत्रु भी अचानक आक्रमण करके राज को विध्वस कर देता है। जब हम इतिहास उठाकर देखते है तो ऐसे अनेक उदाहरण हमे पढने को मिलते हैं कि सुख-समृद्धि एव अमन-चैन से परिपूर्ण राज्य भी गद्दारो के देशद्रोह से नष्ट कर दिये गये हैं। किसी राज्यद्रोही ने गद्दारी करके चुपचाप किले का दरवाजा खोल दिया था या किसी ने शत्रु से मिलकर सारा गुप्त भेद उसे बताया था। वे शत्रु ही कहलाते थे। इसके अलावा अगर राज्य मे कोई गद्दार नही होता था तो दुश्मन भी अधेरी रातो " अथवा वर्षाकाल का लाभ उठाकर अचानक आक्रमण कर देता था और उससे लोह लेना कठिन हो जाता था। महाराज शिवाजी मरहठो को साथ लेकर इसी प्रका मुसलमान बादशाह औरगजेब को परेशान किया करते थे।

कहने का अभिप्राय यही है कि शत्रु की ओर से व्यक्ति को कभी असावधा नही रहना चाहिए। शत्रु शरीर के भी होते हैं और आत्मा के भी। आत्मा के श क्रोध, मान, माया, लोभ एव राग-द्वेषादि हैं। ये भी कब और किस प्रकार मन प्रवेश करके आत्म-गुणो पर आक्रमण करते हैं, यह व्यक्ति नही जान पाता अत इन सावधानी रखने की भी बडी आवश्यकता है। यह इसलिए कि बाह्य शत्रु तो ध को, जन को या शरीर को क्षति पहुँचाते हैं जो कि एक दिन स्वयं ही छूटने वाले हैं। किन्तु आत्मा के शत्रु जोकि कषायादि हैं वे तो अनेक जन्मो तक भी आत्मा को कष्ट पहुँचाते रहते हैं, इसलिए इनसे सतर्क रहने की साधक को अनिवार्य आवश्यकता है।

कषायो की शत्रुता आत्मा को कितना पीडित करती है। यह इस प्रकार बताया गया है—

अहे वयइ कोहेण, माणेण अहमा गइ।
माया,गइपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भय॥

—उत्तराध्ययन सूत्र ९-५४

अर्थात् क्रोधी आत्मा नीचे गिरती है, मान से अधम गति को प्राप्त होती है। माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तथा लोभ से इस लोक और परलोक दोनो मे ही भय एव कष्ट बना रहता है।

इस प्रकार शत्रु चाहे बाह्य हो चाहे आन्तरिक, दोनो ही कष्ट पहुँचाते हैं, अतः इनसे हमेशा सावधान और सतर्क रहना चाहिये।

दोहे मे तीसरी बात कही गई है मित्र को न भूलने की। यह बात भी यथार्थ है। व्यक्ति को दौलत के गर्व मे आकर अपने मित्र को कभी नही भूलना चाहिये और न ही उसकी उपेक्षा करनी चाहिये। श्रीकृष्ण और सुदामा दोनो बाल्यकाल मे

घनिष्ठ मित्र थे। पर सुदामा जीवन मे अत्यन्त दरिद्र बने रहे और कृष्ण राजकुमार थे अत द्वारिका के राजा बने।

किन्तु क्या वे अपने गरीब मित्र को भूले ? नही, जब सुदामा पत्नी के अत्यधिक आग्रह के कारण कृष्ण के यहाँ गये तो उन्होने किस प्रकार विह्वल और दुखी होकर सुदामा से कहा—

ऐसे बेहाल बिबाहन सो पगकटक जाल लगे पुनि जोए।
हाय महादुख पायो सखा तुम आए इतै न कितै दिन खोए।।
देखि सुदामा की दीन दशा करुणा करिके करुणानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोए।।

कैसी आदर्श मित्रता थी कृष्ण की ? वे अपने दरिद्र मित्र के पैरो मे फटी हुई बिवाइयो को तथा जगह-जगह लगे हुए कांटो के द्वारा क्षत-विक्षत हुए पांवो को देखकर रो पडे और बोले—"मित्र ! तुमने कितना दु ख उठाया है ? पर ऐसा ही था तो तुम अब से पहले ही यहाँ क्यो नही आ गये ? क्यो ऐसी दरिद्रता मे महान् कष्ट पूर्वक दिन बिताते रहे ?"

बन्धुओ, इतिहास कहता है कि अपने परमप्रिय मित्र की हालत देखकर तीन खड के स्वामी कृष्ण की आँखो से अश्रु-धारा बह चली और उनके द्वारा सुदामा के चरण धुल गये। समीप रखी हुई परात से पानी लेने की भी आवश्यकता उन्हे नही पडी। आशय यही है कि मित्र की हालत देखकर कृष्ण का हृदय अत्यन्त व्यथित और दुखी हो गया।

अपने मित्र को कृष्ण भूले नही और उनके आने पर यह भी विचार नही किया कि मैं राजा हूँ और मेरे इस दरिद्र मित्र को देखकर लोग क्या सोचेंगे ? आज तो थोडी-सी सम्पत्ति बढते ही अपने निर्धन मित्रो को तो क्या, परिजनो और रिश्तेदारो को देखकर भी लोग मुंह फेर लेते हैं। उनसे बात करने मे या उनको अपने घर बुलाने मे शर्मिन्दगी महसूस करते है।

पर ऐसा होना नही चाहिये। जिस मनुष्य मे मनुष्यता होती है वह अपने मित्र से जीवन पर्यन्त मित्रता रखता है, और फिर इस समार मे तो न जाने कैसे-कैसे लोग मिलते हैं कि कभी-कभी जिसे हम उपेक्षा की दृष्टि से देखते है या अधिक सम्बन्ध उससे नही रखते वह भी हमारे किसी भारी सकट मे सहायक बन जाता है। मित्र सद्बुद्धि देता है तथा सन्मार्ग पर भी ले आता है अगर किसी समय हम भटक जाएँ अथवा हमारी बुद्धि काम न करे तो। एक उदाहरण है जिसे सम्भव है आपने कभी सुना होगा।

मित्र की कृपा

मगध के सम्राट राजा श्रेणिक जिस समय अपने राज्य-काल मे थे, उनके

पुत्र अभयकुमार मन्त्रिपद पर आसीन थे। अभय कुमार जी बडी विचक्षण बुद्धि के धनी थे इसीलिये उन्हे राज्य का मन्त्रित्व दिया गया था।

श्रेणिक महाराज का ऐशोआराम मे समय व्यतीत हो रहा था। एक दिन उनके विश्वासपात्र कर्मचारी ने उनके सन्मुख पान का बीडा उपस्थित किया। महाराज ने पान लिया और मुँह मे रखा किन्तु उसे चबाते ही उनकी जबान मे जलन हो गई। पान के द्वारा जीभ मे जलन महसूस होते ही उन्हे लगा कि पान लगाने वाले कर्मचारी ने शायद मुझे इसमे कोई घातक वस्तु दी है और इस प्रकार यह मुझे मारना चाहता है।

उन्होने पान अविलम्ब थूक दिया, बार-बार कुल्ला किया और उसी कर्मचारी को आज्ञा दी कि 'पाव भर चूना लेकर आओ।'

पान लगाने वाला भृत्य घबराकर वहाँ से चला पर सयोगवश राजमहल से बाहर निकलते ही उसकी मुलाकत मन्त्री अभयकुमार से हो गई। भृत्य ने उन्हे नमस्कार किया जैसा कि सदा ही करता था। किन्तु मैंने आपको बताया है न कि अभयकुमार जी बडे विचक्षण थे अत उसके चेहरे को देखकर ही भाप गये कि कुछ विशेष बात है। उन्होने पूछ ही लिया—

"क्या बात है भाई! इस प्रकार घबराए हुए कैसे हो और इतनी शीघ्रता से कहाँ जा रहे हो?"

"मन्त्रिवर! महाराज ने कलीदार चूना मँगाया है, वही लेने जा रहा हूँ।"

"क्या इससे पहले भी कभी महाराज ने तुमसे चूना मँगाया था?"

"नही, पहले तो कभी नही मँगाया, आज ही आज्ञा दी है।"

मन्त्री अभयकुमार ने कुछ क्षण सोचा और बोले—"क्या आज पान लगाते समय तुम्हारा मन स्थिर नही था?"

कर्मचारी इस प्रश्न पर चकराया किन्तु उत्तर मे बोला—"आप की कल्पना सत्य है मन्त्री जी! मेरी घरेलू परिस्थिति इस समय इतनी खराब हो गई है कि सत्य ही मेरा मन पान लगाते समय स्थिर नही था, अशात था।"

अब मन्त्री बोले—"देखो! मन की अशाति के कारण तुमने पान मे चूना कुछ अधिक लगा दिया होगा, अत जो चूना तुम लाने जा रहे हो, वह तुम्हे ही खाना पडेगा। इसलिये ऐसा करो कि पहले तुम मक्खन ले लेना और फिर उसके ऊपर थोडा सा चूना डालकर पाव सेर के वजन का ले आना।"

कर्मचारी ने वैसा ही किया। यानी मक्खन के ऊपर कुछ चूना डालकर राजा के सम्मुख उपस्थित हो गया। राजा ने एक शस्त्रधारी सैनिक को बुलाया और

कहा—"यह चूना इसी व्यक्ति को खिला दो और न खाये तो तुरन्त गर्दन उडा दो।"

कर्मचारी ने चूना खा लिया। वह केवल चूना तो था ही नही, मक्खन था। चूना तो बहुत कम अश मे उसमे मिला था। चूना खिलाकर उसे महल से बाहर निकाल दिया गया कि महल ही मे वह मर न जाए। बेचारा कर्मचारी "जान बची लाखो पाए" यह कहावत मन ही मन सोचता हुआ अपने घर की ओर भागा। घर जाकर उसने मत्री अभयकुमार को मन ही मन लाखो बार प्रणाम किया और कहा—"मेरे जीवनदाता मित्र! मैं तो तुम्हे रोज केवल नमस्कार ही करता था पर तुमने तो उसके बदले मेरी जान बचा दी, अन्यथा आज बेमौत मारा जाता।"

तो बन्धुओ, सकट के समय मित्र बहुत काम आता है। अत किसी भी स्थिति मे मित्र को भूलाना नहीं चाहिये। चाहे व्यक्ति दरिद्रावस्था मे हो या अमीरावस्था मे, अपनी प्रतिकूल स्थिति मे अगर वह मित्र की सलाह लेगा या उससे सहायता की आकाक्षा करेगा तो मित्र सच्चे हृदय से उसे मार्ग सुझाएगा।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि आप लोग चाहे अमीर हो या गरीब, भले ही किसी के पास धन अधिक हो और किसी के पास कम पर आप लोग आपस मे सगठित होकर मैत्रीभाव की स्थापना करें। आपस मे स्नेह होने पर और सगठन होने पर ही आप समाज की कुप्रथाओ को दूर कर सकते हैं, धर्म एव सम्प्रदाय आदि को लेकर जो आपसी झगडे खडे हो गये हैं उन्हे मिटा सकते हैं, अपने बालक-बालिकाओ के लिये धार्मिक स्कूलादि का प्रबन्ध करके उनमे सुन्दर सस्कार एव धार्मिक भावनाओ के अकुर उगा सकते है तथा सबसे बडी बात जो हो सकती है वह यह कि समाज मे रहने वाले अभावग्रस्त, दीन-दरिद्र एव पीडितो के दुखो को मिटा सकते हैं। समाज मे अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनकी सार-सभाल करने वाला और सेवा करने वाला ही कोई नही होता। ऐसे व्यक्ति अत्यन्त दुख और कष्ट मे अपना जीवन बिताते हैं। अगर आप लोग मिल कर कुछ प्रबन्ध करें तो ऐसे व्यक्ति भी कुछ शाति और सुविधा से अपना समय व्यतीत कर सकते हैं।

बन्धुओ, यह सेवाकार्य भी सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, उपवास एव अन्य विविध प्रकार के तपो मे कम नहीं है अपितु यह उत्कृष्ट धर्माराधन करना है।

श्री स्थानाग सूत्र मे कहा भी है—

असगिहीय परिजणस्स—
सगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्व भवइ।

अनाश्रित एव असहायजनो को सहयोग एव आश्रय देने के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये।

आगे कहा है—

गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्च करणाए—
अब्भुट्ठेयव्व भवई ।

अर्थात् रोगी की सेवा करने के लिए सदा अम्लान भाव से तैयार रहना चाहिए।

वस्तुत 'सेवा परमोधर्म' जो कहा जाता है, वह यथार्थ है। इस नश्वर शरीर से जो व्यक्ति औरो की सेवा करता है वही मानव-शरीर का सच्चा लाभ उठाता है। सच भी है, इस शरीर को तो एक दिन मिट्टी मे मिलना ही है, फिर क्यो न इससे अधिक लाभ उठाया जाय ? मनुष्य जीवन को सफल बनाने के यही तो साधन हैं। अन्यथा अपना पेट तो पशु भी भर लेता है। मनुष्य भी अगर पेट भरने के काम मे ही लगा रहा तो उसमे और पशु मे क्या अन्तर रहेगा ?

आज लोग जीवन की सफलता धन इकट्ठा करने मे, मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने मे तथा भोगोपभोगो को भोगने मे ही समझते हैं। उनकी दृष्टि मे शारीरिक सुख ही जीवन साफल्य का लक्षण है। पर शरीर को अधिक से अधिक सुख पहुँचाना ही जीवन की सफलता नही है। मैंने अभी आपको बताया था कि इस शरीर को स्वस्थ रखने का कितना भी प्रयत्न किया जाय, इसे कितना भी सजाया जाय पर एक दिन जब यह नष्ट होगा, किसी के भी काम नही आएगा।

कहते भी हैं—

गाय भैंस पशुओ की चमडी, आती सौ-सौ काम,
हाथी दांत तथा कस्तूरी, बिकती महगे दाम।
नरतन किन्तु निपट निस्सार।

इसीलिये ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि व्यक्ति को अपनी दृष्टि मे शरीर की मुख्यता नही माननी चाहिये, अपितु शरीर मे रहने वाली आत्मा को मुख्यता देकर उसके भले का प्रयत्न करना चाहिए। क्योकि शरीर नश्वर है और आत्मा अमर। शरीर के सुख-दुख तो इसके साथ ही समाप्त हो जाते है, किन्तु आत्मा के सुख-दुख अनेकानेक जन्मो तक उसके साथ रहते हैं। अर्थात् मनुष्य अगर पुण्य-कर्मों का बन्धन करता है तो परलोक मे सुख हासिल होता है और पाप कर्मों का बन्धन करने पर जन्म-जन्म तक आत्मा कष्टो से घिरी रहती है। अत मुमुक्षु प्राणी को अपने शरीर के द्वारा सेवा, सहानुभूति, तप, त्याग, समाज का उत्थान, आदि-आदि उत्तम कार्यों को करके अपना जीवन सफल बनाना चाहिये। इसी मे शरीर की सार्थकता है।

१८ | अचेलक धर्म का मर्म

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !

आत्मा की उन्नति करने वाला सवर मार्ग है जो मन को, वचन को, शरीर को एव इन्द्रियो को आश्रव की ओर बढने से रोकता है। मन, वचन एव शरीर, इन तीनो योगो को रोकना सवर है और इन्हे खुला छोडना आश्रव। आश्रव पाप-कर्मों के आने का मार्ग है।

सवर तत्त्व के सत्तावन भेद हैं और इनमे से आप परिषहो के बारे मे कई दिनो से जानकारी कर रहे हैं। सोलह परिषह आपके सामने आ चुके हैं और आज सत्रहवें परिषह की बारी है। बाईस परिषहो मे से सत्रहवाँ परिषह है—'तृण-परिषह'।

इस विषय मे श्री उत्तराध्ययन सूत्र की एक गाथा है जो इस शास्त्र के दूसरे अध्याय मे चौतीसवी है। गाथा इस प्रकार है—

> अचेलगस्स लूहस्स, सजयस्स तवस्सिणो।
> तणेसु सयमाणस्स, हुज्जा गाय-विराहणा ॥

अर्थात् वस्त्ररहित और रूक्ष वृत्ति वाले तपस्वी साधु के तृणो पर शयन करने से शरीर मे पीडा होती है।

चेल यानि वस्त्र और अचेल अर्थात् वस्त्रो का पूर्णतया अभाव। हम इसका अर्थ मर्यादित कपडो से भी ले सकते हैं। यह इस प्रकार है जैसे—एक व्यापारी के पास किसी प्रकार का माल होता है। उसे वह बेचना चाहता है, किन्तु भाव और बढ जाएगा इस लालच मे पडकर वह उसे रखे रहता है। किन्तु दुर्भाग्यवश भाव गिरता चला जाता है और उस गिरे हुए भाव मे जब वह माल बेचता है तो मुनाफा बहुत ही कम होता है।

पर उस समय अगर कोई व्यक्ति व्यापारी से पूछता है—"भाई, नफा हुआ या नुकसान ?" व्यापारी कहता है—"नुकसान नही हुआ किन्तु फायदा भी नही रहा। केवल सौ-दो सौ रुपए मिले हैं।" तो हजारो रुपये के व्यापार मे जिस प्रकार

सौ-दो सौ रुपए कोई महत्व नही रखते, इसी प्रकार मर्यादित कपडे भी वस्त्र-रहित स्थिति मे ही आ जाते हैं।

आप श्रावक लोग अपने लिये गर्मियो के और सर्दियो के कितने वस्त्र रखते हैं ? शायद ही किसी के पास इसकी गिनती हो। ठण्ड से बचने के लिए अनेक गरम वस्त्र, शाल, दुशाले और रूई से भरे हुए रजाई-गद्दे आदि-आदि। किन्तु साधु मर्यादित वस्त्र रखते हैं। अत बहुत ही कम गिने-चुने कपडो के टुकडे उनके पास होते हैं। इसलिए बहुत ही कम वस्त्र होना भी अचेल अर्थात् वस्त्र-रहितता की गणना मे आ जाता है।

तो वास्तव मे तो सूत्र की गाथा जिनकल्पी साधु को लक्ष्य मे रखकर ही कही गई है क्योकि शयन करने पर तृण-जन्य कष्ट उन्हे पूर्ण रूप से होता है, किन्तु जो स्थविरकल्पी हैं वे भी शास्त्रो की आज्ञा के अनुसार अत्यल्प वस्त्र रखते हुए इस परिषह को सहन करते हैं। क्योकि उनके पास पर्याप्त वस्त्र नही होते और जो होते हैं वे भी बहुत पुराने एव जीर्ण-शीर्ण होते हैं। इसलिए उन्हे तृणादि मे शयन करने से इस परिषह को अनिवार्य रूप से सहना पडता है।

ध्यान मे रखने की बात है कि सयमशील मुनि जब अपने शरीर पर भी ममत्व नही रखते तो फिर वस्त्रो को भी वे अधिक मात्रा मे क्यो रखेगे ? गाथा मे 'लूहस्स' शब्द आया है। इसका अर्थ है—रूक्ष वृत्ति वाला या रूखे दिल वाला। यह वृत्ति साधु के लिए उचित है। आप जानते हैं कि आपके मुह मे जो जीभ है, उसने जीवन भर मे मनो घी खाया होगा, दूध पिया होगा, मिठाई का स्वाद लिया होगा और इसी प्रकार अनेकानेक सरस व्यञ्जनो को अपनी जिह्वा पर रखा होगा। किन्तु क्या किसी भी पदार्थ का स्वाद या रस उसके ऊपर बना रहता है ? नही, पदार्थ के उदर मे जाते ही वह रूखी की रूखी बनी रहती है। साधु-वृत्ति भी ऐसी ही होती है। जो कुछ मिल गया ठीक है, नही मिला तो भी ठीक है। आप श्रेष्ठि लोग तो खाने बैठते है, पर जरा-सा किसी वस्तु मे नमक कम हो गया या किसी पदार्थ मे कोई कमी रह गई तो थालियाँ उठाकर फैंक देते है तथा बनाने वालो को गालियाँ देते हैं वह अलग।

किन्तु साधु-वृत्ति को अपनाने वाले सयमी प्राणी क्या ऐसा करते हैं ? नही। उन्हे वस्त्र मिला तो ठीक और नही मिला तो भी ठीक। इसी प्रकार आहारादि मिले तो ठीक और नही मिले तो भी कोई बात नही। ऐसी रूखी वृत्ति रहने के कारण ही तो वे समस्त परिषहो को सहन करते है और सासारिक पदार्थों के मिलने, न मिलने पर हर्ष या दुख नही मानते। परिणाम यह होता है कि आसक्ति के अभाव के कारण उनकी आत्मा को कर्म अपनी लपेट मे नही लेते।

आप प्रश्न करेंगे कि आखिर साधु भी आहार-जल ग्रहण करते हैं, वस्त्र पहनते हैं, बोलते हैं और हँसते हैं। अर्थात् सभी क्रियाएँ करते हैं किन्तु उन्हे कर्मों का बन्ध नही होता और गृहस्थो को होता है, ऐसा क्यो ?

इस प्रश्न का उत्तर मैं आपको 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के पच्चीसवें अध्याय की दो गाथाओ के आधार पर देता हूँ। गाथाएँ इस प्रकार हैं—

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो तत्थ लग्गई ॥४२॥
एव लग्गति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गति, जहा से सुक्क गोलए ॥४३॥

अर्थात्—गीला और सूखा ऐसे मिट्टी के दो गोले दीवाल पर फेंकने से जो गोला गीला होता है, वह वहाँ चिपक जाता है, किन्तु सूखा हुआ गोला दीवाल पर नही चिपकता।

इसी प्रकार काम-भोगो मे मूर्छित दुर्बुद्धि जीव को कर्म लगते हैं, किन्तु विरक्त को सूखे गोले की तरह कर्म नही लगते।

आशय यही है कि गाथा मे बताए गए गोलो के समान साधु और गृहस्थ हैं। गृहस्थ गीले गोले की तरह होता है क्योंकि उसकी काम-भोगो मे आसक्ति होती है, धन के लिए लोभ होता है और परिवार के प्रति अत्यधिक मोह होता है। इसलिए कर्म उसकी आत्मा से निरन्तर चिपकते रहते हैं।

किन्तु साधु जो कि सयमी होता है, वह धन पैसा तो रखता ही नही अत उसके प्रति लोभ-लालच का सवाल ही नहीं होता, ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लेता है अत काम-भोग की ओर भी उसका मन नही जाता। रही बात वस्त्र पहनने और पेट भरने की। आप जानते ही हैं कि साधु को न तो श्वेत वस्त्रो के अलावा किसी प्रकार का कीमती वस्त्र चाहिए और न मर्यादा से अधिक ही चाहिय क्योकि अपने थोडे मे वस्त्र वे स्वय ही उठाकर विचरण करते है, अपना वजन किसी को नही देते। ऐसी स्थिति मे अधिक वस्त्र वे रखते नही और जितना रखते हैं, उस पर भी उनका ममत्व नही होता। इसी प्रकार उनके आहार का भी हाल है। अचित्त और निर्दोष आहार जितनी भी मात्रा मे मिल जाता है तथा रूखा-सूखा जैसा भी प्राप्त होता है केवल शरीर टिकाने मात्र के लिए लेते हैं। उनके लिए सरस या नीरस पदार्थ समान होते हैं क्योकि वे स्वाद के लिए नही खाते, पेट को भाडा देने के लिए खाते हैं। इसलिए खाद्य-पदार्थ के लिए उनमे नाममात्र की भी लोलुपता नही रहती और इन सबके अलावा वे अपने सम्पूर्ण परिवार को छोडकर गृहस्थ-त्यागी हो जाते हैं। अत मोह किसके लिए रहेगा ? उनके लिए तो ससार का प्रत्येक

प्राणी प्रिय होता है अत किसी विशेष प्राणी के लिए उनकी ममता रहती ही नही। वे तो अपनी धुन मे मस्त जिधर मुँह उठाते हैं उधर ही अपनी झोली लेकर चल देते है। इसलिए मिट्टी के सूखे गोले के समान उनसे कर्म नही चिपकते।

श्री भर्तृहरि ने साधु की फक्कडता और धर्म तथा त्याग के प्रति रही हुई गौरवपूर्ण भावना का चित्र खीचा है कि साधु क्या विचार करता है? श्लोक इस प्रकार है—

> अर्थानामीशिषे त्व वयमपि च गिरामीश्महे यावदित्थ,
> शूरस्त्व वादिदर्पज्वरशमनविधावक्षय पाटव न।
> सेवन्ते त्वा धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा,
> मय्यप्यास्थान ते चेत्त्वयिममसुतरामेष राजन्गतोऽस्मि॥

वस्तुत सत फक्कड होते हैं। न उन्हे निन्दा की परवाह होती है। न उन्हें प्रशसा की आकाक्षा। न उनके समक्ष धनवानो का महत्व होता है और न गरीबो के प्रति तिरस्कार की भावना। उन्हे केवल अपनी करणी पर सन्तोष होता है और वे अपने ज्ञान के प्रति विश्वास और शुद्धाचरण का बल रखते हैं।

अपने निंदको या आलोचना करने वालो की तनिक भी परवाह न करते हुए वे क्षण भर मे यह कहते हुए अन्यत्र चल देते हैं—"अज्ञानी व्यक्तियो! अगर तुम धन के स्वामी हो तो हम वाणी के स्वामी हैं अर्थात्—हमे अपने वचनो पर पूरा अधिकार है। तुम चाहे हमे कटु वचन कहो या मधुर, हमारे लिए समान हैं। न हम मधुर वचनो से प्रसन्न होते है और न तुम्हारे कटु-वचनो को सुनकर उनका उत्तर ही देते हैं। यही हमारा कर्तव्य है और इसका यथाविधि पालन करना चाहिए ऐसा भगवान का आदेश है। समभाव हमारा सबसे बडा बल है। इसके द्वारा ही हम कषायो का मुकाबला करते हैं। एक उदाहरण है—

सच्चा साधुत्व

एक बार एक जिज्ञासु युवक किसी सन्त के पास गया और बोला—"भगवान! सच्चा साधुत्व कैसे प्राप्त किया जा सकता है और समभाव किस प्रकार रखा जा सकता है?"

सन्त ने भक्त की बात सुनी और उस पर कुछ क्षण विचार करके बोले—"वत्स! तुम्हे अपनी जिज्ञासाओ का समाधान करना है तो जाओ नगर के बाहर जो कब्रिस्तान है, वहाँ जाकर कब्रो को तुमसे जितनी गालियाँ दी जायें दो और वे क्या जवाब देती हैं, यह मुझे आकर बताओ।"

बेचारा युवक यह तो जानता था कि कब्रे भला कैसे बोलेंगी? पर फिर भी गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करके उसी समय वहाँ से चल दिया। वह कब्रिस्तान मे

पहुँचा और उसने विविध प्रकार के कटु-शब्दो और गालियो से कब्रो को सबोधित करना प्रारम्भ किया। घन्टो तक जी भर कर गालियाँ देता रहा और जब थक गया तो पुन सन्त के पास लौट आया।

सन्त ने उसे देखते ही पूछा—"क्यो भाई! मेरे कथनानुसार तुम कब्रिस्तान मे गये थे और कब्रो को गालियाँ दी थी क्या?"

युवक ने उत्तर दिया—"हाँ गुरुदेव! आपकी आज्ञा पाते ही मैं कब्रिस्तान की ओर चला गया था तथा तब से अभी तक वही खडा-खडा कब्रो को गालियाँ दे रहा था। पर जब बोलते-बोलते थक गया तो लौटकर आया हूँ। भगवन्! बात यही है कि मैंने कब्रो को असख्य गालियाँ दी पर उन्होने एक का भी जवाब नही दिया।"

सन्त ने युवक की बात ध्यान से सुनी और तब कहा—"ठीक है भाई! तुम्हारी बात सत्य होगी। पर अब ऐसा करो कि कब्रो ने अगर गालियो का जवाब नही दिया है तो अब पुन जाकर उनकी प्रशसा और स्तुति करो। देखें अब वे क्या कहती हैं?"

युवक पुन चकित हुआ, किन्तु उसने सन्त की बात पर किसी प्रकार की शका नही की और न अविश्वास किया। वह फिर से रवाना हुआ और सीधा वही पहुँच गया। वहाँ रहकर उस भोले युवक ने बडे मधुर, प्रिय, सुन्दर तथा सम्मानजनक सबोधनो से कब्रो को सम्बोधित किया और उनकी नाना प्रकार से प्रशसा तथा स्तुति की। बहुत गुण-गान भी किया।

पर कब्रें भी कभी बोलती हैं क्या? वे तो उसी प्रकार मौन रही और कब्रिस्तान मे सन्नाटा छाया रहा। इस बार वह युवक जब फिर से कब्रो की प्रशसा और स्तुति करके थक गया तो वहाँ से लौट आया और सन्त के समीप पहुँचा।

सन्त ने युवक का चेहरा ध्यान से देखा और पाया कि जिज्ञासु युवक कुछ निराश सा हो रहा है तो मधुर मुस्कान सहित सान्त्वना पूर्ण स्वर से बोले—

"वत्स! तुम दुखी और निराश क्यो हो? तुम्हारी जिज्ञासाओ का समाधान तो हो चुका है।"

युवक सन्त के द्वारा कब्रिस्तान मे भेजे जाने पर और कब्रो को गालियाँ देने और उसके बाद स्तुति करने की आज्ञा देने पर भी जितना चकित नही हुआ था, उतना गुरुजी की यह बात सुनकर चकित हुआ। उसने बडे आश्चर्य से पूछा—

"भगवन्! कब्रो ने न तो गालियो का कोई प्रत्युत्तर दिया और न प्रशसा या स्तुति का। फिर मेरी जिज्ञासा का समाधान कैसे हो गया?"

महात्मा जी प्रेम से बोले "बेटा! कब्रो ने तुम्हे यही तो बताया है कि चाहे लोग जी भरकर निन्दा करें या प्रशसा, उससे न क्रोध प्रकट करो और न ही हर्ष का

अनुभव करो। ऐसा करना ही समभाव मे आना है और यही सच्चा साधुत्व है। निंदा और प्रशसा, इन दोनो के होने पर मौन रहना ही साधुत्व का लक्षण है एव समभाव का परिचायक है।"

वास्तव मे साधु को किसी के द्वारा निंदा किये जाने पर क्यो दुख होना चाहिए और प्रशसा करने पर हर्ष का अनुभव क्यो करना चाहिए ? क्या कोई क्रोधित होकर उनकी जागीरी छीन लेगा या प्रसन्न होकर उन्हे स्वर्ग का राज्य इनाम मे दे देगा ? नही, फिर परवाह किस बात की ?

अभी-अभी श्लोक मे सन्त क्या कहते हैं यह बताया ही गया है। वे सासारिक व्यक्तियो से कहते हैं—"यदि तुम धन के स्वामी हो तो हम वाणी के स्वामी हैं। यदि तुम लडने मे बहादुर हो तो हम अपने विपक्षियो से शास्त्रार्थ करके उनके अहकार रूपी ज्वर को मिटाने मे कुशल हैं। यदि तुम्हारी सेवा धन के लोलुपी करते हैं तो हमारी सेवा अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश चाहने वाले मुमुक्षु प्राणी शास्त्र सुनने के लिए करते हैं। अगर तुम्हे हमारी गरज नही है तो हमे भी तुम्हारी बिलकुल गरज नही है। और लो हम तो यह रवाना होते हैं।"

इस प्रकार सन्त न किसी की परवाह करते हैं और न किसी प्रकार के लोभ या आसक्ति के कारण किसी को प्रसन्न करने की फिक्र मे रहते हैं। उन्हे भोग रोगस्वरूप दिखाई देते हैं और विलास मे विनाश का कारण महसूस होता है। ऐसे वासनाओ को जीत लेने वाले सच्चे साधक या सन्त ससार के विषय-भोगो से विरक्त होकर त्याग-वृत्ति अपना लेते हैं तथा स्वय सयम की साधना करते हुए अज्ञानी व्यक्तियो को भी यह उपदेश देते हैं—

प्राप्ता. श्रिय. सकलकामदुघास्तत कि,
दत्त पद शिरसि विद्विषता तत. किम्।
सम्मानिता प्रणयिनो विभवैस्तत कि,
कल्प स्थित तनुभृता तनुभिस्तत. किम्॥

जीर्णा कन्था तत कि सितममलपट पट्टसूत्र तत. कि,
एका भार्या तत कि हयकरिसुगणैरावृतो वा तत. कि,
भक्त भुक्त तत. कि कदन्नमथवा वासरान्ते तत कि,
व्यक्त ज्योतिर्नवान्तर्मथित भवभय वैभव वा तत किम्।

सन्त क्या कहते हैं ? यही कि—मनुष्यो को सम्पूर्ण इच्छाओ की पूर्ति करने वाली लक्ष्मी मिली तो क्या हुआ ? अगर शत्रुओ को पदानत किया तो क्या ? धन से

मित्रो की खातिर की तो क्या और इस देह से पृथ्वी पर एक कल्प तक भी जीवित रहे तो क्या ?

इतना ही नही, आगे कहते हैं—अगर चिथडो से बनी हुई गुदडी ओढी तो क्या ? और निर्मल सफेद वस्त्र पहने या पीताम्बर पहने तो क्या ? अगर एक ही स्त्री रही तो क्या ? और अनेकानेक हाथी एव अश्वो सहित अनेक स्त्रियाँ रही तो भी क्या ? अगर नाना प्रकार के सरस सुस्वादु भोज्य-पदार्थ खाये तो क्या एव रूखा-सूखा खाना खाया तो क्या ? इस प्रकार ससार का महान् वैभव पा लिया और सुख-सुविधाओ के समस्त साधन प्राप्त कर लिये तो क्या हुआ। यदि आत्मा को ससार-बन्धनो से मुक्त करने वाली आत्म-ज्ञान की ज्योति न जागी तो समझना चाहिए कि मनुष्य ने कुछ भी नही पाया और कुछ भी नही किया।

सन्तो की इन भावनाओ मे कितना गम्भीर रहस्य छिपा हुआ है ? अगर मानव इन पर चिन्तन करे तो क्या अपनी आत्मा को अपने शुद्ध रूप मे लाकर कर्मों की सर्वथा निर्जरा करता हुआ ससार-मुक्त नही हो सकता ? अवश्य हो सकता है। आवश्यकता केवल आत्म-ज्ञान को जगाने की है।

जब आत्म-ज्ञान जाग जाता है तो ससार का सम्पूर्ण सुख एव सम्पूर्ण वैभव व्यक्ति को निरर्थक महसूस होने लगता है। उसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि ससार का कोई भी पदार्थ उसे शाश्वत सुख प्रदान नही कर सकता और कोई भी प्राणी उसे मृत्यु से परित्राण नही दिला सकता। इसीलिए अनाथी मुनि जो कि एक श्रेष्ठि-पुत्र थे तथा अपार वैभव के बीच पले थे, सब कुछ त्याग कर साधु बन गये थे।

एक बार जब मगध देश के सम्राट राजा श्रेणिक 'मण्डिकुक्षि' नामक उद्यान मे घूमते हुए पहुँचे तो उन्होने एक वृक्ष के नीचे मुनि को देखा। उन्हे देखकर श्रेणिक अत्यन्त चकित हुए, क्योकि मुनि का रूप अत्यन्त उत्कृष्ट एव आकृति बडी ही भव्य तथा मनोहारिणी थी। शारीरिक सौन्दर्य एव उनके आकर्षक व्यक्तित्व से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता था कि मुनि किसी उच्च कुल के तथा समृद्धिशाली परिवार के व्यक्ति हैं। पर ऐसे कुलीन, सम्पन्न तथा शारीरिक सौन्दर्य के धनी व्यक्ति को युवावस्था मे ही सन्यासी बना हुआ देखकर श्रेणिक को बडा आश्चर्य हुआ और उन्होने पूछा—

तरुणोसि अज्जो पव्वइओ, भोगकालम्मि सजया।
उवट्ठिओ सि सामण्णे, एयमट्ठं सुणेमि ता॥

—उत्तराध्ययन सूत्र २०-८

श्रेणिक ने प्रश्न किया—"भगवन् ! आप भोगो के योग्य इस युवावस्था मे

ही दीक्षा ग्रहण करके साधु वन गए हैं, ऐसा क्यो ? मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ ।"

वास्तव मे ही इस ससार मे लोग किसी की दीक्षा लेने की भावना जानते ही नाना प्रकार के तर्कों से उसे परेशान करने लगते हैं तथा अन्तराय डालने का प्रयत्न करते हैं । तारीफ की वात तो यह कि वे व्यक्ति मनुष्य की किसी भी अवस्था को साधुत्व के लिए उपयुक्त नही मानते । अगर कोई कम उम्र मे साधु वनना चाहता है तो वडी ही दया एव करुणा का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं—हाय ! यह तो अभी वच्चा है, इसने अभी ससार मे देखा ही क्या है ? खाने-खेलने की इस उम्र मे भला साधु वनना चाहिए क्या ?

इसके वाद अगर व्यक्ति युवावस्था मे ससार से विरक्त होकर साधुत्व ग्रहण करने की इच्छा करता है तो लोग कहते हैं—"वाह ! यह उम्र तो ससार के सुखो का उपयोग करने की है तथा धनार्जन करके परिवार का पालन-पोषण करने की ।" साथ ही तरुण व्यक्ति के लिए लोग यह भी कहते हैं कि—"कमाने की क्षमता नही है अत मुफ्त की रोटियाँ खाने के लिए ससार छोड रहा है ।" लोग उसे कायर कहने से भी नही चूकते । इस प्रकार युवावस्था मे साधु वनना भी सासारिक व्यक्तियो को ठीक नही लगता ।

अव वची वृद्धावस्था । अगर व्यक्ति वाल्यावस्था और युवावस्था को पार कर जाए तथा सासारिक कर्तव्यो से निवृत्त होकर साधु वनने का विचार करे तो भी लोग तुरन्त कह देते हैं—"अव वुढापे मे दीक्षा लेकर क्या करोगे ? सारी इन्द्रियाँ क्षीण हो गई हैं, चला जाता नही और अपना कार्य भी स्वय नही कर सकते तो फिर साधु वनने से क्या लाभ ? औरो से सेवा कराने के लिए साधु वनोगे क्या ?"

इस प्रकार ससार के व्यक्ति तो किसी भी अवस्था मे मनुष्य को साधु वनने देना पसन्द नही करते तथा हर हालत मे विघ्न वाधाएँ उपस्थित करने का प्रयत्न करते हैं । वे ससार-विरक्त व्यक्ति का उपहास करते हैं तथा कायर वताते हुए ताने देते हैं ।

किन्तु हम यहाँ महाराज श्रेणिक के विषय मे यह वात नही कह सकते । उन्होने मुनि को देखा और वडी श्रद्धा से वन्दना-नमस्कार भी किया । किन्तु मुनि के चेहरे की अपार भव्यता, सौम्यता एव उनके अनुपम सुन्दर शरीर की कान्ति देखकर उन्हे वडा आश्चर्य, कौतूहल एव जिज्ञासा पैदा हुई कि इस देव-पुरुष ने किस वजह से इस तरुणावस्था मे सयम ग्रहण किया ? अपनी उस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही वडी नम्रता एव विनय से पूछा कि—"आपने भोगो को भोगने योग्य इस तरुणावस्था मे क्यो सयम अपना लिया ?"

मुनि ने महाराज श्रेणिक का प्रश्न सुना और बडी मधुरता एव शान्ति से उत्तर दिया—

> **अणाहो मि महाराय, नाहो मज्झ न विज्जइ ।**
> **अणुकपग सुहिं वावि, कचि णाभिसमेमह ॥**

—उत्तराध्ययन सूत्र २०-६

महाराज ! मैं अनाथ हूँ । मेरा कोई नाथ नही है, न मुझ पर कोई कृपा करने वाला मित्र ही है । इसलिए मैं साधु हुआ हूँ ।

यह सुनकर राजा श्रेणिक को वडा आश्चर्य हुआ कि ऐसे देवोपम पुरुष का भी कोई नाथ नही है । पर यह सत्य समझकर उन्होंने आन्तरिक करुणा से विगलित होकर और स्नेहपूरित गद्‌गद् स्वर से कहा—

"मुनिराज ! अगर ऐसा है तो मैं अपका नाथ वनता हूँ । आप निश्चितता पूर्वक मित्र एव जाति युक्त होकर ससार के सुखो का भोग करें । यह मनुष्य-जन्म तो वहुत ही दुर्लभ है ।"

वन्धुओ, यह ससार विचित्रताओ का आगार है । यहाँ विभिन्न प्रकार की विचारधाराओ वाले व्यक्ति पाये जाते हैं । अनेक भव्य प्राणी ऐसे होते हैं जो आत्मा को सनातन-नित्य मानते हैं तथा इस वात पर पूर्ण विश्वास रखते हैं कि भले ही वर्तमान जीवन अत्यल्प है, किन्तु आत्मा शाश्वत है । यह जव तक अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नही कर लेता तव तक जन्म-मरण के दुखो से मुक्त नही होता । इसलिए वे भविष्य यानी परलोक को भी सम्मुख रखकर अपने कर्तव्य का निर्णय करते हैं तथा इस शरीर के द्वारा सच्ची साधना करके आत्मा को कर्म-मुक्त करने के प्रयत्न मे जुट जाते हैं ।

किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो लोक-परलोक को नही मानते तथा वर्तमान जीवन को ही सव कुछ मानकर इस शरीर से अधिकाधिक भोग, भोग लेना ठीक समझते हैं । ऐसे व्यक्ति काम-भोगो मे गृद्ध और घोर असक्त रहने के कारण विषय-वासनाओ को नही त्याग सकते । इन्द्रियो की उच्छृखला के कारण वे यम-नियम के नियन्त्रण मे नहीं आ सकते । उनका यह कथन होता है कि परलोक के अविश्वसनीय सुखो की आशा मे रहकर इस लोक के सुखो से वञ्चित रहना मूर्खता है । ऐसे व्यक्ति नास्तिक कहलाते हैं और वे परमात्मा, मुक्ति, धर्म, अधर्म, पुण्य या पाप किसी पर विश्वास नही करते । नास्तिक व्यक्ति परलोक को नही मानते और इसीलिए इस जीवन को और इनमे भोगे जाने वाले सुखो को ही सामने रखते है । उनका तो कहना है—

इहलोक सुख हित्वा ये तपस्यन्ति दुर्घिय ।
हित्वा हस्तगत ग्रास, ते लिहन्ति पदागुलिम् ।।

आस्तिक व्यक्तियो का उपहास और तिरस्कार करते हुए नास्तिक व्यक्ति कहते हैं—जो मूर्ख व्यक्ति इस लोक के सुखो को छोडकर घोर तपस्या करते हैं वे मानो अपने हाथ का कौर छोडकर पैरो की अगुलियाँ चाटते हैं।

उनका आशय यही है कि प्राप्त सुखो का त्याग करके भविष्य के अनिश्चित सुखो की कामना करना महामूर्खता है और ऐसा करने का प्रयत्न करने से इस जीवन का आनन्द भी छूट जाता है और परलोक तो है ही कहाँ, जिसमे सुख मिलेगा।

अब आते हैं तीसरी श्रेणी के व्यक्ति। ऐसे व्यक्ति लोक-परलोक, धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप, देव, गुरु आदि सभी पर आस्था रखते हैं किन्तु प्रमाद के कारण और मन तथा इन्द्रियो के प्रबल आकर्षण से परास्त होकर धर्माचरण एव तपादि का आराधन नही कर पाते। सम्यक् दर्शन, ज्ञान एव चारित्र पर पूर्ण विश्वास रखते हुए भी पूर्व कर्मों के उदय होने से वे चाहते हुए भी शुभोपयोग मे नही लग पाते। प्रमाद का आवरण उनके मन, मस्तिष्क पर इस प्रकार छाया रहता है कि वे निष्क्रिय बने रहते हैं और आज नही तो कल और कल नही तो परसो से धर्माराधन प्रारम्भ करेंगे, यही विचार करते-करते वे अपना सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ गँवा देते हैं। मैं तो समझता हूँ कि ससार मे इस तीसरी श्रेणी के व्यक्ति ही अधिक हैं। आप सब जो यहाँ बैठे हैं, निश्चय ही नास्तिक नही हैं। आपकी प्रबल इच्छा सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करके मुक्ति प्राप्त करने की है, किन्तु सासारिक उलझनो का और सासारिक कर्तव्यो का बहाना लेकर आप केवल प्रमाद का ही पोषण करते हैं तथा विचार करते हैं कि ये सब सासारिक कार्य निपट जायँ तो अवश्य धर्माचरण करेंगे।

पर बन्धुओ, आप जानते हैं कि ससार के कार्य तो कभी भी सम्पन्न नही हो सकते। एक इच्छा के पूर्ण होते ही दस इच्छाएँ उसका स्थान ग्रहण कर लेती हैं तथा एक कार्य समाप्त करते ही दस कार्य सामने आ उपस्थित होते हैं। परिणाम यही होता है कि आत्म-कल्याण की पूर्ण चाह होते हुए भी आप जीवन पर्यन्त उस चाह के लिए सक्रिय नही बन पाते, अर्थात् उसके लिए प्रयत्न नही कर पाते। इस प्रकार आप तीसरी श्रेणी के व्यक्तियो मे आ जाते हैं।

हमारा प्रसग अनाथी मुनि एव महाराज श्रेणिक को लेकर चल रहा है। अनाथी मुनि के समक्ष श्रेणिक आए और उन्होंने मुनि को वदन किया। यद्यपि वे नास्तिक नही थे और स्वय भी बडे विचारक, उच्चमना एव भव्यात्मा थे किन्तु अपने सामने तरुणावस्था के एक अत्यन्त तेजस्वी, कान्तिमान एव कुलीन दिखाई देने वाले मुनि को देखकर कुछ चकित हुए और उन्होंने पूछ लिया—"आपने इस अवस्था मे, जबकि ससार के सुख भोगना चाहिए, सन्यास क्यो ग्रहण किया ?"

मुनि ने भी सहज एव मधुर शब्दों मे उत्तर दिया—"महाराज ! मैं अनाथ था, इसलिए साधु बन गया।"

मुनि का यह उत्तर सुनकर तो श्रेणिक और भी चमत्कृत हो गये। विचार करने लगे कि ऐसा भव्य व्यक्तित्व जिस व्यक्ति का है, वह कैसे अनाथ हो गया ? फिर भी यह समझकर कि इनका कोई भी स्वजन-परिजन नही होगा। वैभव का अभाव होगा या अन्य किसी प्रकार का कष्ट रहा होगा इसीलिए दुखी होकर ये साधु बन गये है, उन्होने कहा—"भगवन्, अगर आपका कोई नाथ नही है तो मैं आपका नाथ बनता हूँ और आप अपनी सुन्दर काया एव अवस्था के अनुसार सासारिक सुखोपभोगो का आनन्द उठाएँ।"

पर श्रेणिक की बात सुनकर मुनि ने क्या उत्तर दिया ? उन्होने स्पष्ट और सहज भाव से कह दिया—

अप्पणा वि अणाहो सि, सेणिया मगहाहिवा।
अप्पणा अणाहो सन्तो, कस्स नाहो भविस्ससि ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र २०-१२

अर्थात्—"हे मगध देश के महाराज श्रेणिक ! तुम तो स्वय ही अनाथ हो। फिर स्वय अनाथ होते हुए दूसरो के नाथ कैसे बन सकते हो ?"

मुनि का यह उत्तर सुनते ही राजा श्रेणिक की आँखें तो मानो कपाल पर चढ गईं। वे महान् आश्चर्य से बोले—"भगवन् ! आप कैसी बातें कह रहे हैं ? मैं मगध का सम्राट हूँ, प्रजा के लाखो व्यक्तियो का स्वामी हूँ, मेरा राज-कोष असीम है। हजारो हाथी, घोडे, दास, दासी मेरे आश्रय मे पल रहे हैं, साथ ही मेरे अन्त पुर मे अनेको रानियाँ और स्वजन-परिजन है जो सदा मेरा मुँह ताकते रहते हैं। भला मैं किस प्रकार अनाथ हूँ।"

मुनि मन्द-मन्द मुस्कराते हुए बोले—"राजन् ! अनाथ और सनाथ की परिभाषा मेरी दृष्टि मे और है तथा आपकी दृष्टि मे कुछ और। आपने अपने विचार इस विषय मे व्यक्त कर दिये हैं पर मैं क्यो अपने आपको अनाथ कहता हूँ, यह सुनिए।" इस प्रकार अनाथी मुनि ने राजा से कहना प्रारम्भ किया—

"मैं कौशाम्बी नगर के प्रभूत धनसचय श्रेष्ठि का पुत्र हूँ। मेरे पिता के पास भी अपार ऋद्धि थी तथा परिवार मे सभी सम्बन्धी थे। असीम वैभव के बीच मेरा लालन-पालन हुआ और युवावस्था आते ही सुन्दर कन्या से विवाह भी कर दिया गया।

किन्तु एक वार मेरी आँखो मे घोर वेदना उठी। उस असह्य वेदना से केवल मेरी आँखे ही नही, वरन् मस्तक, हृदय, कमर एव समस्त शरीर पीडित हो गया। मेरे पिता ने अनेक वैद्यो और हकीमो को इकट्ठा किया तथा उन सवने चतुष्पाद चिकित्सा के द्वारा मेरे कष्ट को मिटाने का प्रयत्न किया। पानी की तरह पैसा वहाया गया पर कोई लाभ नही हुआ। माता-पिता, भाई, पत्नी एव सभी स्वजन-परिजन विकल होते थे तथा मेरी घोर पीडा से दुखित होकर आँसू वहाते थे।"

"किन्तु महाराज! मेरी वीमारी को मिटाने मे कोई भी समर्थ नही हो सका, न उस समय स्वजन सम्वन्धी कुछ कर सके, न वैद्य-हकीम अपनी दवा से मुझे लाभ पहुँचा सके और न मेरे पिता की अपार ऋद्धि ही मेरी वीमारी मे काम आई। यह स्थिति देखकर मुझे विश्वास हो गया कि मैं अनाथ हूँ। और जव यह विश्वास हो गया तो एक दिन मैंने सकल्प किया कि अगर इस वेदना से मुक्त हो जाऊँगा तो अनगार वनकर ऐसा प्रयत्न करूँगा कि मेरी आत्मा को सदा के लिए रोग-शोक एव जन्म-मरण से मुक्ति मिल जाय। वस यह विचार और दृढ सकल्प करते ही मेरी घोर वेदना अपने आप शात हो गई और मैंने अविलम्व सन्यास ले लिया। अव आप ही वताइये कि आप जो कि अपने आपको लाखो व्यक्तियो का नाथ समझते हैं, क्या किसी भी प्राणी की शारीरिक वेदना को मिटाने मे समर्थ है, क्या आप किसी को मरने से वचा सकते हैं? नही, ऐसी स्थिति मे आप किस प्रकार स्वय को किसी का नाथ कह सकते हैं? मैंने इस वात को भली-भाँति समझकर ही सयम का यह रूखा मार्ग अपनाया है।"

वन्धुओ! आप अनाथी मुनि एव राजा श्रेणिक के इस वार्तालाप को सुनकर समझ गए होगे कि साधक अथवा मुनि क्यो रूक्ष वृत्ति अपना लेते हैं? उत्तराध्ययन सूत्र की जो गाथा मैंने आपको प्रारम्भ मे सुनाई है, उसमे 'लूहस्स' शव्द आया है। 'लूहस्स' का अर्थ है रुखी वृत्ति वाला।

साधु ऐसी वृत्ति वाले होने के कारण ही ससार मे रहकर वस्त्र पहनते हुए, आहार ग्रहण करते हुए तथा अन्य सव क्रियाएँ करते हुए भी मिट्टी का सूखा गोला जिस प्रकार दीवार मे नही चिपकता, उसी प्रकार किसी भी सासारिक पदार्थ मे आसक्त नही होते। और अनासक्ति पूर्ण रूक्ष वृत्ति को धारण करने पर ही सम्पूर्ण परिपहो पर विजय प्राप्त करते हैं। ससार मे रहकर भी वे ससार से उदासीन रहते हैं। जो मिलना है पहन लेते है और जो मिलता है खा लेते हैं। कभी ऐसा नही होता कि भिक्षा मे पकवान आ गये तो वे सराहना करते हुए उन्हे वडे चाव से खाएँ और नीरस वस्तुओ के आ जाने पर दुखी होते हुए या कुढते हुए उन्हे ग्रहण करें। वे जानते हैं कि खाद्य पदार्थ जव तक जीभ पर रहते हैं, तभी तक उनका स्वाद रहता

है और उस क्षणिक स्वाद के लिए ही मानव गृद्धता के कारण कर्मों का बन्धन कर लेता है। जीभ से नीचे जाते ही तो प्रत्येक पदार्थ समान और निकृष्ट बन जाता है। एक कहावत भी है—"उतरा घाटी और हुआ माटी।"

आप सभी जानते हैं कि पेट मे पहुँचने के बाद प्रत्येक खाद्य-पदार्थ की क्या दशा होती है ?

मराठी जबान मे सत तुकाराम जी कहते है—

"मिष्टान्नाची गोडी, जिमेच्या अग्रणी,
मशक भरल्या वरी, स्वाद नैणे।"

अर्थात्—मिठाई की मिठास तभी तक है, जब तक वह जबान के अग्रभाग पर है। 'मशक भरल्या वर' अर्थात् पेट मे पहुँच जाने पर उसका कोई स्वाद नही रहता।

इसलिए मुँह मे रही हुई जिह्वा को तो केवल शरीर के पोषण का ध्यान रखना चाहिए। यह नही कि स्वाद-लोलुपता के कारण भक्ष्याभक्ष्य का विचार किये बिना अविवेक पूर्वक निकृष्ट पदार्थ, जैसे मास, मदिरा आदि को ग्रहण करके इन्द्रियो को भोगो की ओर बढाए तथा इन वस्तुओ के बुरे प्रभाव से ज्ञान की ज्योति को मन्द करने मे सहायक बने। मास-मदिरा, आदि का सेवन करने से बुद्धि कुठित हो जाती है, मस्तिष्क विचारशील नही रहता और हृदय क्रूर बन जाता है। ये त्रिदोष मिलकर मनुष्य की आत्मा को बहुत ही हानि पहुँचाते हैं तथा उसे निविड कर्मों से जकड देते है।

सत तुलसीदास जी ने एक दोहे मे कहा है—

मुखिया मुख सो चाहिए खान पान सहुँ एक।
पालहि पोसहि सकल अग, तुलसी सहित विवेक॥

कहा गया है कि मुखिया को मुह के समान होना चाहिए जो कि बडे विवेक पूर्वक अपने अनुयायियो को सन्मार्ग पर चलाता है तथा उनके जीवन को उत्तम एव सदाचरण से युक्त बनाता है।

तो जिस मुह की मुखिया से तुलना की गई है, उसे कितना विवेकवान होना चाहिए ? मुह से यहाँ आशय जिह्वा से है। इस जिह्वा को बडे विवेकपूर्वक अभक्ष्य का त्याग करते हुए निरासक्त भाव से शुद्ध पदार्थों को उदर मे पहुँचाना चाहिए ताकि उनका मन एव मस्तिष्क पर सुन्दर प्रभाव पडे तथा इन्द्रियाँ सयमित बनी रहे। मुख का तुलसीदास जी ने बडा भारी महत्व बताया है और इसीलिए कहा है कि जिस प्रकार मुह शरीर के सम्पूर्ण अगो को भोजन देकर पुष्ट बनाता है, इसी प्रकार मुखिया अथवा समाज के अग्रणी नेताओ को भी समाज रूपी शरीर के प्रत्येक अग

का ध्यान रखना चाहिए। समाज के अग उसके सदस्य होते हैं अत अग्रणी व्यक्तियो को विचार करना चाहिए कि जिस प्रकार शरीर के एक भी अग के पीडित होने पर हमारा पूरा शरीर कष्ट का अनुभव करता है तथा हम अविलम्ब डॉक्टर या वैद्य को बुलाकर रोग का निवारण करने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार समाज रूपी शरीर के अग-रूपी किसी भी व्यक्ति के दुखी या अभावग्रस्त होने पर हम पीडा का अनुभव करें तथा उसे मिटाने का भी तुरन्त प्रयास करे।

बन्धुओ, अगर आप सब समाज के नेता ऐसा विचार करेंगे तो आपके हृदय मे से मेरेपन की भावना निकल जाएगी। क्योकि जब आपके शरीर का कोई भी अग यह नही सोचता कि दूसरे अग मे कष्ट है तो हमारा क्या बिगडता है, वह तो किसी भी अन्य अग के दु ख को अपना दु ख मानता है और जल्दी से जल्दी वह दु ख मिटे, यह चाहता है तो फिर आप समाज रूपी शरीर के किसी भी अग के दु ख को अपना दु ख क्यो नही समझते ?

जिस दिन ऐसी भावना आपके हृदय मे पूर्ण रूप से घर कर जाएगी, आपको जो कुछ भी आपके पास है, वह अपना नही लगेगा और वह सब कुछ पूरे समाज का और समाज का ही क्या, विश्व के प्रत्येक प्राणी का महसूस होगा। आप अपनी सम्पत्ति को जरूरतमन्दो की अमानत समझने लगेंगे और उनकी जरूरतें पूरी करने मे प्रसन्नता का अनुभव करेंगे। यही वृत्ति साधुवृत्ति कहलाती है।

सतो मे कभी मेरापन नही होता। बाह्य पदार्थों की तो बात ही क्या है, उसे तो वे त्याग ही देते हैं, अपने शरीर को भी मेरा नही मानते। उनके लिए शरीर केवल साधना करने का यन्त्र होता है और यन्त्र समीचीन रूप से चले, इसके लिए जिस प्रकार तेल एव कोयला आदि दिया जाता है, उसी प्रकार वे शरीर चलाने के लिए रूखा-सूखा जो भी मिल जाता है, दे देते हैं। न वे उसे सर्दी या गर्मी से बचाने का अधिक प्रयत्न करते हैं, न अलकृत करके उसके सौन्दर्य को बढाना चाहते हैं और न ही उसे आराम पहुँचाने के लिए बिछाने अथवा ओढने के अधिक वस्त्रो की अपेक्षा रखते हैं। जो भी रूखा-सूखा किन्तु शुद्ध मिलता है, खा लेते हैं, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहनकर लज्जा का निवारण करते हैं तथा घास-फूस या तृणो पर रात्रि के कुछ घटे व्यतीत कर देते हैं।

हमारा आज का विषय 'तृण परिषह' को लेकर ही प्रारम्भ हुआ था किन्तु प्रसगवश मैंने काफी बातें आपको बता दी हैं। सत सभी परिषहो को पूर्ण समभाव पूर्वक सहन करते है और उनके उपस्थित होने पर किंचित् भी खेद-खिन्न नही होते। उलटे उन्हे सहन करने मे आतरिक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। उनका अत करण सासारिक सुखो और उनके साधनो की ओर से पूर्णतया रूक्ष हो जाता है, जिसका उल्लेख 'लूहस्स' शब्द के द्वारा किया गया है।

वस्तुत सत-मुनिराज ससार ही मे रहते है, आहार-जल लेते हैं तथा आप सबके साथ प्रेम से बोलते हैं, किन्तु उनका अन्त करण रूखा रहता है। इसका कारण यही है कि न उनका शरीर पर ममत्व होता है और न ही ससार के अन्य किसी भी पदार्थ पर। वे केवल अपनी आत्मा को कर्म-रहित बनाने की आकाक्षा रखते हैं, उसके उपयुक्त साधना करते हैं और ससार के अन्य प्राणियो पर भी महान् करुणा-भाव रखते हुए मुक्ति के मार्ग का ज्ञान कराते है।

यही कारण है कि हमारे यहाँ गुरु का बडा भारी महत्व माना गया है। गुरु के अभाव मे मोक्ष का इच्छुक व्यक्ति चाहे दिन-रात परमात्मा का भजन करता रहे और उनके नाम की माला फेरता रहे, आत्मा का कल्याण नही कर सकता।

आदिपुराण मे गुरु की महिमा बताते हुए कहा गया है—

न बिना यानपात्रेण तरितु शक्यतेऽर्णव ।
नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽय भवार्णव ।।

अर्थात्—जिस प्रकार जहाज के बिना समुद्र को पार नही किया जा सकता, उसी प्रकार गुरु के मार्ग-दर्शन के बिना ससार-सागर का पार पाना बहुत कठिन है।

सच्चे गुरु मनुष्यो के अज्ञानाधकार को नष्ट करके उनके हृदय मे ज्ञान की ज्योति जलाते है तथा मलिन एव विकार युक्त भावनाओ के स्थान पर आत्मिक सद्गुणो की स्थापना करते हैं। वे ससार के भोगो से विरक्त होकर क्रोध, मान, माया एव लोभ के स्थान पर क्षमा, मृदुता, सरलता और निस्पृहता अगीकार करते हैं तथा अनादिकालीन आत्मिक कलुष को धोने के लिए सयम और सवर की आराधना करते है तथा अपने ससर्ग मे आने वाले प्रत्येक प्राणी को भी सवर की महत्ता समझा-कर उसे अपनाने की प्रेरणा देते हैं।

जो भव्य प्राणी भगवान की वाणी पर विश्वास रखते हुए सवर का मार्ग अपनाता है, वह अपनी इन्द्रियो पर पूर्ण सयम रखता हुआ शनै-शनै आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है तथा अपने मानव-जन्म को सफल बना जाता है।

५।२० | पास हासिल कर शिवपुर का

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

सवर तत्व के सत्तावन भेदो मे से पच्चीसवें भेद 'तृण परिषह' को लेकर उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्याय की चौतीसवी गाथा पर कल से विवेचन चल रहा ।

गाथा के पहले चरण मे 'अचेलगस्स' और 'लूहस्स' शब्द आए हैं । उनके विषय मे कल बताया गया था । आज उसी गाथा मे आगे 'सजयस्स' शब्द आता है और हमे उसके विषय मे विचार करना है । 'सजयस्स' का सस्कृत मे 'सयतस्य' हो जाता है । यत यानी प्रयत्न करना और सयत यानी भली प्रकार मे मोक्ष-मार्ग की ओर गमन के लिये कटिबद्ध हो जाना । यत से पहिले जो 'स' अक्षर आया है वह रोकने का कार्य करता है । भगवान ने बाईस परिषहो को सहन करने का आदेश दिया है । पर इन्हे वही सहन कर सकता है जो सयत रहे । साधु को सयति कहा जाता है इसका यही कारण है कि वे सम्पूर्ण परिषहो को सहन करते हैं । अपने मन, वचन एव शरीर को पूर्ण रूप से नियन्त्रण मे रखते हुए दृढता से साधना पथ पर अग्रसर होते हैं ।

सयति कैसे बना जाय ?

सयति बनना या सयम से रहना जीवन को सफल बनाने के लिये आवश्यक है । सयम के अभाव मे हमारा मन एव सम्पूर्ण इन्द्रियाँ बेकाबू हो जाती हैं । परिणाम यह होता है कि वे सासारिक विषयो मे अधिकाधिक गृद्ध होती जाती हैं और कर्मो का भार बढता चला जाता है । कर्मों का बढना ससार को बढाना है और इस प्रकार आत्मा अनन्त काल तक जन्म मरण से मुक्त नही हो पाती ।

'विवेक चूडामणि' मे कहा गया है—

> शब्दादिभि पञ्चभिरेव पञ्च,
> पञ्चत्वमापु स्वगुणेन बद्धा ।
> कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग मीन—
> भृङ्गा नर. पञ्चभि रञ्चित किम् ।

अर्थात्—मृग, हाथी, पतग मछली और भ्रमर, शब्दादि एक-एक इन्द्रिय के वश मे होकर भी मृत्यु को प्राप्त होते हैं तो फिर पांचो इन्द्रियो के विषयो मे जकडा हुआ मनुष्य कैसे वच सकता है ?

वास्तव मे ही इन्द्रियो का आकर्षण बडा प्रवल होता है। अपने आपको इनसे वचाना वडे साहस, शक्ति और त्याग पर निर्भर है। श्रीमद्भागवत मे तो कहा है—

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्त्यपि यतेर्मन ।

अर्थात्—इन्द्रियां अत्यन्त तग करने वाली होती हैं और दाव लग जाने पर यति अथवा सन्यासी के मन को भी विचलित कर देती हैं।

महर्षि विश्वामित्र के विषय मे आपने पढा या सुना ही होगा कि वे घोर तपस्वी थे किन्तु मेनका नामक अप्सरा जब स्वर्ग से उन्हे विचलित करने आई तो उसके रूप एव हाव-भाव पर मोहित होकर वे अपनी साधना भग कर बैठे और मेनका से ससर्ग करने पर उनके कन्या हुई जिसका नाम शकुन्तला था।

इसी प्रकार हमारे यहाँ ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की कथा भी आती है। पूर्व जन्म मे वे दो भाई थे—चित्त एव सभूति। दोनो ने सयम का मार्ग अपनाया था और दृढ साधना करके तेजोलेश्या की सिद्धि भी हासिल कर ली थी।

किन्तु एक वार एक चक्रवर्ती राजा अपनी रानी सहित उनके दर्शनार्थ आए और सभूति उनकी रानी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये। उनके हृदय मे प्रवल इच्छा हो गई कि मैं भी चक्रवर्ती राजा वनूं और इस रानी के जैसी ही सुन्दर पत्नी पाकर काम-भोगो का आनन्द हासिल करूँ।

अपनी इस प्रवल कामना के वश मे होकर उन्होने सथारे (समाधि) से पूर्व यही 'नियाणा' कर लिया कि मेरी तपस्या और साधना का फल मुझे मिले तो मैं अगले जन्म मे चक्रवर्ती राजा वनूं।

हुआ भी ऐसा ही। चित्त और सभूति दोनो मुनि अगले जन्म मे भी मनुष्य पर्याय मे आए। चित्त श्रेष्ठि पुत्र वना, पर उसने पुन सयम ग्रहण कर लिया। आप सोचेंगे कि जव चित्त ने मुनि वनकर उत्कृष्ट साधना की थी और अपनी साधना को कही भी खडित नही होने दिया था तो पुन जन्म लेने की क्या आवश्यकता थी ?

वन्धुओ, इस विषय मे गम्भीरता से विचार करना चाहिए। आप देखते हैं कि आज वडे-वडे वैज्ञानिक वर्षों तक अनुसधान करते हैं, कठिन श्रम करते हैं तव जाकर उन्हे अपने किसी आविष्कार मे सफलता मिलती है। इतना ही नही, अनेक वार एक वैज्ञानिक जिस आविष्कार की सफलता के लिये प्रयत्न करता है वह अपने

जीवन मे उसे पूरा नही कर पाता और उसके मरने पर दूसरा, तीसरा और इसी प्रकार कई बुद्धिशाली वैज्ञानिक अपने सम्पूर्ण जीवन को एक ही खोज मे समाप्त कर देते हैं। एक का स्थान दूसरा लेता है, दूसरे का तीसरा और इसी प्रकार क्रम चलता रहता है। आज कई राष्ट्र चन्द्रलोक तक अपने रॉकेट आदि भेज रहे हैं, नित नए ऐसे वमो का आविष्कार कर रहे हैं जो अत्यल्प काल मे ही अनेक नगरो को वीरान वनाने की सामर्थ्य रखते हैं। पर ये सव सफलताएँ क्या किसी एक व्यक्ति के जीवन काल मे मिल सकी है ? नही। वर्षों प्रयत्न करने पर और अनेको व्यक्तियो के जीवन समाप्त हो जाने पर आज ऐसे वडे-वडे आविष्कार राष्ट्र कर पाए हैं।

मेरा आशय कहने का यही है कि जब भौतिक सफलताओ की सिद्धि मे भी वर्षो लग जाते हैं और अनेक व्यक्तियो की जिन्दगियाँ उनमे क्रमश समाप्त हो जाती हैं तो फिर मोक्ष जैसी सिद्धि को हासिल करने मे कई जन्म लग जाएँ तो क्या वडी वात है ? भगवान महावीर ने स्वय सत्ताईस जन्मो तक प्रयत्न किया, और तव कही जाकर उन्हे अपने लक्ष्य की प्राप्ति हुई।

वृहत्कल्प भाष्य मे कहा गया है—

जहा जहा अप्पतरो से जोगो,
तहा तहा अप्पतरो से बन्धो।
निरुद्धजोगस्स व से ण होति,
अछिद्द पोतस्स व अवुणाघे।।

अर्थात्—जैसे-जैसे मन, वचन और काया के योग अल्पतर होते जाते हैं, वैसे-वैसे वन्ध भी अल्पतर होता जाता है। योगचक्र का पूर्णत निरोध होने पर आत्मा मे वन्ध का सर्वथा अभाव होता जाता है। जैसे कि समुद्र मे रहे हुए छिद्र रहित जहाज मे जल का आगमन नही होता।

आशा है आप समझ गए होंगे कि आत्मा का कर्मों से पूर्णतया मुक्त होना कितना कठिन है और इसके लिए मन, वचन एव शरीर पर कितना सयम रखना होता है। निविड कर्मों का वन्ध होने पर सवर के द्वारा नवीन कर्मों के आगमन को रोकना तथा उत्कृष्ट तप एव साधना के द्वारा पूर्व कर्मों की निर्जरा करना कितना कष्टसाध्य श्रम है और यह कितने जन्मो का परिश्रम माँगता है।

तो चित्त को भी आत्म-मुक्ति के इसी प्रयत्न मे अगले जन्म मे भी सयम लेना पडा। किन्तु उनके भाई सभूति ने तो अपनी साधना के वदले चक्रवर्ती राजा होने का निदान कर लिया था अत वे चक्रवर्ती राजा वने और ब्रह्मदत्त के नाम से जाने गये। इधर चित्त मुनि ने उग्र साधना की और जव अपने ज्ञान मे जाना कि मेरा पूर्व जन्म का भाई ब्रह्मदत्त राजा वनकर सासारिक भोगो मे निमग्न हो गया है तो उन्हे तरस

आया कि वह इन भोगो के परिणामस्वरूप घोर कर्म-बन्धन करके आत्मा का अहित करेगा। ऐसा विचार आने पर करुणा के वश उन्होंने ब्रह्मदत्त को जगाने का निश्चय किया तथा उसको नाना प्रकार से प्रबुद्ध करने की कोशिश की।

किन्तु परिणाम कुछ नही हुआ। ब्रह्मदत्त को अपने पूर्वजन्म के भाई की एक भी बात गम्य नही हुई और वह उसी प्रकार ससार के सुखो को भोगते हुए अन्त मे कुगति को प्राप्त हुआ।

एक भजन मे कहा भी है—

'चित्त कही ब्रह्मदत्त नहीं मानी,
नरक गयो भोगा मे राची।'

बन्धुओ, ब्रह्मदत्त को नरक मे केवल इसीलिये जाना पडा कि उसने अपने मन एव इन्द्रियो पर सयम नहीं रखा। पूर्वजन्म मे मुनि बनकर उग्र साधना की पर चक्रवर्ती की रानी को देखकर काम-भोगो की कामना की और फिर अगले जन्म मे भी अपने भाई के द्वारा अनेक प्रकार से समझाये जाने पर भी नही समझा। परिणाम जो हुआ वह आप सुन ही चुके हैं।

हीरे के बदले ककर लेना मूर्खता है

यहाँ एक बात और ध्यान मे रखने की है कि प्रत्येक साधक को नि स्वार्थ-भाव मे साधना करनी चाहिये। अपनी साधना के फलस्वरूप कुछ भी पाने की लालसा अगर साधक मन मे रखता है तो समझना चाहिये कि कोडी के मोल पर वह हीरा दे रहा है। सम्भवत. आप इस बात को नही समझे होंगे। मेरा आशय यह है कि त्याग, व्रत, तप एव साधना का महत्व इतना ऊँचा होता है कि उत्कृष्ट भाव आ जाये तो आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त भी हो सकती है। किन्तु ऐसी उत्कृष्ट साधना के बदले अगर कोई साधक कुबेर जितना धन पा लेने की, चक्रवर्ती बन जाने की अथवा स्वर्ग मे देवता हो जाने की कामना करता है तथा उसके लिये निदान कर लेता है तो उसकी सम्यक् साधना का जो महान फल प्राप्त होने वाला होता है वह मारा जाता है।

हमारी बहनें अगर अठाई का तप करती हैं तो गाती हैं—

अठाई कियां रो काई फल होसी ?
अन्न होसी, धन होसी, पूता रो परिवार होसी।

अब आप देखिये कि जिस तपस्या से उनके असख्य कर्मों की निर्जरा होने वाली होती है, उस तपस्या के फलस्वरूप वे क्या मांगती हैं ? अन्न, धन और पुत्र-

पौत्र आदि। पर इन सबकी प्राप्ति से उन्हे क्या लाभ होता है? केवल असख्य कर्मो का और भी बन्धन होता। फिर ऐसी अज्ञान तपस्या से क्या फायदा है?

चित्त मुनि को भी अपने दृढ सयम और उत्कृष्ट साधना से न जाने कितना सुन्दर फल मिलता किन्तु उन्होंने अपनी सम्पूर्ण साधना के बदले चक्रवर्ती राजा होने का निदान किया तथा राजा होकर भोग-विलास के कारण इतने पाप-कर्मो का उपार्जन कर लिया कि फिर नरक में जाना पडा।

इसीलिये कहा गया है—

नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा।

—दशवैकालिक सूत्र ६-४

तपस्या केवल कर्म-निर्जरा के लिये करना चाहिये। इहलोक-परलोक तथा यश-कीर्ति के लिये नही।

जो भव्य प्राणी इस बात को भलीभाँति समझ लेते हैं उनका चित्त शात, पवित्र एव निस्वार्थ भावनाओ से परिपूर्ण रहता है तथा वे अपने मन, वचन और शरीर, इन तीनो योगो को सयमित रखते हैं। अगर वे ऐसा न करें तथा मन व इन्द्रियो को मनमानी करने दें तो फिर भविष्य के लिये क्या अर्जन कर सकेंगे? कुछ भी नही।

नफे का व्यापार करना है, घाटे का नहीं

आप गृहस्थ हैं और भलीभाति जानते हैं कि व्यवसाय मे पहले पूँजी लगाई जाती है और उसमे नफा मिलता है। आप उस नफे के द्वारा ही अपने घर का खर्च चलाते हैं तथा इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि आमदनी से अधिक खर्च न हो जाय। अगर आमदनी से अधिक खर्च करेंगे तो धीरे-धीरे मूल पूँजी समाप्त हो जाएगी और आप कोरे के कोरे रह जाएँगे, पेट भरना भी कठिन हो जाएगा। इसलिये बडी सतर्कतापूर्वक आप मूल पूँजी को सुरक्षित रखते हुए इसी प्रयत्न मे रहते हैं कि घर का खर्च चलता रहे, ऊपर से दो पैसे बच भी जायँ और अगर किसी का कर्ज लिया हुआ हो तो वह भी अदा किया जा सके।

ठीक यही हिसाब आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी होना चाहिए। प्रत्येक आत्मार्थी को यह विचार करना चाहिये कि हम पापरूपी कर्ज और पुण्य रूपी पूँजी साथ मे लेकर इस मनुष्य योनि मे आए हैं। यद्यपि पाप-रूपी कर्ज हमे तब तक दिखाई नही देता, जब तक धनाभाव, शारीरिक रोग या अन्य सकटो के रूप मे उनका सामना नही होता। किन्तु मानव जन्म, उच्च कुल, उच्च जाति, उच्च धर्म एव सद्गुरु आदि के सयोग के रूप मे पुण्य की प्राप्ति का पता चल जाता है।

इसलिये इन सब पुण्य-सयोगों को पूंजी मानकर हमे चाहिये कि इसके द्वारा शुभ-कर्मों का सचय नफे के रूप मे करें तथा तप एव त्याग से पूर्व-उपार्जित पाप-कर्मों के कर्ज को भी अदा करते चले। अगर हमने ऐसा नही किया यानी पुण्य रूपी पूंजी को केवल सासारिक सुखोपभोगो मे समाप्त कर दिया और त्याग, तप, साधना एव सयम के अभाव मे पूर्व कर्मों की निर्जरा नही की यानी उस कर्ज को नहीं चुकाया तो फिर क्या होगा ? पुण्य-रूपी पूंजी नष्ट हो जाएगी, भविष्य के लिये शुभ-कर्म रूपी दो पैसो का सग्रह नही होगा तथा पहले का पाप रूपी कर्ज भी ज्यो का त्यो बना रहेगा। ऐसी स्थिति मे आगे क्या होगा इसका अन्दाज आप स्वय ही लगा सकते हैं। बिना पूंजी के और बिना कुछ सचय किये आप अपनी मजिल तक किस प्रकार पहुँच सकते हैं ? फिर तो यही ससार है और इसी मे इतस्तत: भटकते रहना है।

इसीलिये बन्धुओ, हमे घाटे का व्यापार नही करना है। बरन हर हालत मे नफे के विषय मे सोचना है। और नफा तभी मिल सकेगा जबकि अपने मन, वचन एव शरीर, इन तीनो योगो को हम नियन्त्रण मे रखकर आत्मा की शक्ति को निरर्थक नही जाने देंगे। हमारी आत्मा मे तो अनन्त शक्ति है और चाहने पर इसके द्वारा हम सम्पूर्ण पूर्वोपार्जित कर्म-रूपी कर्ज को चुकाकर नफे के रूप मे मोक्ष हासिल कर सकते है। किन्तु इसके लिये चाहिये केवल सयम। मन एव इन्द्रियो पर सयम रखे बिना केवल ऐसी चाह रखना आकाश के तारे तोडने की इच्छा के समान निरर्थक है।

सयति या साधु आत्मा की शक्ति को पहचान लेते हैं और इसीलिए अपने तीनो योगो पर पूरा सयम रखते हैं। साधु अत्यन्त कम और सीमित वस्त्र रखते हैं। वह क्यो ? क्या श्रावक उन्हे वस्त्र नही देना चाहते ? नही, श्रावक तो साधु के समक्ष वस्त्रो का अबार लगा सकते हैं, पर साधु स्वय ही लेना नही चाहते। अपनी लज्जा ढकने के अलावा अधिक वस्त्र रखने को वे परिग्रह मानते हैं और फिर व्यर्थ का बोझा उठायें क्यो ?

इसी प्रकार आहार के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है। आप गृहस्थ है और आपका अपना एक-एक घर है फिर भी आप अच्छे से अच्छा भोजन करते हैं। किन्तु साधु के लिए तो अनेक घर हैं। वह चाहे तो नीरस भोज्य-पदार्थो वाले घरो को छोड कर अन्य अनेक घरो से मेवा, मिष्टान्न और सरस से सरस भोज्य-पदार्थ ला सकते हैं। श्रावक अच्छी से अच्छी वस्तु साधु को बहराने के लिए उत्सुक रहते हैं। किन्तु साधु क्या ऐसी भावना मन मे रखते है ? नही, वे मेवे-मिष्टान्न को शरीर मे प्रमाद एव आलस्य लाने वाली हेय वस्तुएँ मानते हैं। वे केवल इतना ही ध्यान रखते हैं कि शरीर को चलाने के लिए कुछ न कुछ उदर मे डालना है। जीभ के स्वाद की उन्हे परवाह नहीं होती। अनेक सत-सती तो समस्त खाद्य-पदार्थों को एक ही पात्र मे लेकर एक

द्रव्य के रूप मे ग्लानि रहित होकर ग्रहण करते हैं। साथ ही उसे भी ठूंस-ठूंस कर पेट मे नही भरते, ऊनोदरी तप का भाव मन मे रखते हुए अल्पाहार करते हैं। अल्पाहार साधना मे सहायक बनता है। इस विषय मे कहा भी है—

अप्पाहारस्स न इंदियाइ विसएसु सपत्तन्ति।
नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि॥

—बृहत्कल्प भाष्य-१३३१

अर्थात्—जो अल्पाहारी होता है, उसकी इन्द्रियाँ विषय-भोग की ओर नही दौडती। तप का समय आने पर भी वह क्लात नही होता और न ही सरस भोजन मे आसक्त होता है।

इस प्रकार मुनि अपनी इन्द्रियो पर सयम रखने के लिए शुद्ध, चाहे वह रूखा-सूखा और नीरस हो, ऐसा अल्पाहार लेते हैं, परिग्रह तनिक भी न बढे इस दृष्टि से कम से कम वस्त्र रखते हैं तथा वस्त्रो के अभाव मे घास-फूस एव तृणादि पर सोकर उनके चुभने से होने वाली पीडा को पूर्ण शान्ति एव समभाव रखते हुए सहन करते हैं तथा अत्यधिक शीत एव ग्रीष्म से तनिक भी न घबराते हुए अपनी साधना समीचीन रूप से दृढ बनाते चलते हैं और यह सब तभी होता है, जबकि वे अपनी इन्द्रियो पर सयम रखते हैं तथा मन को पूर्ण रूप से काबू मे किये रहते हैं। सयति अर्थात् सयमी के यही लक्षण हैं। वह अपनी पुण्य रूपी पूंजी और आत्मिक शक्ति को इन्द्रियो की तृप्ति मे व्यर्थ खर्च नही करता अपितु उसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना मे लगाकर अनेक गुना नफा हासिल करता है।

एक कवि ने इसी विषय को लेकर अपने एक भजन मे कहा है—

क्या हटडी रहा खोला, वनज कुछ करले उस घर का।
मन दाण्डी को ठीक सुधाले, तन के मोल पालडे पाले।
धर्म जिनस नित तोल, खौफ दिल मे रख दिलवर का।

कवि चेतावनी देता हुआ कह रहा है—

"अरे मानव! तू इस ससार के बाजार मे सासारिक पदार्थों का ही व्यापार क्या कर रहा है? इस हाट मे खुली हुई दुकान से कमाया हुआ धन आगे चलकर तेरे क्या काम आयगा?"

"इसलिए व्यापार ही करना है तो कुछ उस घर यानी परलोक के लिए भी तो कर ले! अनीति, अधर्म और बेईमानी से कमाया हुआ जड द्रव्य तो यही पडा रह जायगा, केवल उसके द्वारा उपार्जित अशुभ कर्म ही आत्मा के साथ रहेगे। पर वे उलटे कुगति मे ले जाकर कष्ट पहुँचायेंगे।"

कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य चाहे साधु बन जाय या गृहस्थावस्था मे रहे, वह अपनी प्रत्येक क्रिया धर्ममय बनाये रखे। मैं यह नही कहता कि आप सब साधु बन जायँ। मैं तो केवल यह कहता हूँ कि आप व्यापारी हैं, व्यापार करना आपके लिए आवश्यक भी है। पर आपको इतना अवश्य करना चाहिए कि झूठ बोल कर, बेईमानी करके अथवा अनीति से अर्थ का उपार्जन न करें। ऐसी बात तो है नही कि ऐसा किये बिना आपका व्यापार चल ही नही सकता। अरे भाई! आपको जिस वस्तु मे दो पैसे का नफा लेना है तो स्पष्ट कहो कि हमे दो पैसे का ही लाभ है अत इससे कम नहीं ले सकता। पर दो पैसे का नफा कहकर आप ग्राहक मे चार पैसे क्यो वसूल करते हैं? यह तो झूठ बोलकर दो पैसे अधिक लेना हुआ। अगर आप झूठ न बोलें और दो पैसे ही एक पदार्थ के नफे के रूप मे लें तो क्या होगा? यही तो कि आपको नफा कुछ कम होगा। सत्य बोलकर आप घाटे मे तो नही रहेगे? तो सच बोलने से भले ही आपकी आमदनी कुछ कम हो जाय, पर आपकी आत्मा तो शान्ति का अनुभव करेगी। इसके अलावा अनीति से अधिकाधिक धन कमाकर भी आप क्या करेंगे? आप खायेंगे उतना ही जितना पेट मे समायेगा और पहनेंगे भी इतना ही जितने से लज्जा ढक जाय। उससे अधिक जो पैसा बचेगा वह बैंको मे पडा रहेगा, या आभूषणो के रूप मे सेठानियो की पेटियो मे रहेगा पर उससे आपको क्या लाभ होगा? जिस दिन इस ससार से विदा होगे, सब यही वैसा ही पडा रह जायगा।

तो बधुओ! सत्य एव नीति से थोडा कमाकर भी आप आनन्द से पेट भर सकते हैं तथा अपनी जरूरतें पूरी कर सकते है। पेटियाँ भरने से कोई लाभ नहीं है। वे तो यही भरी रह जायेंगी और आत्मा उस अनीति एव असत्य के कारण कर्मों का भार लाद चलेगी। इससे अच्छा तो यही है कि अन्याय, असत्य और अनीति का त्याग करके यहाँ भी हम हलके रहे और परलोक मे जाने वाली आत्मा भी हलकी रहकर ऊँचाई की ओर बढे। धर्ममय व्यापार करके थोडा नफा होने पर व्यक्ति को कोई हानि नही है, किन्तु अधर्म पूर्वक अधिक धन सग्रह करने से बडी हानि होती है।

मैंने अभी आपको बताया है कि व्यापार करने के लिए अधर्म का सहारा लेना तनिक भी आवश्यक नही है। अगर व्यक्ति चाहे तो बडे-बडे साम्राज्यो का सचालन भी धर्मपूर्वक कर सकता है। एक उदाहरण से आप इस बात को भली-भाँति समझ लेंगे।

पापोपार्जित धन नहीं चाहिए

कहा जाता है कि एक बार महर्षि अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा ने अपने पति से कहा—"मुझे कुछ गहने बनवा दीजिये।"

ऋषि अपनी पत्नी की यह बात सुनकर चकित रह गये, क्योकि अभी तक कभी भी उसने आभूषणो की इच्छा प्रगट नही की थी।

वे बडे आश्चर्य से बोले—"देवी ! आज यह विचित्र इच्छा कैसी ? जीवन मे अभी तक तो तुमने कभी गहनो की चाह की नही, पर अब इस कामना का क्या कारण है ?"

लोपामुद्रा बोली—"यह ठीक है कि मैंने अभी तक कभी आभूषण नही पहने, पर मेरी सहेलियाँ मुझे सदा ही इस अभाव के लिए ताने देती रहती हैं, अत मैं भी आभूषण पहनकर उनके व्यग-बाणो से बचना चाहती हूँ ।"

महर्षि पत्नी की स्त्रियोचित भावना को समझ गये पर बोले—"देखो, मैं तुम्हारे लिए आभूषणो का प्रबन्ध करने जाता हूँ । किन्तु एक शर्त है, वह यही कि मैं अन्याय अथवा अधर्म से उपार्जित धन को प्राप्त करके तुम्हारे लिए आभूषण नही लाऊँगा । अगर कही धर्म एव नीति से अर्जित धन मिल गया तो ही तुम्हारे लिए आभूषण ला सकूँगा ।" पत्नी ने इस बात को सहर्ष स्वीकार कर लिया ।

अब अगस्त्य ऋषि ने सोचा कि सर्वप्रथम अपने भक्त राजा श्रुतर्वा के यहाँ चला जाय, सम्भवत उसके यहाँ मेरी अभीष्ट-सिद्धि हो जायगी । यह विचार कर वे राजा श्रुतर्वा के राज्य मे जा पहुँचे ।

राजा ने महर्षि को ज्यो ही देखा, उसका हृदय अपार हर्ष से गद्‌गद् हो गया। अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा से उसने ऋषि का स्वागत-सत्कार किया तथा उनके आने का उद्देश्य पूछा । ऋषि ने सहज भाव से अपने आने का उद्देश्य बता दिया पर साथ ही यह भी कह दिया—

"राजन् ! मैं केवल वही धन स्वीकार करूँगा, जो तुमने धर्मपूर्वक अपनी प्रजा के हित को ध्यान मे रखते हुए अर्जित किया हो तथा उचित कार्यों मे व्यय करने के बाद बचा हो ।"

राजा ने महर्षि अगस्त्य की बात को गम्भीरतापूर्वक सुना और तब उनसे प्रार्थना की—"भगवन् ! आप स्वय ही राज्य के कोषाध्यक्ष से आय-व्यय का हिसाब समझ ले तथा आपके योग्य अर्थ हो तो स्वीकार करें ।"

ऋषि ने ऐसा ही किया और स्वय जाकर कोष का हिसाब देखा । पर उसे देखने पर मालूम हुआ कि यद्यपि कोष का समस्त धन धर्म एव न्यायोपार्जित है किन्तु आवश्यक कार्यों मे व्यय करने के पश्चात उसमे बचत कुछ नही है । जमा और खर्च समान है ।

ऐसी स्थिति मे महर्षि को धन प्राप्त नही हो सका किन्तु अपने शिष्य राजा श्रुतर्वा की सत्य, न्याय एव धर्ममय वृत्ति को देखकर उन्हे अपार हर्ष हुआ और उसकी सराहना करते हुए वे दूसरे शिष्य राजा धनस्व के यहाँ पहुँचे ।

राजा धनस्व से भी ऋषि ने अपने आने का उद्देश्य और उसके साथ जुडी हुई शर्त बताई। किन्तु धनस्व भी तो अगस्त्य का शिष्य था। उसके राज्य कोष का भी वही हाल था। हिसाब देखने पर स्पष्ट ज्ञात हो गया कि श्रुतर्वा के समान यहाँ भी कोष मे आया हुआ धन न्यायोपार्जित है और आवश्यकता के जितना ही है, अधिक नही।

महर्षि को यहाँ भी अपने उद्देश्य मे सफलता नही मिली किन्तु अपने शिष्य से उन्हे जैसी आशा थी, वह पूर्ण होने से असीम प्रसन्नता हासिल हुई। अपने शिष्य के लिए महान गौरव का अनुभव करते हुए वे इसी प्रकार अपने और भी कई शिष्यो के पास गये किन्तु सभी के यहाँ उन्होंने धन का सन्तुलन व्यवस्थित एव सतोषजनक पाया। इस बात पर उन्हे बडी खुशी हुई कि उनके सब शिष्य नीति के मार्ग पर चल रहे हैं।

किन्तु उन्हे तनिक क्षोभ भी इस बात का था कि वे अपनी पत्नी की इच्छा पूरी नही कर पाए हैं। मन ही मन दुखी होते हुए वे घर की ओर आ रहे थे कि मार्ग मे उन्हे इल्वण नामक दैत्य मिल गया। इल्वण ने भी ऋषि को चिन्तातुर देख-कर कारण पूछा और ऋषि ने अपनी चिंता का हाल बता दिया।

इल्वण महर्षि की बात सुनकर बोला—"महाराज! आप चिंता क्यो कर रहे हैं? मेरे पास अपार धन है और उसमे से आप जितना चाहे ले सकते हैं।"

अगस्त्य ऋषि इल्वण के महल मे भी गये। किन्तु अपनी शर्त उन्होंने वहाँ भी नही छोडी और इल्वण के यहाँ का हिसाब-किताब देखने लगे। पर उसे देखने पर ज्ञात हुआ कि इल्वण का सारा धन अन्याय, क्रूरता एव अनीति से पैदा किया गया है, इसके अलावा उसे कभी उत्तम कार्यों मे खर्च नही किया गया है। इसलिए वह बढकर बडी भारी राशि बन गया है।

यह देखकर महर्षि ने सोचा—"इस पापोपार्जित धन से पत्नी के लिए आभूषण बनवाना उचित नही है और अगर ऐसा किया भी तो उसके लिये हितकर नही होगा।"

यह विचार कर उन्होने इल्वण का एक पैसा भी नही लिया और खाली हाथ अपने आश्रम मे लौट आए। ऋषिपत्नी लोपामुद्रा ने जब पति को खाली हाथ आते देखा तो उसका चेहरा गहरी उदासी और निराशा से भर गया।

इस पर महर्षि ने पत्नी को समझाते हुए कहा—"देवी! मैंने तुम्हारे आभू-षणो के लिए धन प्राप्त करने की बहुत कोशिश की किन्तु सफलता नही मिल सकी। इसका कारण यही है कि जो व्यक्ति धर्मपूर्वक कमाई करते हैं तथा उदारतापूर्वक

उसका व्यय करते हैं उनके पास धन का सग्रह हो नही पाता और जो कृपण अथवा परिग्रही पुरुष अनीति एव अधर्म की कमाई करते हैं, उनके पास धन तो विपुल होता है, किन्तु उसे लेना हमारे लिए उचित नही है।"

"अनीतिपूर्वक कमाये हुए धन का उपयोग करने से हमारे आदर्श नष्ट होते हैं, वुद्धि मे विकार आ सकते हैं तथा हमारी साधना अशुद्ध हो जाती है, उसमे दृढता एव निस्वार्थता नही रहती। अनीति द्वारा उपार्जित अपवित्र धन के द्वारा आभूषण वनवाकर पहनने से तुम्हारा कभी कल्याण नही हो सकता। इसके अलावा तुम्हारे सद्गुण और शील ही तुम्हे सुन्दर वनाए हुए हैं, फिर अन्य आभूषणो की आवश्यकता ही क्या है ?"

साध्वी लोपामुद्रा ने पति की वात समझ ली तथा अपने आभूषण-प्रेम के लिए लज्जित हुई। वह यह भी समझ गई कि उसके पति अगस्त्य लक्ष्मी को तनिक भी नही चाहते और उसकी छाया से भी दूर रहने का प्रयत्न करते हैं।

सम्भवत इसीलिए आचार्य चाणक्य ने अपने एक सुन्दर श्लोक मे लक्ष्मी का कथन चित्रित किया है। श्लोक इस प्रकार है—

> पीतोऽगस्त्येन तातश्चरणतल हतो वल्लभोऽन्येन रोषाद्,
> आवाल्याद्विप्रवर्य. स्ववदनविवरे धार्यते वैरिणी मे।
> गेह मे छेदयन्ति प्रतिदिवसमुमाकान्तपूजा-निमित्त,
> तस्मात्खिन्ना सदैव द्विजकुलनिलय नाथ ! नित्य त्यजामि ॥

चाणक्य ने वडे मनोरजक तरीके से लक्ष्मी की वात कही है, यानी यह वताया है कि लक्ष्मी झुझलाकर कह रही है—अगस्त्य ऋषि ने रुष्ट होकर मेरे पिता समुद्र को पी डाला, भृगु ऋषि ने क्रोध के मारे मेरे पति विष्णु को लात मारी तथा वाल्यवय से ही ब्राह्मण मेरी दुश्मन सरस्वती को मुख मे धारण करते हैं और उमापति शिव की पूजा के लिए मेरे गृह कमल को नित्य तोड लेते है—वस, इन्ही कारणो से मैं ब्राह्मण कुल से सदैव दूर रहती हूँ।

वधुओ, यह तो एक रूपक है जो मैंने आपके समक्ष रखा है, किन्तु इसका भाव यही है कि ऋषि, महात्मा, सन्यासी, साधु एव सरस्वती के उपासक ज्ञानी पुरुष सदा लक्ष्मी से दूर ही रहना चाहते हैं क्योंकि लक्ष्मी यानी धन महा अनर्थो का मूल है और अगर इसके साथ कृपणता, लोभ, आसक्ति और अनीति भी जुड गई तो फिर कहना ही क्या है।

इसीलिये हिन्दी के कवि ने मानव से कहा है कि तू इस भौतिक धन के सग्रह मे क्यो जुटा हुआ है ? अगर व्यापार ही करना है तो ऐसा धर्ममय व्यापार कर कि उससे प्राप्त हुआ लाभ तेरे अगले घर मे भी साथ ले जाया जा सके।

पर आप मानते कहाँ हैं ? हाँ, मजबूरी की वात और है। साधु-सत तो आपसे सदा कहते आए हैं कि "किसी को कम न तोलो और ज्यादा मत लो", लेकिन आप लोगो के देने और लेने के वाट अलग-अलग वने रहे। किन्तु सरकार ने जब एक ही वाट कर दिया कि इसी से दो और इसी से लो, अन्यथा दण्ड के भागी वनोगे तो आपको ऐसा करना पडा। ऊपर से जब तब आकर इन्सपेक्टर आपके वाटो की जाँच और कर लेता है। अत आप दो प्रकार के वाट रखना भूल गए।

इसी प्रकार हम कहते रहे कि कम से कम पर्वाधिराज पर्यूषण के आठ दिनो मे व्यापार वद रखो, और आठ दिन नही तो प्रारम्भ के एक दिन और अन्त के एक दिन सवत्सरी पर्व पर यानी केवल दो दिन ही दुकानें वन्द रखकर धर्माराधन किया करो। पर आपमे से अधिकाश इस वात को भी नही मानते। कभी-कभी लोक-लज्जा से वद रखी भी तो पीछे के दरवाजे से या चुपके से अपना काम चाल रखते हैं।

किन्तु जब सरकार ने कानून वना दिया कि सप्ताह मे एक दिन दुकान वन्द रखनी होगी तो मजवूरन सप्ताह मे एक दिन यानी वर्षभर मे वावन दिन दुकान वन्द करते हैं या नही ? इससे तो सतो की ही वात मान लेते तो क्या हर्ज था ? पर वह आपको गम्य नही हुआ, क्योंकि स्वेच्छा से करना था। वैसे अगर वीमार पड जाये तो फिर भले ही एक महीने या उससे भी अधिक दुकान वद रह जाएगी। स्पष्ट है कि पराधीन होने पर आप ऐसा कर सकते हैं किन्तु स्वेच्छा से नही।

विचार करने की वात है कि आपने अव अपने तौल के वाट एक ही रखे और प्रति सप्ताह दुकानें भी वद रखनी प्रारम्भ कर दी, किंतु अगर उत्तम भावना और इच्छापूर्वक ऐसा किया होता तो वात ही दूसरी थी। उदाहरणस्वरूप—एक व्यक्ति विपुल धन सग्रह कर लेता है किंतु अभावग्रस्त व्यक्तियो के प्रति करुणा का भाव रखते हुए एक पैसा भी दान मे नहीं देता। पर सयोगवश अगर डाकू आकर सारा धन लूट ले जाते हैं तो वन्दूक के डर से उन्हे देना पडता है और मिनटो मे निकालकर वह दे देता है। किन्तु दान देने और डाकुओ को देने मे कितना अन्तर होता है ? त्याग वही कहलाता हे जो इच्छापूर्वक किया जाय। कभी-कभी तो अकाल आदि की स्थिति मे लोगो के दीनतापूर्वक याचना करने पर भी सेठ लोग उन्हे पेट भरने के लिए कुछ अन्न नहीं देते, किन्तु वे ही लोग भूख सहन न कर सकने पर मिलकर छापा मार देते हैं और अन्न के गोदाम पूरे के पूरे ही गाठे वाँध-वाँधकर ले जाते हैं। पर वह अन्न का जाना उन सेठो के लिए दान नहीं कहला सकता और उससे उनके शुभ-कर्मो का वध नही हो सकता।

कहने का अभिप्राय यही है कि त्याग स्वेच्छा से किया जाता है, मजवूर होकर दिये जाने को त्याग नही कहते। अपनी इच्छा से आप देना नही चाहते किन्तु इन्कम-

टैक्स, सैलटैक्स तथा इसी प्रकार जमीन, मकान आदि अनेक प्रकार के टैक्सो के रूप मे आप लाखो रुपया सरकार को दे देते हैं। क्योकि न देने पर वह कडाई से पेश आती है। इसका अर्थ यही है कि आप मधुरता से कही हुई बात को नहीं मानते, अपितु कडवी जबान से झुकते हैं।

पर बन्धुओ, कडाई और मजबूरी से त्याग करने पर आपका क्या लाभ हो सकेगा? कुछ भी नही। आपका भला तो तभी हो सकेगा जबकि आप भगवान के वचनो पर विश्वास करते हुए सत-महात्माओ एव ज्ञानी पुरुषो के मधुरता पूर्वक कहे गये उपदेशो को अमल मे लाएँगे।

कवि भी आपको मीठे शब्दो मे यही कह रहा है कि आप अगर उस घर के लिए अर्थात् परलोक के लिए कुछ कमाना चाहते हैं तो मन रूपी तखडी (तराजू) की डडी ठीक रखें। अर्थात्—मन का सन्तुलन बराबर बनाए रखें ताकि आपके व्यापार से अनीति, अन्याय एव अधर्म दूर रहे और आपकी मन रूपी डडी इनकी ओर न झुके। परिणाम यह होगा कि आपका शरीर और वचन जो दो पलडों के रूप में है, वह बराबर और सतुलित रहेगा।

अब विचार यह करना है कि इन पलडो के द्वारा क्या तौलना चाहिए? कवि का कथन है कि इनके द्वारा हमे धर्म रूपी वस्तु को तौलना है। यानी नव तत्व, छ काया, चौबीस दडक एव पच्चीस क्रियाओ का ज्ञान करना है। इनके बिना आत्मा का उत्थान नही होता और वह घोर कष्ट मे जा पडती है। इसलिए जिनेश्वर प्रभु की आज्ञा का उल्लघन न करते हुए हमे प्रतिक्षण आत्म-हित के व्यापार मे जुटा रहना है।

आगे कहा गया है—

> विषय पाँचो से दिल कर न्यारा, नफा तुझको देंगे प्यारा।
> ले पाँचो को जीत, पास हासिल कर शिवपुर का।

हमारे पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनके असयमित होने के कारण ही कर्म-बन्धन होता है, इसलिए इन पाँचो को अपने विषयो से अलग रखना है। ये इन्द्रियाँ बेकाबू होकर आत्मा को अत्यन्त हानि पहुँचाती हैं। नफा जरा भी नही होने देती। इसके अलावा यह भी आवश्यक नही है कि ये पाँचो मिलकर ही प्राणी का नुकसान करती हैं। इनमे से प्रत्येक ही इतनी जबर्दस्त है कि वह अकेली ही जीव को भारी नुकसान पहुँचा सकती है।

अभी इस विषय मे कहा भी है—

> "कुरग, मातग, पतग, भृगा, मीना हता' पंचभिरेव पच्च।"

अर्थात्—हरिण, हाथी, पतग, भ्रमर एव मछली, एक-एक इन्द्रिय के वश मे होकर ही प्राणनाश को प्राप्त होते हैं ।

हरिण श्रोत्रेन्द्रिय के विषय सगीत का रसिक है । अत गीत सुनकर इतना मुग्ध हो जाता है कि अपने पकडने वाले का ध्यान भी नही रख पाता और कैद कर लिया जाता है ।

हाथी को पकडने वाले व्यक्ति भी एक बडा भारी गड्ढा खोदकर मिट्टी आदि किसी पदार्थ से हथिनी का आकार बनाकर उसे गढे मे उतार देते हैं । और हाथी जब आता है तो स्पर्शेन्द्रिय के वश मे होकर हथिनी को पाने के लिए उसमे गिरकर पकड लिया जाता है ।

तीसरा जन्तु पतग है । इसके विषय मे आप सभी जानते हैं कि पतग चक्षु-इन्द्रिय के आकर्षण मे पडकर दीपक पर तब तक मडराता रहता है, जब तक कि जलकर भस्म नही हो जाता ।

अब आता है भृ ग । भृ ग यानी भ्रमर, जो कि लकडी मे भी छेद कर देने की शक्ति रखता है, किन्तु घ्राणेन्द्रिय पर काबू न रख पाने के कारण पुष्प मे कैद होकर समाप्त हो जाता है ।

इसी प्रकार मछली रसनेन्द्रिय के लालच मे पडकर प्राण गँवाती है । मच्छी-मार काँटे मे आटा लगाकर उसे जल मे डालते हैं और उस आटे का रसास्वादन करने के लिए मछली उसे मुह मे ले लेती है । परिणाम यह होता है कि काँटा उसके गले मे फँस जाता है और वह काँटे समेत बाहर निकाल ली जाती है । उसके पश्चात् उसका क्या हाल होता है यह आप सब भली भाँति जानते हैं ।

तो ये पाँचो प्राणी एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर भी जब इतनी हानि उठाते हैं तो फिर वह मनुष्य जो पाँचो इन्द्रियो के प्रबल आकर्षण मे पडकर इनके विषयो को भोगते हैं, उनकी आत्मा आगे जाकर कितनी वेदना भोगेगी इसकी कल्पना किस प्रकार की जा सकती है ? अर्थात् नही की जा सकती । आत्मा को अनन्त काल तक कष्ट उठाना पडता है ।

इसलिए बन्धुओ, अगर हमे अपना जीवन सफल बनाना है तथा अपनी आत्मा को भविष्य के अनन्त कष्टो से बचाते हुए उसे अपने शुद्ध स्वरूप मे लाना है तो मन एव इन्द्रियो पर सयम रखने का प्रयत्न करना पडेगा । साथ ही सद्‌गुणो का सचय, साहस एव उद्यम को अपने जीवन मे लाना पडेगा । कायर और उद्यम शून्य व्यक्ति कभी अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते और ऐसी स्थिति मे उनका मानव जन्म पाना न पाने के समान हो जाता है ।

सुभाषित रत्न भाडागार मे तो यहाँ तक कहा गया है—

> धिग् जीवित ज्ञातिपराजितस्य,
> धिग् जीवितं व्यर्थ मनोरथस्य।
> धिग् जीवितं शास्त्र-कलोज्झितस्य,
> धिग् जीवित चोद्यमवर्जितस्य ।।

यानी—जो अपने स्वजनो से पराजित हो चुका है, व्यर्थ सकल्प-विकल्पो मे उलझा रहने वाला है, शास्त्र एव कला से शून्य है और निरुद्यमी है—उन सभी का जीवन धिक्कार के योग्य है ।

इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक आत्म-मुक्ति का इच्छुक व्यक्ति अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रतिपल कटिवद्ध और जागरूक रहे। अगर उसके जीवन मे निष्क्रियता आ गई तो फिर मुक्ति की चाह मन मे ही रह जाएगी और इस लोक से प्रयाण हो जाने पर अनन्त काल रूपी महासागर के अतल मे विलीन हो जाएगी ।

हमारे यहाँ अनेक व्यक्ति आते है और कहते हैं—

"महाराज हम तो अज्ञानी हैं, हममे इतनी शक्ति कहाँ है जो कर्मों का नाश कर सकें। कर्मो का नाश तो तीर्थंकर जैसे महापुरुष ही कर सकते हैं। इस पचम काल मे हमारी क्या विसात है ?"

कैसी कायरता और पुरुषार्थहीनता की वात है यह। काल से मनुष्य की आत्मिक शक्ति मे कौन सा अन्तर पडता है ? जो व्यक्ति आत्मशक्ति, आत्मज्ञान एव आत्मा की महत्ता को समझ लेते हैं वे किसी भी काल मे कर्मों से मुक्त हो मकते हैं और जो इनमे विश्वास नहीं रखते तथा आत्म-मुक्ति का प्रयत्न ही नहीं करते, वे किसी भी काल मे आत्मा को ससार से मुक्त नही कर पाते ।

लोग कहते हैं भगवान महावीर तीर्थंकर थे और उस काल मे होने के कारण मोक्ष-गामी वने। किन्तु मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या गोशालक भी उसी काल मे नही हुआ था ? राम के समय मे रावण और कृष्ण के समय मे कस नही था ? इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि काल आत्मा की मुक्ति और वन्ध मे कारण नही वनता। वही आत्मा ससार-मुक्त होती है जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना करती हुई अपने उद्यम से साधना पथ पर निरन्तर वढती चली जाती है और इसके विपरीत वह आत्मा ससार परिभ्रमण करती है जो आत्म-शक्ति एव आत्म-ज्ञान पर विश्वास न रखती हुई पुरुषार्थहीन और कायर वनी रहकर यहाँ से प्रयाण कर जाती है ।

पुरुषार्थ और उद्यम का महत्व वताते हुए पच-तन्त्र मे कहा गया है—

> हस्ती स्थूलतर स चाङ्कुशवश,
> किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो ।

दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तम
कि दीपमात्र तम ।
वज्रेणाभिहता. पतन्ति गिरय,
कि वज्रमात्रो गिरि—
स्तेजो यस्य विराजते स वलवान्,
स्थूलेषु क प्रत्यय ।।

अर्थात्—हाथी इतना विशालकाय होने पर भी अकुश के आधीन रहता है तो क्या अकुश हाथी के वरावर है ? छोटा सा दीपक जलते ही वर्षों का घोर अधेरा क्षण भर मे नष्ट हो जाता है तो क्या अधकार दीपक के वरावर ही है ? वज्र का प्रहार लगने पर वडे-वडे पर्वत गिरा दिये जाते हैं तो क्या पर्वत वज्र के वरावर है ? नही, वास्तव मे वलवान एव प्रतापी वही है जो पुरुषार्थी एव उद्यमी है।

वन्धुओ ! इस श्लोक से आप समझ गए होगे कि आकार-प्रकार से वडा और विशाल होने से ही कोई अपरिजेय नही हो जाता । हाथी, अधकार एव पर्वत भी लघु आकार वाले अकुश, दीपक एव वज्र से पराजित हो जाते हैं।

इन उदाहरणो का रहस्य समझकर हमे भी कभी निराश नही होना चाहिए। छोटा-सा दीपक जैसे वर्षों से अधेरी गुफा को क्षण भर मे ज्योतिर्मान कर देता है, इसी प्रकार भले ही अनन्तकाल से हमारी आत्मा मे अज्ञान का अधकार छाया हुआ है, पर सम्यक्ज्ञान की ज्योति जलते ही वह समय मात्र मे ही दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार भले ही हमारी आत्मा निविड कर्मों से न जाने कव से वधी है, किन्तु त्याग एव तप की उत्कृष्टता से वे वन्धन शीघ्र ही टूट सकते हैं। आवश्यकता भावो के चढने की है।

जैसा कि कवि ने कहा है—"भाई ! तू इन पाँचो इन्द्रियो को जीतकर शिव-पुर का पास हासिल कर ले।" यह कोई अनहोनी वात नही है। अगर साधक सच्चा सयति है और पूर्ण सयमी है तो वह अपने मन एव इन्द्रियो को कुमार्गगामी वनने से रोकता हुआ अपनी साधना मे सहायक वना सकता है और उस स्थिति मे शिवपुर यानी मोक्ष का टिकिट हासिल कर लेना कठिन नही है। वह तो मिलकर ही रहेगा। ठीक उसी प्रकार, जैसे किसान वीज वोता है तो वे अकुरित हुए विना नही रहते। वह वात दूसरी है कि अतिवृष्टि या अनावृष्टि हो तो वीज नष्ट हो जाय। यह स्थिति तो कच्चे साधक के लिए भी आ सकती है, अगर वह अपनी साधना मे विचलित हो जाय या निराश होकर मार्ग छोड दे।

अन्त मे मुझे केवल यही कहना है कि आज हमने 'सयति' शब्द को लिया था और इसी प्रसग मे मन, वचन एव शरीर, इन तीनो योगो पर सयम रखने मे किस प्रकार आत्मा को लाभ होता है, यह आपके समक्ष सक्षेप मे रखा गया है।

२१ | तप की ज्योति

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

'श्री उत्तराध्ययन' सूत्र के दूसरे अध्याय की चौतीसवी गाथा पर विवेचन चल रहा है। गाथा मे सवर तत्व के सत्तावन भेदो मे से पैंतीसवां भेद 'तृण परिषह' है। इस परिपह को कौन सहन कर सकता है? वही, जो मर्यादित एव वहुत कम वस्त्र रखते हैं और मन की विशेप अवस्था हो जाने पर विलकुल भी वस्त्र नही रखते। साथ ही पूर्णतया रूखी वृत्ति अपना लेते हैं।

कल मैंने वताया था कि इन्द्रियो और मन पर कावू रखने वाला साधक ही सवर-मार्ग पर वढ सकता है। मन और इन्द्रियो पर कावू रखने का अर्थ सयत रहना है। सयत रहने से शक्ति वढती है। उदाहरणस्वरूप जो वाचाल होता है, प्रथम तो अधिक वोलते रहने से उसके दिमाग की नसें कमजोर होती हैं, दूसरे लोग उसका विश्वास नही करते अर्थात् उसका प्रभाव कम होता है। इसलिए वचन योग पर नियन्त्रण रखना उत्तम है, इससे व्यर्थ वाद-विवाद और गप्पवाजी मे जो समय जाता है वह ज्ञान-प्राप्ति या अन्य शुभ-कर्मों मे लगाया जा सकता है। यही हाल इन्द्रियो का है। अगर इन पर सयम रखा जाय तो वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप की आराधना मे सहायक वनती है। दूसरे शव्दो मे, यह भी कहा जा सकता है कि इन चारो की आराधना तपस्वी ही कर सकते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा मे अचेल-गस्स, लूहस्स, सजयस्स और इनके वाद तवस्मिणो शव्द आया है। यह तपस्वियो के लिए है।

तपस्वी कौन कहलाते हैं?

आज अधिकतर व्यक्ति उपवास करने वालो को ही तपस्वी मानते हैं। किन्तु यह सत्य नही है। हमारे शास्त्र तप के वारह प्रकार वताते हैं और उनमे से जिसकी आराधना की जाय, वही तप की श्रेणी मे आ जाता है।

हमारा जैन धर्म तप और त्याग प्रधान है। इसके अनुसार केवल शरीर का पोपण करना और उसे सुख पहुँचाना आत्मा का शोपण माना गया है। भगवान ने

मोक्ष प्राप्ति के साधनो मे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र एव सम्यक् तप को माना है तथा प्रकारान्तर से मोक्ष-साधना मे दान, शील, तप और भाव को बड़ा भारी महत्व दिया है ।

कहने का आशय यही है कि इन दोनो स्थितियो मे तप का स्थान उल्लेखनीय एव अनिवार्य है । क्योकि तप से पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा होती है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्ण वह्निना यथा ।
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ॥

अर्थात् जिस प्रकार मिट्टी से लिप्त सोना अग्नि मे तपकर शुद्ध वन जाता है, इसी प्रकार तप रूपी अग्नि मे तपकर आत्मा शुद्ध और पवित्र हो जाती है ।

तप जीवन के उत्थान का सर्वोपरि साधन या प्रमुख मार्ग है । तपश्चरण से सर्वोच्च पद तीर्थंकर गोत्र की उपलब्धि होती है । भगवान महावीर ने अपने पिछले जन्म मे नन्दन भूपति के भव मे ग्यारह लाख साठ हजार वार महीने-महीने के उपवास किये थे । वह इसीलिए कि उनके निविड कर्मों का वन्ध था अत उन्हे नष्ट करने के लिए कठोर तप की आवश्यकता भी थी ।

तप के द्वारा किस प्रकार आत्मा को जकडे हुए असख्य कर्मों का क्षय होता है, इस विषय मे भगवान महावीर ने फरमाया है—

जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सचिणाए तवणाए, कमेण सोसणाभवे ॥
एव तु सजयस्सावि पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडिसचिय कम्म, तवसा निज्जरिज्जइ ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ ३०, गा ५-६

अर्थात्—जैसे किसी वडे तालाव का जल उसका रास्ता रोक देने से, सिचाई करने से तथा सूर्यादि के ताप से धीरे-धीरे सूख जाता है, इसी प्रकार सयमशील मुनि के द्वारा पाप कर्म रोक दिये जाने पर यानी सवर की आराधना करने पर, और फिर तप किये जाने पर करोडो जन्मो के सचित पाप कर्म क्षीण हो जाते हैं ।

आशा है आप तप का महत्व समझ गए होंगे, अव मुझे यह वताना है कि तप कितने प्रकार का होता है और किस प्रकार वे सभी अग कर्मों की निर्जरा मे कारण वनते हैं ।

जैनागमो मे तप को मुख्य रूप से दो भागो मे वांटा गया है (१) वाह्यतप एव (२) अन्तरग तप । इन दोनो के भी छ-छ प्रकार हैं ।

बाह्य तप

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश एव प्रतिसलीनता ये बाह्य तप कहलाते हैं ।

अन्तरग तप

प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान एव व्युत्सर्ग ये अतरग तप हैं ।

इस प्रकार बाह्य और अतरग, सभी मिलाकर बारह तप कहलाते हैं तथा सभी समान महत्व रखते हैं । अत केवल उपवास करने वाले को ही तपस्वी नही जानना चाहिए । जिस साधक मे जैसी क्षमता होती है, वह वैसा ही तप करता है । अगर कोई सन्त शारीरिक अशक्ति के कारण उपवास नही कर सकता, किन्तु अपने देव, गुरु एव धर्म के प्रति आस्था एव विनय भाव रखता है तथा कभी भी गुरु की अवहेलना नही करता, वह भी तपस्वी है । इसी प्रकार कोई सन्त विद्वत्तापूर्ण प्रवचन नही दे सकता, किन्तु ध्यान एव स्वाध्याय करता है तथा चारित्र धर्म का पूर्णतया खयाल रखता हुआ परिषहो को सहन करता है, अपनी प्रत्येक भूल के लिए गुरु के समीप आलोचना करता हुआ प्रायश्चित्त करता है तथा रसना-इन्द्रिय पर पूर्ण नियन्त्रण रखता हुआ निर्दोष भिक्षा लाकर समभावपूर्वक उसे ग्रहण करता है, वह भी तपस्वी है ।

इसीलिए एक पुराने भजन मे कहा गया है—

> एक-एक मुनिवर रसना त्यागी,
> एक-एक ज्ञान रा भण्डार रे ।
> एक-एक मुनिवर व्यावचिया वैरागी,
> ज्यारा गुणा रो नहि पार रे ।
> साधुजी ने वदना नित-नित कीजे ।

पद्य का अर्थ यही है कि कोई-कोई मुनि अपनी रसनेन्द्रिय पर नियन्त्रण रखते हैं तथा घी, तेल, मिष्ठान्न तथा दही आदि सभी रसो का त्याग करके दृढता से मुनि-वृत्ति का पालन करते हैं । श्री वेलजी ऋषि जी महाराज सिर्फ छाछ लेकर अपने शरीर को टिकाये रहते थे । यह देखकर कुछ व्यक्ति भावना एव भक्ति के वश होकर छाछ मे मक्खन की गोलियाँ रख देते थे । किन्तु ऐसा जानकर महाराज छाछ छानकर ग्रहण करते थे । ऐसा उन्होंने अनेक वर्षों तक किया । यद्यपि वे अधिक पढे-लिखे नहीं थे, लेकिन रस-परित्याग तप से ही उनकी आत्मिक शक्ति बहुत बढी हुई थी । श्री उत्तम-चन्द जी म० भी छाछ पर रहते थे । इसी प्रकार वेणीचन्द जी म० भी खान-पान को अत्यन्त तुच्छ मानकर ध्यान साधना एव विनयादि तपो की उत्कृष्ट आराधना करते थे ।

भजन मे कहा है—कोई-कोई मुनि ज्ञान के भडार होते हैं। उदाहरण स्वरूप हमारे त्रिलोकऋषि जी म० के भाई तो सदा एकान्तर तप करते थे और स्वय त्रिलोकऋषि जी म० ने सत्रह शास्त्र कण्ठस्थ कर लिये थे। श्री उत्तराध्ययन सूत्र का पाठ तो वे ध्यानस्थ होकर ही करते थे। उनके रचे हुए अनेक पद्य एव भजन आदि भी आज जन-जन भी जवान पर सुनने को मिलते हैं। पूज्य श्री अमोलकऋषि जी म० भी वडे विद्वान एव वक्ता थे तथा धर्म एव ज्ञान के प्रचार मे निरन्तर लगे रहते थे।

अनेक मुनि जो कि अधिक ज्ञान हासिल नही कर सकते तथा शारीरिक कारणो से उपवास आदि तप भी नही कर पाते वे पूर्ण मनोयोगपूर्वक सेवा मे ही लगे रहते हैं। आपने मुनि नदिषेण की कथा कई बार सुनी होगी जिनकी सेवाभावना की प्रशसा देवलोक तक पहुँच गई थी।

आप जानते हैं कि प्रत्येक स्थान पर अच्छे और बुरे, दोनो प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं। आप स्वर्ग के नाम से वडे प्रसन्न होते हैं तथा कामना करते हैं कि मरने के पश्चात् हमे स्वर्ग ही मिले। किन्तु स्वर्ग के देवताओ मे भी कषाय, राग एव द्वेषादि की भावना होती है तथा उनका जीवन पूर्ण अनियन्त्रित रहता है कभी कोई देव, दूसरे की ऋद्धि छीन लेने का प्रयत्न करता है और कभी कोई देव दूसरे की अप्सरा को ही चुरा लेता है। इसके परिणामस्वरूप उनमे मनोमालिन्य एव लडाई-झगड चलते रहते है।

तो हमारा प्रसग यह चल रहा था कि नन्दिषेण मुनि के उत्कृष्ट वैयावृत्य की प्रशसा स्वर्ग मे होने लगी तो दो देवों को यह प्रशसा तनिक भी अच्छी नही लगी। मारे जलन के उन्होंने मुनि की परीक्षा लेने का विचार किया और अविलम्ब दो मुनियो का रूप धारण करके मर्त्यलोक मे आ पहुँचे।

एक मुनि तो जगल मे रोगी का रूप वनाकर लेट गया और दूसरा नन्दिषेण मुनि के निवास स्थान पर जा पहुँचा। मुनि उस समय आहार ग्रहण करने के लिए वैठे ही थे कि मुनि रूपधारी देव ने आकर नन्दिषेण जी को फटकारते हुए कहा—

"वाह! अच्छे मुनि हो तुम? शर्म आनी चाहिए तुम्हें कि समीप के वन मे ही एक मुनि भयकर विशूचिका रोग से ग्रसित पडे हैं और तुम आनन्द से यहाँ भोजन कर रहे हो।"

"मेरी वडी गलती हुई महाराज! शीघ्र चलिए, ताकि मैं उन मुनिराज की यथासाध्य सेवा कर सकूँ। कृपया मुझे मार्ग वताइये।" कहते हुए नन्दिषेण जी उसी क्षण उठ खडे हुए और उस कृत्रिम रूपधारी मुनि के साथ रवाना हो गये। उन्होंने यह भी नहीं कहा कि मुझे जव मुनि के कहीं आस-पास मे उपस्थित होने का पता नहीं था तो उनकी सार-सम्हाल न करना मेरा दोष कैसे हुआ? वे तो अपनी ही भूल मानकर चुपचाप चल दिये।

कुछ समय पश्चात् नन्दिषेण जी एव मुनि-रूपी देवता दोनो ही उस स्थान पर पहुँच गये जहाँ रोगी मुनि लेटे हुए कराह रहे थे। उन्हे दस्ते लग रही थी एव उलटियाँ भी बराबर हुए जा रही थी। नदिषेण जी बडे चिन्तित हुए कि इस निर्जन स्थान पर जल एव दवा आदि के अभाव मे मैं किस प्रकार मुनि की सम्हाल करूँ? अशक्त वे इतने थे कि उठकर चल भी नही सकते थे।

किन्तु सोच-विचार मे उन्होने समय नष्ट नही किया और वस्त्रादि से मुनि के शरीर को कुछ साफ करके उन्हे अपनी पीठ पर उठाकर अपने स्थान की ओर रवाना हो गए ताकि वहाँ लेजाकर दवा, पथ्य एव परिचर्या, सभी के द्वारा उन्हे शीघ्र स्वस्थ किया जा सके। दूसरे मुनि उनके साथ हो लिये।

मुनि नदिषेण जी यथासाध्य सावधानी से चल रहे थे ताकि अस्वस्थ मुनिराज को कष्ट न हो। पर मुनि तो कृत्रिम रोगी थे, अत उन्होने नदिषेण जी की पीठ पर चढे-चढे ही दस्त एव उलटियो से उनके सम्पूर्ण शरीर को लथपथ कर दिया। साथ ही भयकर दुर्गंध फैला दी जो कि साधारण व्यक्ति के लिए सहन करना कठिन होता।

किन्तु धन्य थे नदिषेण मुनि, जिनके चेहरे पर उस समय एक शिकन भी नही आई। पीठ पर भारी बोझ, गन्दगी से भरा हुआ शरीर और ऊपर से असह्य दुर्गंध, पर साथ ही रोगी मुनि के जबान से निकली हुई गालियाँ तथा पीठ पर पैरो से किये जाने वाले प्रहार भी। पर स्वर्ग तक जिनकी प्रशसा पहुँच जाए, वे मुनि क्या डिग सकते थे? नही, वे सभी कुछ पूर्ण शान्ति, समभाव एव सेवा का अवसर मिलने की आन्तरिक खुशी के साथ सहन करते हुए अस्वस्थ मुनि को अपने निवास स्थान पर ले आए तथा गाँव के घरो मे से जल लाकर उनके शरीर को एव वस्त्रो को स्वच्छ किया तथा उपयुक्त दवा आदि लाकर उन्हे दीया।

बस इतना ही काफी था। देवताओ को अपनी भूल समझ मे आ गई कि उन्होने मुनि नदिषेण की प्रशसा से ईर्ष्या एव जलन के कारण उन्हे कष्ट दिया तथा नाना प्रकार के दुर्वचन कहे। वे भली-भाँति समझ गए कि मुनि के वैयावृत्य की प्रशसा सत्य है तथा उनका सेवाभाव सराहनीय है। यह निश्चय होते ही वे अपने असली रूप मे आ गये और मुनि से अपने कटु एव दुर्व्यवहार के लिए क्षमा माँगकर अपने स्थान को लौट गये।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि सेवा करना भी कितना महान तप है और उसे करने वाला अपनी आत्मा को कितनी शुद्ध एव उन्नत बना लेता है। इसीलिए भजन मे कहा गया है कि कोई मुनि रसो का परित्याग करने वाले होते हैं, कोई ज्ञानी होते हैं, कोई सेवाभावी होते हैं तथा इसी प्रकार जिस तरह के तप करने की उनमे क्षमता होती है, करते हैं। बारहो प्रकार के तप महत्वपूर्ण हैं, किसी का भी कम या

ज्यादा महत्व नही होता। पर वह भावना पर आधारित है। प्रशसा, सराहना, सिद्धि या लोक प्रसिद्धि के लिए कोई भी तप किया जाय, वह फलहीन बन जाता है। और तप ही क्या, कोई भी धर्म-क्रिया किसी स्वार्थ या दिखावे के लिए की जाय तो वह सर्वथा निरर्थक साबित होती है। यही हाल तप का है। तपस्या करना एक प्रकार से उस घर यानी परलोक के लिए माल इकट्ठा करना है।

कल मैंने एक भजन की दो गाथाएँ कही थी, आज आगे की गाथा कहता हूँ। इसमे भी साधक को व्यापारी बताते हुए आत्मिक व्यापार करने की प्रेरणा दी है। कहा है—

"जो तू बडा व्यापारी कहावे, क्या शिवपुर नहि आढ़त पावे ?
माल जो भरे शिवपुरी का, काम है बडे दिलावर का।
क्या हटड़ी रहा खोला, बनज कुछ करले उस घर का।"

कवि का कथन है—अरे मानव! तू तो बडा भारी व्यापारी कहलाता है और बडा व्यापारी बडे हौसले वाला होता है। ऐसी स्थिति मे व्यापार भी बडा करके सीधा मोक्षपुरी से सम्बध क्यो नही करता? वहाँ के लिये आढत क्यो नही भरता है?

बडा व्यापारी कौन ?

यहाँ एक बात ध्यान मे रखने की है कि कवि ने बडे व्यापारी और छोटे व्यापारी मे अन्तर क्या बताया है? इस सासारिक व्यापार को देखते हुए आप लोग जानते ही है कि बडा व्यापारी और छोटा व्यापारी किसे कहते हैं? थोडा सामान रखकर अपने ही गाँव व नगर मे उसकी बिक्री करते रहने वाला छोटा व्यापारी कहलाता है। और ऐसी छोटी-छोटी दुकाने हम सैकडो देखते ही हैं। किन्तु लाखो और करोडो की पूँजी से व्यापार करने वाले व्यापारी भी आपकी और हमारी नजर मे हैं। जो कि अनेक शहरो मे अपनी दुकानो, फैक्टरियो और कम्पनियो की शाखाएँ खोलते हैं। यहा तक कि उनका माल विदेशो मे जाता है और वे दूर-देशो से सामान अपने यहाँ भी मँगाते हैं।

यहाँ कवि ने आध्यात्मिक व्यापार की दृष्टि से भावना व्यक्त की है कि चौरासी लाख योनियो मे असख्य जीव हैं और वे अपने कर्मों के अनुसार एक योनि से दूसरी योनि मे जन्म-मरण करते रहते हैं। मनुष्य के अलावा और किसी भी योनि का जीव छोटा व्यापारी कहलाता है क्योकि वह उत्कृष्ट करणी के रूप मे बडा व्यापार करके केवलज्ञान एव केवलदर्शन रूपी भारी मुनाफा कमाकर मोक्ष यानी शिवपुर मे नही जा सकता।

इस ससार मे सिर्फ मानव ही ऐसा प्राणी है जो उत्कृष्ट भावना रूपी बडा व्यापार करके केवलज्ञान रूपी सर्वोत्कृष्ट या असीम धन कमाकर शिवपुर का टिकिट

लेकर वहाँ तक पहुँच सकता है। मोक्ष का टिकिट आपके दुनियादारी के नोटो से नही मिल सकता। उसे खरीदने के लिये ज्ञान, दर्शन, चारित्र भक्ति, शील, दान एव तप रूपी नगद दाम चाहिये। और ऐसा धन सच्चा तपस्वी जो कि आभ्यन्तर एव वाह्य, दोनो ही प्रकार के तपो की आराधना करता है, वही पा सकता है। किन्तु आवश्यकता है साधना मे पराक्रम या पुरुषार्थ रखने की। अगर ऐसा नही किया गया तो स्वर्ग और शिवपुर की तो वात दूर है पुन मनुष्यगति भी मिलना सभव नही है। यह मानव जीवन एक दुर्लभ पूंजी है और मुमुक्षु अपने पुरुषार्थ, साहस एव साधना के द्वारा ही इसे वढाकर देवगति और मुक्ति प्राप्त कर सकता है, अन्यथा यह डूब जाती है। परिणाम क्या होता है, यह एक श्लोक वताता है—

माणुसत्त भवे मूल, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाण, नरगतिरिक्खत्तण धुव॥

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र ७-१६

अर्थात्—मनुष्य जीवन मूलधन है। देवगति उसमे लाभरूप है। मूलधन के नाश होने पर नरक, तिर्यंचगति रूप हानि होती है।

इसलिये वधुओ, हमे मानव जीवन की महिमा को समझकर इसका लाभ उठा लेना है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जव हम विचार करते है तो जान सकते हैं कि केवल मनुष्य ही चरम सीमा का आध्यात्मिक विकास कर सकता है। यद्यपि स्वर्ग का नाम हम सभी को प्रिय लगता है और स्वर्ग मे जाने के लिये सभी लालायित रहते हैं, किन्तु देवताओ को केवल अपने जीवन की अवधि तक मनुष्यो की अपेक्षा अधिक भोगोपभोगो के सुख ही हासिल होते है। आध्यात्मिक साधना और उसकी सिद्धि का जहाँ सवाल आता है, वे नगण्यो की गणना मे भी जाते हैं। अगर वहुत कोशिश करें भी तो वे केवल चार गुणस्थानो को पा सकते हैं। जव कि मनुष्य १४ गुणस्थानो को पार करके ससार-मुक्त हो जाता है।

ऐसा ही करने की कवि प्रेरणा दे रहा है और कह रहा है कि जव तुम्हें प्रकृष्ट पुण्य के उदय से यह महान मानव-जन्म मिल गया है तो इस उत्कृष्ट जन्म रूपी अमूल्य या अपार पूजी से छोटा व्यापार करके विभिन्न योनियो का उपार्जन मत करो। अपितु अपना पूरा साहस, शक्ति, विवेक, वुद्धि, साधना एव तप आदि सभी की सहायता से ऐसा व्यापार करो कि मुक्ति-रूपी मुनाफा प्राप्त होकर रहे। साधना के ये सभी साधन साधक के लिये तभी सहायक वनते हैं जव कि साधक की दृष्टि केवल अपने लक्ष्य की ओर होती है तथा वह उसे प्राप्त करने के लिये कटिवद्ध हो जाता है।

एक सुन्दर श्लोक मे कहा गया है—

विजेतव्या लका चरणतरणीयो जलनिधि—
विपक्षो लङ्केशो रणभुवि सहायाश्च कपय. ।
तथाप्येको राम सकलमवधीद् राक्षसकुल,
क्रियासिद्धि सत्त्वे वसति महता नोपकरणे ।

—सुभाषित रत्न भाण्डागार,

कहा है—लका पर विजय पानी थी, समुद्र मे पैरो से तैरना था, रावण जैसा शत्रु था, रण भूमि के सहायक केवल वानर थे। इतने पर भी अकेले राम ने राक्षस कुल को नष्ट कर दिया। क्योकि महापुरुषो के पराक्रम एव आत्मविश्वास मे ही उनकी कार्यसिद्धि होती है, सहायक उपकरणो मे नही।

आशय यही है कि जब मानव अपने विराट उद्देश्य की पूर्ति मे मन, वचन एव शरीर, इन तीनो योगो को दृढता से लगा देता है तो अन्य समस्त साधन स्वय ही उसके सहायक बन जाते हैं। पर खेद की बात यही है कि वह अपने जीवन के इस महान उद्देश्य की परवाह भी नही करता और दुनियादारी के व्यापार मे लगा रह कर परलोक की चिन्ता से विमुख बना रहता है। उसे केवल भौतिक व्यापार एव भौतिक सुख की ही फिक्र रहती है। ऐसे व्यक्तियो को उद्बोधन देते हुए किसी फारसी भाषा के कवि ने कहा है—

ऐ गिरफ्तारे पाए बन्दे अयाल।
दिगर आजादगी मबन्द ख्याल।
गमे फरजजन्दो नानो जामाओ कूत।

अर्थात्—हे मनुष्य! तू धन—सम्पत्ति, मकान, जमीन, भोग-विलास के साधन एव पत्नी, पुत्र तथा परिवार आदि के मोह मे आसक्त रहकर किसी प्रकार भी मुक्त नही हो सकता, क्योकि इन पदार्थों की चिन्ता स्वर्ग और मोक्ष की चिन्ता मे बाधक होती है।

वस्तुत जो व्यक्ति सासारिक उपलब्धियो के लिये बावला रहता है तथा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये ही सम्पूर्ण क्रियाएँ करता है वह आध्यात्मिक क्षेत्र मे सदा कोरा बना रहता है। ऐसे व्यक्तियो मे और पशुओ मे आकृति भेद के अलावा और कोई अन्तर दिखाई नही देता। ऐसे व्यक्ति अपने मनुष्य जीवन के सच्चे उद्देश्य को भूल जाते हैं या समझने की कोशिश ही नही करते। वे भौतिक और जड द्रव्य

को अधिक पाने की लालसा मे रहते हैं तथा उसी के लिये प्रयत्न करते हैं। उनक ध्यान उस धन की ओर नही जाता जो शिवपुर की प्राप्ति मे सहायक बनता है

इसलिए कवि ने उसी आत्मिक धन की ओर मानव का ध्यान दिलाते हु कहा है—

जो होवे धन तुझको प्यारा, पारस बैंक मे रखदे सारा।
नहीं सूद का पता मिलेगा गिनके किस दर का ।

क्या कहा है कवि ने ? यही कि—अगर तुझे धन वहुत प्यारा है तो वड व्यापार करके आत्मिक धन का उपार्जन कर और उसे पृथ्वी पर के किसी जड द्रव्य को रखने वाले बैंक मे नही, वरन भगवान पार्श्वनाथ के बैंक मे रख दे। इसक परिणाम यह होगा कि जहाँ मर्त्यलोक का बैंक थोडा-सा ब्याज तुझे देता है, वह भगवान पार्श्वनाथ का बैंक इतना ब्याज देगा कि तू न उसकी दर का पता लग सकेगा और न ही मिले हुए ब्याज की गणना ही कर सकेगा। वह सख्यातीत होग और उस धन से तू मोक्ष का शाश्वत सुख खरीद सकेगा।

आगे कहा गया है—

"दास दसौंधी कहता प्यारे, अमृत छोड जहर मत खा रे,
हो भवसागर पार भजन कर दिल से दिलवर का।
वनज कुछ करले उस घर का ॥

इस भजन के रचयिता दसौंधी दास कहते हैं—"प्रिय वन्धु ! अमृत क छोडकर जहर मत खाओ।"

आप समझ ही गए होगे कि जहर क्या है और अमृत क्या है ? क्रोध, मान माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, ममता, आसक्ति और गृद्धता आदि जो भी मानव-म के विभाव हैं, ये सब विष का काम करते हैं तथा आत्मा के सम्पूर्ण सद्‌गुणो का नाश करके उसे कुगतियो मे पहुँचाकर घोर कष्ट का भागी बनाते हैं।

किन्तु इसके विपरीत सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् चारित्र, जिसमे दान, शील, सेवा, परोपकार आदि समस्त सद्‌गुण समाविष्ट होते हैं, ये आत्मा के लिए अमृत के समान हैं, जिन्हे ग्रहण कर लेने पर आत्मा सदा के लिए अजर-अमर हो जाती है।

पर वन्धुओ, कवि के कथनानुसार अमृत को कौन ग्रहण कर सकता है ? इसका उत्तर 'तृण परिषह' के विषय मे दी हुई गाथा के अनुसार तवस्सिणो यानि

तपस्वी ही कर सकते हैं। और तपस्वी भी वे ही नही जो केवल अनशन को तपस्या मानकर चलते हैं, अपितु वे तपस्वी जो आतरिक एव वाह्य, सभी तपस्याओ को समान समझते हुए उनकी यथाशक्ति आराधना करते हैं तथा सभी परिषहो को पूर्ण समभाव पूर्वक सहन करते हुए दृढतापूर्वक सवर के मार्ग पर चलते हैं।

सच्चे तपस्वी सवर को अपनाकर कर्मों का आना तो रोकते ही हैं, साथ ही तप के द्वारा सचित कर्मों की निर्जरा कर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि उनकी आत्मा कर्म-मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। अभी मैंने आपको बताया था—

भवकोडी-सचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जइ।

उत्तराध्ययन सूत्र ३०-६

साधक करोडो भवो से सचित कर्मों को तपस्या के द्वारा क्षीण कर देता है।

२२ | क्यों डूबे मझधार ?

धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

सवर तत्व के सत्तावन भेदो मे से पच्चीसवा भेद 'तृण परिषह' है। इस विषय मे 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय की चौंतीसवी गाथा पर विवेचन चल रहा था और उसके अनुसार अचेलगस्स, लूहस्स, सजयस्स एव तवस्सिणो शब्दो पर मैंने विशेष तौर पर प्रकाश डाला है। अब इसी परिषह पर कही गई पैंतीसवी गाथा को लिया जा रहा है। गाथा इस प्रकार है—

आयवस्स निवाएण, अउला हवइ वेयणा।
एव नच्चा न सेवति, ततुज तणतज्जिया ॥

अर्थात्—आतप यानि गर्मी के होने से भारी वेदना उत्पन्न हो जाती है, ऐसा जानकर भी तृणो से पीडित मुनि वस्त्र आदि का सेवन नही करते।

जव असह्य गर्मी पडती है तो शरीर को स्वाभाविक रूप से कष्ट का अनुभव होता है। ऐसी वात नही है कि ससार के अन्य समस्त प्राणियो को तो ग्रीष्म के ताप से कष्ट हो और साधुओ को न हो। शरीर तो सभी के होते हैं और मुनियो के भी। अत मुनियो को भी कष्ट का अनुभव होता है। किन्तु यह विचार कर कि वेदना को सहन करने से ही कर्मों का नाश होता है, वे समभावपूर्वक उन कष्टो को सहन कर लेते हैं।

सयमी सत परिपहो को सहन करते समय यही भावना रखते हैं कि वाईस परिपहों मे से कोई भी परिषह नरको की भयकर यातनाओ के समक्ष केवल सिंधु से निकाले हुए विन्दु से अधिक महत्व नही रखते यानि नरको की घोर पीडा के सामने ये परिषह नगण्य हैं।

नारकीय कष्ट

कविवर प० दौलतराम जी ने अपनी छहढाला नामक पुस्तक मे नरक की यातना का वर्णन करते हुए कहा है—

"तहाँ भूमि परसत दुख इसो, बिच्छू सहज डसे नहिं तिसो ।
तहाँ राध-श्रोणित वाहिनी, कृमि कुल कलित देहदाहिनी ।।
सेमर तरु जुत दल असिपत्र, असि ज्यों देह विदारें तत्र ।
मेरु समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ।।
तिल-तिल करें देह के खण्ड, असुर भिडावें दुष्ट प्रचण्ड ।
सिन्धु नीर तें प्यास न जाय, तो पण एक न बूंद लहाय ।।
तीन लोक को नाज जु खाय, मिटे न भूख कणा न लहाय ।"

कितनी भयकर वेदना नरक मे होती है ? कहा है—जीव जब नरक मे जाता है तो वहाँ की भूमि का स्पर्श करते ही उसे ऐसा लगता है, जैसे हजारो विच्छुओ ने एक साथ ही काट खाया हो । इसके अलावा वहाँ छोटे-छोटे अनन्त कीडो से भरी हुई वैतरणी नामक नदी है । जब नारकीय जीव घोर कष्टो से घबराकर कुछ शीतलता एव शाति प्राप्ति की आशा से उस नदी मे कूदते हैं तो उस रक्त, मवाद एव कीडो से भरी नदी मे उनका कष्ट घटने की बजाय अनन्त गुना अधिक बढ जाता है ।

नरक मे तनिक भी शांति प्राणी को नही मिलती । असह्य आताप से घबराकर अगर वह सेमर के वृक्ष के नीचे बैठता है तो उस वृक्ष के तलवार के समान तीखे पत्ते उसके शरीर पर गिरकर अगो को चीर डालते हैं । नरक की गर्मी और सर्दी इस लोक की सर्दी-गर्मी के समान नही होती । कैसी होती है ? इसका वर्णन दो गाथाओ मे किया गया है । गाथाएँ इस प्रकार हैं—

मेरुसम लोहपिण्ड, सीद उण्हे बिलम्मि पक्खित ।
ण लहदि तलप्पदेश, विलीयदे मयणखण्ड वा ।।
मेरुसम लोहपिण्डं, उण्ह सीदे बिलम्मि पक्खित ।
ण लहदि तल पदेश, विलीयदे लवणखण्ड वा ।।

अर्थात्—जिस प्रकार गर्मी मे मोम पिघलकर जल के समान बहने लगता है उसी प्रकार सुमेरु पर्वत के बराबर लोहे का गोला गरम बिल मे फेंका जाय तो वह बीच मे ही पिघलने लगता है ।

दूसरी गाथा मे नरक की असह्य शीत के विषय मे कहा गया है कि जिस प्रकार सर्दी और बरसात मे नमक गल जाता है तथा पानी के समान होकर बहने लगता है, इसी प्रकार सुमेरु पर्वत के बराबर लोहे का गोला ठण्डे बिल मे फेंका जाय तो वह मध्य मे ही गलने लग जाता है ।

तो बन्धुओ, जहाँ इस प्रकार का असह्य शीत और भयकर ताप हो वहा की वेदना का वर्णन क्या शब्दो मे किया जा सकता है ? नही, पर नरको मे ऐसे ही शीत एव ताप होते है, जिनके कारण जीव असह्य दु ख पाते हैं।

फिर केवल इतने ही दु ख वहाँ नही, आगे भी बताते हैं कि नारकीय प्राणी सतत दुखी एव पीडायुक्त रहने के कारण आपस मे बुरी तरह से लडा करते हैं, एक दूसरे के शरीर के टुकडे-टुकडे कर डालते हैं। किन्तु एक बार ही मर जाने का कष्ट वहाँ नही है क्योकि नारकीयो के शरीर जिस प्रकार पारा बिखर कर पुन जुड जाता है, उसी प्रकार बार-बार बिखरते हैं और पुन जुडकर फिर उसी प्रकार के कष्ट पाते हैं। ऊपर से सक्लिष्ट परिणाम वाले असुर पहले, दूसरे और तीसरे नरक तक जाकर नारकीय जीवो को अपने-अपने पुराने वैरो को बताकर आपस मे लडाते हैं तथा अपना मनोरजन करते हैं। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार प्राचीन राजा एव नवाब आदि हाथियो को, भैंसो को, बकरो को, साडो को तथा ऐसे ही अन्य पशुओ को मदिरा आदि पिलाकर उत्तेजित करते थे तथा उन्हे आपस मे इस प्रकार लडाते थे कि जब तक उनमे से एक मर नही जाता, उनकी लडाई समाप्त नही होती थी। ऐसी लडाइयो को लोग बहुत बडी सख्या मे इकट्ठे होकर बडी रुचि के साथ देखते थे तथा आनन्दित होते थे। यही कार्य असुर नारकीयो के साथ करते हैं।

महान् दु ख नरक मे यह भी है कि उन निरीह जीवो को प्यास इतनी लगती है, मानो समुद्र का सारा पानी पी जाएँ और भूख इतनी सताती है कि तीनो लोको का अनाज खा लें, किन्तु न एक बूंद पानी पीने को मिलता है और न ही अन्न का एक भी कण खाने को।

ऐसा घोर कष्ट एव भयकर वेदनाएँ नरक मे जीव को भोगनी पडती हैं। यही विचार सत-मुनिराज करते हैं कि हमारी आत्मा ने तो न जाने कितनी बार नरक के अवर्णनीय दु ख भोगे हैं, फिर उनके मुकाबले मे इस पृथ्वी पर आने वाले परिषह किस गिनती मे हैं ?

वस्तुत व्यक्ति अगर नरक के दु खो से अपने जीवन मे आने वाले परिषहो की तुलना करता है, या अपने से अधिक दुखी व्यक्तियो को देखता है तो उसे अपने दु ख कम महसूस होते हैं। इसलिए साधक को परिषहो के सामने आने पर यही विचार करना चाहिए कि—'हे आत्मन् ! तूने नरक गति के भयकर कष्ट अनेक बार सहे हैं, और अनेक बार तिर्यञ्च गति मे भी नाना योनियो मे जाकर असह्य वेदना भोगकर फिर यहाँ मनुष्य की गति मे आया है, ऐसी स्थिति मे तेरे समक्ष आने वाले कष्ट क्या उनसे अधिक हैं ? नही।

कहते हैं कि शेखसादी जो बड़े भारी शायर और विद्वान थे, वे बहुत निर्धन थे। होता भी यही है। हम पढते हैं, सुनते हैं और देखते भी हैं—'पण्डिते निर्धनत्वम्' पण्डित निर्धन होता है। दूसरे शब्दो मे सरस्वती जहाँ निवास करती है वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती। दोनो मे छत्तीस का आँकडा होता है। ऐसा क्यो ? इसलिये कि धन व्यक्ति को अहकारी तथा अविवेकी बनाता है तथा विद्या उसे बुद्धिमान तथा विवेकी बनाती है।

लक्ष्मी और सरस्वती के वाहन भी यही भाव प्रकट करते हैं। आप जानते हैं कि लक्ष्मी का वाहन उल्लू माना जाता है, जिसे दिन मे कुछ दिखाई नही देता। लक्ष्मी भी मनुष्य को इसी प्रकार अन्धा बनाए रखती है, जिसे अपना हिताहित किसमे है, यह नही दिखता। अब आता है सरस्वती का वाहन हस। हस के लिए कहा जाता है कि वह मोती तो चुनता ही है, साथ ही दूध और जल अर्थात् क्षीर और नीर अगर इकट्ठे हो तो वह क्षीर और नीर अलग कर देता है। विद्वान पुरुष भी जो कुछ पढते हैं, सुनते हैं और अपने अनुभवो से देखते हैं, उनमे से वे गुण ग्रहण करते हैं तथा वे बाते लेते हैं जो उनकी आत्मा को उन्नत बनाती है। अपने गुणग्राही स्वभाव एव विद्वत्ता के बल पर ही विद्वान कीर्ति हासिल करता है तथा सभी जगह पूजनीय बनता है।

एक मनोरजक रूपक है कि किसी व्यक्ति ने लक्ष्मी से पूछा—"तू प्राय मूर्खों के पास ही रहती है, क्या पडितो और विद्वत्‌जनो से तेरा मत्सर-भाव है ?"

इस पर लक्ष्मी ने उत्तर दिया—

> पद्मे ! मूढजने ददासि द्रविण
> विद्वत्सु किं मत्सरो ?
> नाह मत्सरिणी न चापि चपला,
> नैवास्मि मूर्खे रता।
> मूर्खेभ्यो द्रविण ददामि नितरा
> तत्कारण श्रूयता।
> विद्वान् सर्वजनेषु पूजिततनु—
> मूर्खस्य नान्यागति ॥
>
> —सुभाषित रत्नभाण्डागार पृष्ठ ६६

लक्ष्मी कहती है—मैं न तो मत्सरिणी हूँ, न चचल और मूर्खों मे अनुरक्त ही हूँ। किन्तु मैं मूर्खों के पास रहती हूँ इसका केवल यही कारण है कि विद्वान तो विद्या के कारण सब लोगो का पूज्य हो जाता है पर मूर्खों को मेरे सिवाय कोई गति नही है। अर्थात् उनके पास धन न हो तो उन्हे कौन पूछे ?

मैं शेखसादी की वात वता रहा था कि वे वडे काविल विद्वान एव प्रसिद्ध शायर थे, किन्तु निर्धन थे। अपनी निर्धनता पर उन्हे एक बार वडा खेद हुआ तो वे मसजिद मे नमाज पढते समय वोले—"हे परवरदिगार, मुझ पर तू इतना खफा क्यो है कि मैं आराम से खा-पीकर रह नही सकता ? कम से कम इतनी मेहरवानी तो कर कि मैं जरा ढग से रह सकूं और अमन-चैन से जीवन विता सकूं।"

खुदा से ऐसी इवादत करके शेखसादी मसजिद से वाहर आए। पर वाहर आते ही उन्होंने भीख मांगने वाले अनेक फकीरो को देखा, जिनमे से किसी के आँखें नही थी, कोई लँगडा था, कोई गूंगा और किसी के शरीर पर लज्जा ढकने के वस्त्र भी पूरे नही थे।

उन भिखारियो को देखते ही शेखसादी का विवेक जाग्रत हो गया और वे दोनो हाथ जोडकर दुआ करते हुए वोले—"या खुदा ! तू मुझपर कितना मेहरवान है कि तूने मुझे हाथ, पैर, आँखे आदि सभी कुछ दिये हैं। ये भिखारी माँगकर दूसरो का दिया खाते हैं पर मैं स्वय कमाकर खा सकता हूँ। कितना वडा एहसान है मुझ पर तेरा ?"

कहने का आशय यही है कि जो व्यक्ति अपने से निम्न श्रेणी के व्यक्तियो को देखकर अपने आपसे सतुष्ट रहता है, वही लोभ एव लालच का त्याग करके आत्मा को उन्नत बना सकता है। दूसरे शव्दो मे सतोषी व्यक्ति ही परिषहो का सामना समभाव से कर सकता है और किसी भी प्रकार का कष्ट होने पर अन्य व्यक्तियो को या स्वय ईश्वर को नही कोसता। उसके मन मे सदा शाति और क्षमा की सरिता लहराती रहती है जो कि भवसागर से पार उतरने के लिये आत्मा को कषाय-रहित एव सरल वनाती है।

इस विषय मे एक हिंदी भाषा का कवि भी कहता है—

"क्यो डूबे मझधार ? क्षमा है तेरे तरने को।"

कहा गया है—अरे भोले मानव ! तू इस ससार-सागर मे क्यो डूवता है ? जवकि क्षमा रूपी महान नौका तुझे इससे पार उतारने की क्षमता रखती है।

क्षमा का अद्भुत उदाहरण

अरव देश की एक लघु कथा है कि एक वार किसी व्यक्ति ने एक अरव के पुत्र की हत्या कर दी। वह अरव पुत्र-शोक से अत्यन्त दुखी एव क्रोधित होकर अपने पुत्र के घातक से वदला लेने के लिये उसकी खोज मे घूमने लगा।

इधर सयोग ऐसा हुआ कि अरव के पुत्र का घातक जव एक दिन किसी दूसरे शहर मे जाने के लिये रवाना हुआ तो उसे मार्ग मे भयकर गर्मी और प्रचण्ड हवा

के थपेडो से लू लग गई। लू वडी तेज थी अत उसे तीव्र ज्वर हो आया। ज्वर की पीडा से वेचैन होकर उसने समीप ही कही आश्रय लेने का विचार किया और गिरता-पडता, किसी तरह मार्ग मे स्थित एक तम्वू के द्वार पर पहुँचा। किन्तु वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते वह वेहोश हो गया।

कुछ ही समय पश्चात् तम्वू का मालिक वाहर आया और जव उसने देखा कि एक व्यक्ति ज्वराक्रान्त होकर उसके खेमे के दरवाजे पर पडा है तो उसने करुणा से भरकर अविलम्व उसे उठाया और अन्दर ले जाकर लिटा दिया।

पर वडे आश्चर्य की बात यह हुई कि तम्वू का मालिक वही अरव था जो अपने पुत्र के घातक को खोजते-खोजते उस जगल मे रात्रि-विश्राम के लिये खेमा तानकर ठहरा हुआ था, और उसके दरवाजे पर आकर वेहोश हो जाने वाला व्यक्ति उसी के पुत्र का हत्यारा था, जिसे खोजने मे वह अनेक दिनो से वावला वना फिर रहा था।

अरव अपने पुत्र-घाती को अपने ही खेमे मे देखकर खून का प्यासा वन गया और उसकी गर्दन उडा देने के लिए तलवार लेकर प्रहार करने के लिये तैयार हो गया। किन्तु उसी क्षण उसका विवेक जाग्रत हुआ और उसने विचार किया कि मेरे पुत्र का हत्यारा शस्त्र-रहित है, वेहोश है और मेरा अतिथि भी है। ऐसी स्थिति मे चाहे यह दुश्मन ही है यह मेरा, इसे मार डालना उचित नही है। यह विचार मन मे आते ही अरव ने अपनी तलवार पुन म्यान मे रख ली और रुग्ण पुत्र-घातक की सेवा मे जुट गया।

कई दिनो तक रात-दिन जागकर उसने रोगी की सेवा की। पहले तो उसकी मूर्छा दूर होने मे ही काफी समय लग गया और उसके वाद पूर्ण स्वस्थ होने मे भी कई दिन लग गये। अरव ने घातक व्यक्ति की सेवाशुश्रुषा मे कोई कमी नही रखी और उसे इतना स्वस्थ कर दिया कि वह मीलो लम्वी यात्रा करने मे समर्थ वन गया। वह घातक अरव को पहचानता नही था।

पर एक दिन उस अरव ने कहा—"देखो! तुम मेरे पुत्र के हत्यारे हो, और मैं चाहता तो कभी का तुम्हे यमलोक पहुँचा देता। किन्तु शरण मे आए हुए व्यक्ति को और रुग्ण व्यक्ति को मारने की मेरी इच्छा नही हुई। अत मैंने तुम्हे पूर्ण स्वस्थ कर दिया है। अव आज तुम मेरा यह सवमे वलवान एव द्रुतगामी ऊँट ले जाओ और जितनी जल्दी और जितनी दूर भाग सको, भाग जाओ। मैंने अतिथि-सत्कार या सेवा का अपना एक कर्त्तव्य पूरा कर दिया है पर अपने पुत्र की मृत्यु का वदला लेना जो कि मेरा दूसरा कर्त्तव्य है, उसे पूरा करना शेष है। इसलिये अतिथि के नाते मैं तुम्हे यह उत्तम ऊँट देकर भागने का मौका देता हूँ, पर पुत्र की मृत्यु का वदला

लेने के लिये दो घटे के वाद तुम्हारा पीछा करूँगा। अच्छा हो कि तुम मेरी पहुँच के वाहर चले जाओ, अन्यथा मैं तुम्हे पकड कर मार डालूंगा।"

अरव के यह वचन सुनकर और उसका परिचय जानकर घातक की आखें आश्चर्य से मानो कपाल पर चढ गई, किन्तु यह जानकर कि इस महान व्यक्ति ने अपने पुत्र का घातक जानकर भी मेरी इतनी लगन से और इतने दिन तक सेवा की है, उस पर जैसे घडो पानी पड गया। अपने कुकृत्य का स्मरण करके उसे इतना पश्चात्ताप हुआ कि वह एक कदम भी वहाँ से नही उठा सका। उलटे रोते हुए उस अरव के पैरो पर गिर पडा और वोला—

"तुम मनुष्य नही, देवता हो! पर मैं तुम्हारे पुत्र की हत्या जैसा पाप करके अव जीवित रहना भी नही चाहता। दो घटे वाद तो क्या, इसी क्षण अपनी तलवार उठाओ और मेरा सिर घड से अलग कर दो। मैं महापापी हूँ और अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये सहर्ष तैयार हूँ। भाई! तलवार उठाओ तथा इसी क्षण मेरा वध करके मुझे पाप से मुक्त करो।"

घातक के ऐसे वचन सुनने पर क्या वह अरव जिसने अपने महान् शत्रु की भी जी जान से सेवा की थी, उसे मार सकता था? नही। अरव ने अपनी तलवार एक ओर फेंक दी और अत्यन्त उदारतापूर्वक अपने पुत्र के हत्यारे को क्षमा करते हुए हृदय से लगा लिया।

वधुओ, क्षमा का कितना ऊँचा आदर्श इस कथा मे निहित है? क्या कोई साधारण व्यक्ति ऐसी क्षमा को अपने अन्तर मे जगा सकता है? नही, यह केवल महापुरुषो के वश की वात है। वे ही ऐसी उत्तम क्षमा को धारण करके भव-सागर पार कर जाते हैं।

विद्वद्वर्य प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने वारह भावनाओ को लेकर जो 'भावना' नामक पुस्तक लिखी है, उसमे एक स्थान पर आश्रव को रोकने की प्रेरणा देते हुए लिखा है—

> होकर समर्थ जो क्षमा-भाव दिखलाते,
> अपराधी पर भी क्रोध न मन मे लाते।
> समता के सागर मे जो नित्य नहाते,
> भव-सागर को वे शीघ्र पार कर जाते।
> उपशान्त भाव शाश्वत अनन्त सुखदायी,
> कर आश्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी।

कितना सुन्दर उद्‌वोधन है? कहा है—"हे मुक्ति के इच्छुक प्राणी! अगर तुझे शाश्वत एव अनन्त सुख की प्राप्ति करनी है तो समभाव को धारण करके आश्रव को निर्मूल कर।

जो भव्य प्राणी वलवान एव पूर्ण समर्थ होने पर भी अपराधी पर क्रोध न करके उसे क्षमा करते हैं तथा प्रति पल समता के सागर मे अवगाहन करते रहते हैं, वे ही भव-सागर को शीघ्र पार कर सकते हैं।"

इसीलिए हिन्दी के कवि ने कहा है कि—'तू मझधार मे क्यो डूवा जा रहा है, जवकि क्षमा के सहारे से इस भवसागर को सहज ही पार कर सकता है।' आगे भी अपने पद्य मे कवि ने भव-समुद्र को पार करने के उपाय वताये हैं, और वे इस प्रकार हैं—

कर मन धन से पर उपकारा, क्रोध, लोभ तज दे अहकारा।
धर्म पकड तलवार हाथ मे, यम से लड़ने को—क्षमा है तेरे ।।

कहा है—'अगर मानव-जन्म प्राप्त कर लिया है और इसका लाभ उठाना है तो तन, मन और धन से परोपकार कर तथा क्रोध, मान, माया एव लोभ इन कपायो का सर्वथा त्याग कर दे।'

यहाँ एक वात ध्यान मे रखने की है कि मानव का मन वडा चचल एव दुराग्रही होता है और ऐसी स्थिति मे वह एकाएक सयमित नही हो पाता। हमारे पास ऐसे अनेको व्यक्ति आते हैं जो कहते हैं—"महाराज ! क्या करे, मन को वश मे करने की कोशिश करते हैं, किन्तु सफलता नही मिलती। कभी क्रोव न करने का नियम ले लेते हैं तो अभिमान आ जाता है और अभिमान को त्यागने जाते हैं तो लोभ मन पर आक्रमण कर देता है। इस प्रकार कोई न कोई कपाय तो हमेशा मन को घेरे ही रहता है। अव आप ही वताइये कि किस प्रकार इन कपायो का त्याग करे ? कभी कोई और कभी कोई प्रवल हो ही उठता है।"

वधुओ, मन की ऐसी स्थिति प्राय सभी व्यक्तियो की होती है। यद्यपि वे मन के दुर्गुणो से पीछा छुडाना चाहते है, किन्तु वे दुर्गुण इतनी अधिक सख्या मे होते हैं कि जव व्यक्ति एक दुर्गुण को भगाने जाता है तो दूसरी ओर से अन्य कोई दुर्गुण या कपाय मन पर कब्जा कर लेता है। यह समस्या सभी के लिए है। यद्यपि दृढ चित्त वाले साधक या मुनि तो आत्मा के इन सभी शत्रुओ को एक साथ परास्त कर देते हैं तथा अपने मन के दुर्ग-द्वार पर सयम का ऐसा मजवूत ताला जड देते हैं कि कोई भी दुर्गुण या कपाय लाख प्रयत्न करने पर भी उसमे प्रविष्ट नही हो पाता। किन्तु कमजोर मन वाले व्यक्ति के लिए ऐसा करना सभव नहीं होता। पर उनके लिए भी उपाय है, क्योकि ससार की प्रत्येक समस्या का कोई न कोई हल तो होना ही है।

तो कमजोर हृदय वाले व्यक्ति को शुद्ध विवेक एव चतुराई से आत्मा के इन शत्रुओ को जीतना चाहिए। यह किस प्रकार सभव हो सकता है, इस विषय मे मैं एक उदाहरण आपके सामने रखता हूँ।

जाट की बुद्धिमानी

कहा जाता है कि एक जाट के पास काफी जमीन थी और उसमे उसने ककडी और तरबूज बो रखे थे। उस वर्ष पानी अच्छा बरसा था तथा ककडियाँ और तरबूज भारी सख्या मे हुए थे। जाट बडी सावधानी से अपने खेत की रक्षा करता था, क्योकि उसके जीवन-यापन का तरबूज आदि की बिक्री से आया हुआ द्रव्य ही साधन था।

एक दिन वह जाट किसी काम से बाहर गया था, किन्तु जब लौटा तो देखता है कि एक ब्राह्मण, एक राजपूत और एक नाई बडे आनन्द से ककडियाँ और तरबूज खा रहे हैं। वे लोग समीप के मार्ग से गुजर रहे थे और जब ककडियाँ और तरबूजो से लदा खेत देखा तो उनकी इच्छा उन्हें खाने की हो गई।

तीनो ने यह भी देखा था कि खेत का मालिक वहाँ नही है और खेत सूना है। बस, फिर क्या था ? वे मौज से खाने मे लग गये। पर सयोग वश जाट उसी समय वहाँ आ गया। जब उसने देखा कि वे तीन राहगीर मानो अपने बाप का खेत समझ कर निश्चिततापूर्वक ककडी तरबूज खा रहे हैं, तो उसे बडा क्रोध आया। उसकी एक दम इच्छा हो गई कि वह उन्हे मार-मारकर खेत से निकाल दे। किन्तु जाट अकेला था और खाने वाले तीन। ऐसी स्थिति मे उन्हे पीटने की बजाय वह स्वय ही अधिक पिट जाता।

पर इस समस्या को सुलझाना ही था अत कुछ क्षण वह विचार करता रहा। अन्त मे उसकी बुद्धि काम कर गई और उसने एक योजना बनाई। उसके अनुसार वह उन तीनो के पास आया। वेश-भूषा आदि से जाट समझ गया था कि इनमे एक ब्राह्मण है, दूसरा राजपूत और तीसरा नाई।

बडे कौशलपूर्वक नम्रता सहित वह पहले ब्राह्मण के पास गया और उसके चरण छुए। यह देखकर ब्राह्मण देवता फूलकर कुप्पा हो गये। उसके बाद जाट राजपूत के पास गया और उसे मुस्कराते हुए हाथ जोडे। राजपूत भी अपने स्वाभाविक गर्व से तन गया। अब नाई की बारी आई। पर जाट उसके पास जाकर बोला—

"ब्राह्मण, देवस्वरूप होते है अत उन्होंने तरबूज खाये तो कुछ नहीं, और दूसरे ठाकुर साहब हैं अत मेरे मालिक है। ये भी इच्छानुसार जो चाहे खा सकते हैं। किन्तु तू तो जाति का नाई और कमीना है। फिर तूने मेरे तरबूज क्यो खाये ?"

जाट के ऐसे वचन सुनकर तथा अपनी की गई प्रशसा से खुश होकर ब्राह्मण और राजपूत नाई के पक्ष मे कुछ नही बोले तथा आनन्द से तरबूज खाते रहे। पर

नाई घबरा गया और कुछ बोल नही सका। तब जाट ने उसे पकड लिया और एक वृक्ष से बांध दिया। नाई के दोनो साथी तब भी कुछ नही बोले क्योकि एक तो देवता का पद पा गया था और दूसरा स्वामी के समान समझा गया था।

पर जब जाट नाई से निबटा तो वह राजपूत के पास आया और उसे डाँटते हुए बोला—"ब्राह्मण मेरे गुरु हैं, वह चाहे जितने फल खा सकते हैं, पर तुम मेरे क्या लगते हो ? क्यो मेरे खेत मे घुसे ?" राजपूत जाट की इस बात पर कुछ क्रोधित हुआ किन्तु चोरी करते रगे हाथो पकडा गया था अत अधिक विरोध करने का उसमे साहस नही रहा था। अवसर का लाभ उठाकर जाट ने उसे बलपूर्वक पकड लिया और खीच-खाँचकर उसे भी एक दूसरे वृक्ष के साथ बांध दिया।

इधर ब्राह्मण तो ब्राह्मण ही था। दो-दो बार की प्रशसा से वह खूब मगन हो रहा था अत राजपूत के बाध दिये जाने पर भी कुछ न बोला और उसके मोटे दिमाग मे जाट की चतुराई नही घुसी। वह पूरी निश्चिन्तता से तरबूज खाने मे लगा रहा। उलटे सोचने लगा—"बँध जाने दो सालो को, अब तो मैं और भी आदरपूर्वक जाट का सत्कार प्राप्त करूँगा। क्योकि मैं मेहमानदारी के लिए अकेला ही बचा हूँ।"

पर ब्राह्मण-देवता के मन की मन मे ही रह गई और जाट राजपूत को भी खूब कसकर बाध चुका तो ब्राह्मण के पास आया तथा आखें निकालकर बोला—

"अब तू बता कि मेरे खेत मे क्यो घुसा ? क्या यह खेत तेरे बाप का है, जो आनन्द से ककडी, तरबूज खाने बैठ गया ? खाना ही था तो मुझसे माग लेता। तू तो दान लेता है, फिर मेरे खेत मे चोरी क्यो की ?"

अब ब्राह्मण देवता क्या बोलते ? उनका देवत्व और गुरुत्व सब छिन गया, ऊपर से चोर की पदवी मिली। वैसे ही वे डरपोक थे और अब तो उनके दोनो साथी भी वृक्षो मे बँधे हुए थे। किस बूते पर वे जबान खोलते ? जाट ने उन्हे भी तीसरे वृक्ष से बाधा और उसके बाद तीनो मेहमानो की डण्डे मे पूरी खातिरी की। पिटते-पिटते जब उनकी अकल ठिकाने आई और वे बार-बार क्षमा माँगने लगे तो जाट ने उन्हे छोडा और खेत से बाहर निकाल दिया।

तो बधुओ, जाट के उदाहरण से मैं आपको यह बता रहा था कि उसने जिस प्रकार अपनी चतुराई और विवेक से स्वय अकेले होते हुए भी तीन व्यक्तियो को परास्त कर दिया, उसी प्रकार आत्मार्थी साधक अपने साहस, बुद्धि और विवेक के द्वारा कषाय एव राग-द्वेषादि आत्मा के समस्त शत्रुओ को जीत सकता है। पर इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता है। अभ्यास करते-करते व्यक्ति अगर एक-एक दुर्गुण के पीछे पड जाय तो वह क्रमश सभी को नियन्त्रण मे रख सकता है।

मूर्ख और अज्ञानी पुरुष कूप-मण्डूक के समान होते हैं। उन्हे यह भान नहीं होता है कि ससार के इन भौतिक पदार्थों के सुख से परे भी और कोई सुख है जो सदा शाश्वत रहता है और जिसकी तुलना मे सासारिक सुख कुछ भी नही के समान हैं। वे सदा सासारिक सफलताओ के लिए ही प्रयत्नशील रहते हैं। उनकी इच्छाएं आकाक्षाएँ और अभिलाषाएँ केवल जगत के पदार्थों तक ही सीमित रहती हैं।

ऐसे व्यक्तियो के भावो को गीता मे इस प्रकार चित्रित किया गया है—

आशापाशशतैर्बद्धाः　　कामक्रोधपरायणा ।
ईहन्ते　कामभोगार्थमन्यायेनार्थ　सञ्चयन् ॥
इदमद्य मया लब्धमिम प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि　मे　भविष्यति　पुनर्धनम् ॥

अर्थात्—सैकडो अभिलाषाओ के पाश मे बँधे हुए, क्रोध मे परायण, काम-भोगों की पूर्ति के लिए धन आदि भोगोपभोगो के पदार्थों का सचय करने की चेष्टा मे रहते हैं। वे कहते हैं—'आज मैंने यह पा लिया है और अब अमुक मनोरथ को पूर्ण करूंगा। इतना धन तो मैंने कमा लिया है तथा इतना अब और कमाऊँगा।'

ऐसे व्यक्ति भला धर्म के महत्व को कैसे समझ सकते हैं, और किस प्रकार अपने हृदय मन्दिर को कामभोगो एव विषय-कषायो से रिक्त करके आत्मा के शुभ्र सिंहासन पर धर्म को आसीन कर सकते है। वे तो इन्द्रियो के दास बने रहते है और उन्हे तृप्त करना ही जीवन की सार्थकता मानते हैं।

किन्तु हमारे चालू भजन की अगली गाथा मे स्पष्ट कहा गया है—

पांच चोर बसते इस तन मे, मिल कर लूटेंगे इक छिन मे।
मत धोखे मे फँसो, मिले हैं गांठ कतरने को—क्षमा है ॥

पद्य मे शरीर को एक नगर की उपमा देते हुए कहा है कि इसमे पाँच बडे जबर्दस्त चोर निवास करते हैं। वे हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय एव रसना-इन्द्रिय।

मनुष्य अगर पूर्वकृत कुछ पुण्यो के द्वारा थोडा-सा ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य एव तप-जप रूपी धन इकट्ठा कर भी लेता है तो पाँचो चोर मौका पाते ही उसे क्षण भर मे लूट लेते हैं। मनुष्य की गाँठ कतरने के लिए और उसे धोखे मे डालने के लिए इनकी साठ-गांठ रहती है। जहाँ इनमे से एक भी स्थान बनाता है, अन्य चारो भी

इसीलिए कवि ने इनसे बचने के लिए कहा है और इनसे दूर रहने का उपाय केवल इन्द्रियो पर पूर्ण सयम रखना यानी इन्हे अपने कब्जे मे रहना है। ऐसा न करने पर ये कभी भी मनुष्य को अपनी मजिल तक जिसे हम मुक्ति कहते है, पहुँचने नही देगी।

मुनि इन चोरो को पहचान लेते हैं और इसीलिए पाँचो इन्द्रियो की तरफ से सर्वथा विमुख होकर रूक्ष भाव अपनाते है। अपने रूखे स्वभाव के कारण ही वे शरीर की ममता त्याग देते हैं तथा स्पर्शेन्द्रिय की तनिक भी परवाह न करते हुए 'तृण-परिषह' को पूर्ण शाति एव सतोष से समतापूर्वक सहन करते हैं।

इस विषय मे कही हुई श्री उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा मे बताया है कि आतप से होने वाली वेदना की तनिक भी परवाह न करके मुनि वस्त्रादि का सेवन नही करते। यहाँ आतप से तात्पर्य ग्रीष्म एव शीत दोनो से लिया जा सकता है। सयमी मुनि ग्रीष्म एव शीत, दोनो ही आतपो से व्याकुल नही होता तथा तृणादि के स्पर्श से होने वाले परिषह का पूर्ण दृढता एव समता से सामना करता है। यही सवर का मार्ग है और इस मार्ग पर चलने वाला अन्त मे अजर-अमर पद प्राप्त करता है। ❀

२३ | न शुचि होगा यह किसी प्रकार

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

सवर तत्त्व के पच्चीस भेदो का वर्णन किया जा चुका है। इनमे आए हैं—पाँच समिति, तीन गुप्ति और सत्रह परिषह। अव सवर के छब्बीसवें भेद या अठारहवें परिषह के विषय मे वताया जायेगा। इस परिषह का नाम है—'जल्ल परिषह।'

इस विषय मे 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय मे छत्तीसवी गाथा दी गई है। गाथा इस प्रकार है—

> किलिन्नगाए मेहावी, पकेण व रएण वा।
> घिसु वा परियावेण, साय नो परिदेवए ॥

अर्थात्—प्रस्वेद के कारण शरीर गीला हो गया है अथवा कीचड रूप हो गया हो तथा रज से या गीष्म और शरद ऋतु के परिताप से शरीर पर मल जम गया हो तो भी वुद्धिमान साधु सुख की इच्छा न करे।

'मेहावी' मागधी भाषा का शब्द है और सस्कृत मे मेधावी यानी 'धीर धारणावती मेधा।' तो मेधावी अर्थात् वुद्धिमान व्यक्ति को यह विचार नही करना चाहिये कि मेरे शरीर पर मैल इकट्ठा हो गया है और तीव्र गरमी या धूप के कारण शरीर पर पसीना आ जाने से यह गीला तथा चिपचिपा हो रहा है। शरीर के प्रति ग्लानि की ऐसी भावना का आना सवर के मार्ग से विचलित होना है। धूप का पडना और उससे गर्मी पैदा होना प्राकृतिक है। इसलिए पूर्ण समभाव से उसे सहन करना चाहिये तथा पसीने से घवराकर आत्मा मे खेद या दु ख का अनुभव नही करना चाहिए।

सस्कृत के एक श्लोक मे वताया गया है कि यह जीवात्मा पदार्थ को जिस रूप मे लेने की इच्छा करे उसी रूप मे ले सकता है। महापुरुष तो वुराई मे से भी अच्छाई लेते हैं।

श्लोक इस प्रकार है—

> गुणायन्ते दोषा सुजन वदने दुर्जन मुखे,
> गुणा दोषायन्ते तदिदमपि नो विस्मयपदम्।

महामेघ. क्षार पिवति कुरुते वारि मधुरम्,
फणी क्षीर पीत्वा वमति गरल दुस्सहतरम् ।।

कहा गया है—सज्जन के मुंह मे पहुँच कर दोष गुण वन जाते है तथा दुर्जन के मुंह मे पहुंचने से गुण भी दोष वन जाते है, यह कोई विस्मयपूर्ण वात नही है । क्योकि हम देखते हैं—मेघ समुद्र का खारा जल पीते हैं, किन्तु उसे मीठा बनाकर वरसाते हैं और इसके विपरीत सर्प दूध पीता है पर उसे विष वनाकर उगलता है ।

इसी तरह के और भी अनेको उदाहरण दिये जा सकते हैं । यथा—सोमिल ब्राह्मण ने गजसुकुमाल को मरणान्तक कष्ट दिया, पर उन्होने सोमिल को अपने समस्त कर्मों को नष्ट कराने वाला हितैषी समझा । महासती चन्दनवाला को सेठानी मूलावाई ने हथकड़ियो और वेडियो से जकडकर तलघर मे डाल दिया, किन्तु भगवान को उडद के वाकुले आहार-दान के रूप मे देने पर जव घर मे सुवर्ण-वृष्टि हुई और मूलावाई को पश्चात्ताप हुआ तो चदनवाला ने यही कहा - "माताजी ! आपकी कृपा से ही यह सव हुआ ।" इसी प्रकार सेठ सुदर्शन को अभयारानी ने झूठा कलक लगाकर सूली पर चढवाने का प्रवन्ध कर दिया किन्तु जव सूली टूटकर सिंहासन बन गई और देवो ने "अहो शीलम्" "अहो शीलम्" कहकर पुष्प वृष्टि की तो रानी, राजा एव सभी ने अपने अपराधो के लिए क्षमा मांगी, पर सुदर्शन सेठ ने किसी की भी गलती नही मानी अपितु सभी को अपना सहायक समझा ।

कहने का आशय यही है कि सज्जन या महापुरुष औरो के दोषो को भी गुण के रूप मे ग्रहण करते हैं किन्तु दुर्जन व्यक्ति गुणवानो के गुणो को भी दोष मानते हैं ।

इस सम्वन्ध मे एक श्लोक कहा गया है—

जाड्य ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ—
दम्भ शुचौ कैतवम् ।
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता,
दैन्य प्रियालापिनि ।।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता,
वक्तु न्यशक्ति स्थिरे ।
तत्को नाम गुणो भवेत् स गुणिना,
यो दुर्जनै न लाञ्छित ?

इस श्लोक मे बताया गया है कि दुर्जन व्यक्ति किसे दोषी नही बताते ? अर्थात् वे प्रत्येक मे अवगुण ही देखते है । जैसे समझदार एव विवेकी पुरुष किसी को

कटु एव अविवेकपूर्ण वात का उत्तर नही देता है तो दुष्ट व्यक्ति उसे जड या वुद्धिहीन कहते है । वे कह देते हैं—इसमे अकल ही कहाँ है उत्तर देने लायक ।

इसी प्रकार अगर कोई धर्मप्रेमी और आत्मा का हितैषी व्यक्ति त्याग को अपनाता है या व्रत ग्रहण करता है, तो भी दुर्जन व्यक्ति उसे दम्भी या ढोंगी कहकर पुकारते हैं । ऐसे व्यक्तियो से पूछा जाय, कि औरो के त्याग-व्रतो से तुम्हे क्या कष्ट होता है और फिर तुम्हे उससे लेना-देना भी क्या है ? व्यर्थ मे निन्दा करने से आखिर मिलता ही क्या है ? पर आदत जो ठहरी । दोष-दर्शन की लत भी और लतो के समान ही होती है, जिसके बिना उनका खाना पचना कठिन हो जाता है ।

दुर्जन व्यक्ति शूरवीरो को निर्दयी एव हत्यारा कहते हैं तथा मुनियो को कायर बताते है । उनका कथन यही होता है कि साधु वनने मे क्या कष्ट है ? न तो उन्हे कोई कार्य ही करना पडता है और न कमाई । दोनो जून तैयार और उत्तम भोजन सीधा मिल जाता है तथा पहनने के लिए वस्त्रो की सहज ही उपलब्धि हो जाती है । और इसके अलावा सेवा करने के लिए शिष्य होते हैं तथा पूजा-प्रतिष्ठा लोग करते ही हैं । फिर साधु वनने मे तकलीफ ही क्या है ?

तो दुर्जन व्यक्ति जिन्होने साधु-मार्ग पर एक कदम भी नही रखा है वे ही ऐसा प्रलाप करते हैं । पर उस जीवन मे कितनी गहराई है ? कितना त्याग है ? कितने परिपहो का कष्ट है एव मन पर कितना नियन्त्रण रखा जाता है, इसे वे नहीं समझते । ऐसे व्यक्तियो से अगर यह कह दिया जाय कि साधु-जीवन बडा आनन्दप्रद है तो आओ, तुम भी साधु बन जाओ । तो सभवत वे उसी क्षण भाग खडे होंगे । साधु वनना सहज नही है । वे कैसे होते है इस विपय मे कहा गया है—

निम्ममो निरहकारो, निस्सगो चत्तगारवो ।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दापससासु, तथा माणावमाणओ ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—सत वही है जिसने ममता को मार डाला है, अहकार को नष्ट कर दिया है, सव प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया है, वड़प्पन को छोड दिया है, जो स्थावर एव जगम प्राणिमात्र के पति समान भाव रखता है, जो लाभ तथा हानि मे, सुख और दु ख मे, जीवन-मरण मे तथा निन्दा-प्रशसा, मान और अपमान मे एक-सा रहता है ।

इन वातो से स्पष्ट है कि साधु का जीवन कितना उत्कृष्ट एव तप-त्यागमय होता है । क्या ऐसे सत कभी आजीविका के उपार्जन से घवराकर अथवा अपनी

सासारिक जिम्मेदारियो मे ऊबकर सयम का ढोग कर सकते है ? कभी नही, बडे-बडे राजा-महाराजाओ तथा चक्रवर्तियो ने अपने असीम वैभव को ठोकर मारकर जो मुनिवृत्ति अपनाई, वह क्या किसी कायरपने की भावना से या सासारिक झझटो की चिन्ताओ से घबराकर अपनाई ? नही, मुनिवृत्ति का, सयम का मार्ग केवल विरक्ति से अपनाया है या कर्मों का नाश करके सदा के लिए जन्म-मरण के चक्र से छूटने की इच्छा से ।

लेकिन दुर्जनो मे यह सब समझने का विवेक कहाँ होता है ? वे तो केवल दोष-दर्शन ही करते है तथा सतो को दभी या पाखडी मानते हैं । पवित्रता को वे कपट कहते हैं और प्रिय वचनो को दीनता । वे नही जानते कि मधुर भाषण करना स्नेह एव विनय का सूचक होता है । हमारे 'दशवैकालिक सूत्र' मे कहा गया है—

हिअ-मिअ अफरुसवाई, अणुवोइभासि वाहओ विणओ ।

अर्थात्—हित, मित, मृदु एव विचारपूर्वक बोलना वाणी का विनय है ।

दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि वाणी के द्वारा मनुष्य के उत्तम या जघन्य होने की पहचान होती है । वाणी एक ऐसी कसौटी है, जिस पर मनुष्य की कुलीनता और अकुलीनता की भी परख हो जाती है ।

कहते हैं कि एक बार एक राजा और उसके साथ रहने वाला नौकर दोनो घोर वन मे भटक गए तथा बहुत खोजने पर भी उन्हे मार्ग नही मिला ।

किन्तु सयोग से एक स्थान पर छोटी-सी झोपडी दिखाई दी, जिसके बाहर एक अन्धी वृद्धा बैठी हुई थी । उसे देखकर राजा ने नाई से कहा—'जाकर उस वृद्धा से मार्ग पूछ आओ कि हमे यहाँ से किस दिशा मे जाना चाहिए ताकि नगर का मार्ग मिल जाय ।'

नाई महाराज की आज्ञानुसार झोपडी के पास गया और वृद्धा को सम्बोधित कर बोला—"ए बुढिया ! बता कि यहाँ से शहर जाने के लिए किस दिशा मे जाना चाहिए ?"

वृद्धा ने नाई की बात सुन ली पर उत्तर कुछ नही दिया । जब नाई ने राजा से यह बात बताई तो राजा स्वय झोपडी के पास गया और बोला—"माताजी ! हम लोग इस जगल मे भटक गये हैं, मेहरबानी करके हमे बताओ कि किस ओर जाने पर हमे नगर के लिए रास्ता मिल सकेगा ?"

वृद्धा यह सुनकर बोली—"महाराज ! अपने नाई से कहिये कि वह आपको मेरी झोपडी के पिछवाडे मे होकर ले जाए । कुछ दूर जाने पर ही आपको शहर मे पहुँचाने वाली पगडडी मिल जाएगी ।"

राजा को मार्ग की जानकारी होने पर असीम प्रसन्नता हुई किन्तु महान् आश्चर्य इस बात से हुआ कि अन्धी वृद्धा ने मुझे राजा समझ कैसे लिया ? अत वह पूछ बैठा—"माता ! तुम्हे दिखाई तो नही देता, फिर भी तुमने यह कैसे जान लिया कि मै राजा हूँ और मेरे साथ नाई है ?"

वृद्धा ने उत्तर दिया—"हुजूर ! आपका नाई मुझसे बडी अभद्रता से बोला था, इससे मैंने जान लिया कि यह अवश्य ही राजा का कोई नौकर या नाई होगा। किन्तु आपकी वाणी की मधुरता और सम्मानपूर्ण वचनो से मैंने समझ लिया कि आप निश्चय ही महाराज है । क्योकि कुलीन एव महापुरुष कभी तुच्छतापूर्ण वचनो का प्रयोग नही करते ।"

तो बन्धुओ, मैं आपको दुर्जन व्यक्तियो के विषय मे बता रहा था कि वे प्रत्येक व्यक्ति मे दोष ढूंढा करते है और इतना ही नही, वे तो गुणी पुरुष के गुणो को भी दोष मानते हैं । ऐसे व्यक्ति मधुरभाषी को दीन कहते है, साथ ही कायर कहने से भी नही चूकते । श्लोक मे आगे कहा है—

'मुखरता वक्तु न्यशक्ति स्थिरे ।'

अर्थात्—अगर व्यक्ति अच्छा वक्ता होता है यानी किसी भी विषय का सुन्दर तरीके से समझा सकता है और भिन्न-भिन्न प्रकार से उसकी विवेचना करके श्रोता के दिमाग मे विषय को स्पष्ट करके बैठाने की क्षमता रखता है तो दुष्ट व्यक्ति उसे वाचाल कहते हैं ।

अगर बोलना बुरा माना जाए तो सत-महापुरुष अपने ससर्ग मे आने वाले प्राणियो को आत्म-शुद्धि का मार्ग अथवा भगवान की आज्ञाओ को किस प्रकार श्रोताओ को समझा सकते है ? हमारे गुरुजनो ने जिस प्रकार हमे जिनवाणी का रहस्य समझाया, हम भी उसी प्रकार अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार आपको समझाने का प्रयत्न करते हैं । वाचालता जिसे कहते हैं, उसका तो भगवान ने भी निषेध किया है ।

दशवैकालिक सूत्र मे स्पष्ट कहा गया है—

दिट्ठ मिय असदिद्ध, पडिपुन्न वि अजिय ।
अयपिरमणुव्विग्ग, भास निसिरअत्तव ॥—८-४९

अर्थात्—आत्मार्थी साधक अनुभूत, परिमित, सन्देहरहित, परिपूर्ण एव स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे पर सदा यह ध्यान रखे कि वह वाचालता से रहित तथा औरो को उद्विग्न करने वाली वाणी न हो ।

कहने का अभिप्राय यही है कि वक्ता को वाचाल कहना दुर्जन या निंदक का ही कार्य है। वह वक्ता को वाचाल कहता है और जो अधिक नही बोलता तथा चल-विचल न होता हुआ अपनी साधना मे स्थिर रहता है, उसे अशक्त कहता है। उसे स्थिरता गुण न दिखाई देकर दोष मालूम देता है।

श्लोक का साराश यही है कि दुर्जन व्यक्ति गुणियो के किस गुण को लाछित नही करता ? यानी प्रत्येक गुण को वह दोप मानता है तथा उसको लाछित करता है। किन्तु सत-महापुरुष ऐसे व्यक्तियो के कथन की तनिक भी परवाह न करते हुए अपने मार्ग पर दृढतापूर्वक गमन करते रहते हैं। जिस प्रकार हाथी कुत्तो के भोकने की परवाह न करता हुआ धीर गति से अपने गन्तव्य की ओर बढता रहता है, तनिक भी विचलित नही होता, उसी प्रकार साधु-पुरुप निंदको की परवाह न करता हुआ सुमार्ग पर या साधना के मार्ग पर बढता चला जाता है।

जो साधक सच्चे अर्थो मे सयम रूपी रस का आस्वादन कर लेता है, वह निन्दा को भी परिषह मानकर उस पर विजय प्राप्त करता है। हमारा आज का विषय भी परिषह पर ही चल रहा है। इसमे अठारहवें "जल्ल परिपह' का वर्णन है। बताया गया है कि भयानक ग्रीष्म ऋतु मे होने वाले परिताप के कारण भले ही साधु के शरीर पर अत्यधिक प्रस्वेद आ जाय और उस पर रज के जम जाने से वह कीचड के समान असह्य महसूस होने लगे, तब भी आत्मार्थी साधु यह विचार न करे कि कब यह कीचड रूपी मल दूर होगा और मुझे सुख की प्राप्ति हो सकेगी ? ऐसी भावना उसे व्यक्त या अव्यक्त रूप मे इसलिए नही करनी चाहिए, क्योकि वह अपने शरीर का ममत्व सर्वथा त्याग देता है तथा केवल आत्मिक सुख की ओर ही अपना लक्ष्य बनाए रहता है। ऐसी स्थिति मे शरीर पर शृ गार हो तो क्या और न हो तो क्या ? शरीर स्वच्छ हो तो क्या और उस पर प्रस्वेद तथा धूल के जम जाने से वह मलयुक्त हो तो क्या ?

सच्चे संयमी या मुनि तो ससार से सर्वथा विरक्त रहते है तथा भयानक से भयानक परिपहो के आ उपस्थित होने पर भी अपने साधना-मार्ग से विचलित न होते हुए प्राणो का परित्याग करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। उनके लिए प्रस्वेद या उस पर जमी हुई रज से होने वाला कीचड रूपी मल क्या चीज है ? वे तो शरीर से सर्वथा उदासीन रहते हुए केवल आत्मा पर जमे हुए कर्म-रूपी को मल हटाने का प्रयत्न करते हैं, ताकि उनकी आत्मा को पुन-पुन जन्म-मरण न करना पडे और न ही पुन-पुन शरीर धारण करके आत्मा को इस शरीर-रूपी कारागार मे कैद रहना पडे। ऐसे विवेकशील विचारो के कारण ही वे इन जड शरीर की स्वच्छता का ध्यान न रखते हुए आत्मा की स्वच्छता मे लगे रहते है। कहा भी है—

सागर का सारा जल लेकर, धो डालो यह देह,
फिर भी बना रहेगा ज्यों का त्यों अशुद्धि का गेह ।
न शुचि होगा यह किसी प्रकार, हंस का जीवित कारागार ।

'जल्ल परिषह' का सामना करने के लिए कवि शोभाचन्द्र भारिल्ल ने कितनी सुन्दर प्रेरणा देते हुए कहा है—यह शरीर जोकि आत्मा रूपी हंस के लिए कारागार के समान है, जब तक विद्यमान रहेगा, सदा अशुद्ध ही बना रहेगा। भले ही किसी समुद्र का सम्पूर्ण जल लेकर इसे निरन्तर धोया जाय, पर यह अशुद्धि का घर तो किसी भी प्रकार और कभी भी शुद्ध नहीं होगा।

जो विचारशील संत इस बात को भली-भाँति समझ लेंगे वे ही इस परिषह का पूर्ण समभाव पूर्वक सहन करते हुए अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकेंगे। ❁

२४ अस्नानव्रत

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

कल से हमारा विषय 'जल्ल-परिषह' को लेकर चल रहा है। यह सवर तत्त्व के सत्तावन भेदो मे से अठारहवाँ परिषह है। इस विषय मे कल 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' की छत्तीसवी गाथा कही गई थी और आज सैंतीसवी गाथा को लेकर अपने विचार आपके सामने रखा रहा हूँ। गाथा इस प्रकार है—

> वेएज्ज निज्जरापेही, आरिय धम्ममणुत्तर।
> जाव सरीरभेओत्ति, जल्ल काएण धारए॥
>
> —अध्ययन २, गा ३७

अर्थात्—कर्मों की निर्जरा का इच्छुक साधु मल परिषह को शातिपूर्वक भोगे और जव उसने आर्य धर्म का पूर्ण रूप से अनुसरण किया है तो जव तक शरीर का भेद यानी इसकी स्थिति है, तव तक प्रस्वेद जन्य मल को समभाव पूर्वक धारण किये रहे।

इस गाथा मे वडा गम्भीर रहस्य छिपा हुआ है और वह इन शब्दो मे है— 'आरिय धम्मणुत्तर।' अर्थात् जव साधु ने श्रुत और चारित्र रूप प्रधान आर्य धर्म का अनुसरण किया है तो उसे सम्यक् ज्ञान पूर्वक सकाम निर्जरा करनी चाहिए। अगर उसमे सम्यक् ज्ञान का अभाव है तो वह भले ही अपने शरीर को रज और मल से लिप्त रहने दे तथा वर्षों तक पचाग्नि तप करे किन्तु आत्मा को ससार-मुक्त नही कर सकता। क्योंकि वह अज्ञान तप कहलाता है और ऐसे तप को जैनागम महत्त्व नही देते।

शास्त्रो की तो स्पष्ट घोषणा है—

> ज अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुयाहि वास कोडिहि।
> त नाणी तिहि गुत्तो, खवेई उस्सासमित्तेण॥
>
> —भग० ३।१।११।८

अर्थात्—हजारो वर्षों तक तप करने पर भी अज्ञानी जितने कर्मों का क्षय नही कर पाता, उतने कर्मों को ज्ञानी एक श्वास मात्र मे ही नष्ट कर देता है।

इसलिये जो साधु समभाव एव ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण परिषहो को सहन करते हुए शरीर के ममत्व का त्याग कर अपने शरीर की प्रस्वेदजन्य मल सहित स्थिति वना लेते हैं वे निस्सदेह महान कर्मों का नाश करके उस उत्कृष्ट स्थिति पर जा पहुँचते हैं जो मोक्ष मे सहायक वनती है। उनकी कर्म-निर्जरा सकाम-निर्जरा कहलाती है, अकाम-निर्जरा नही। अकाम निर्जरा करने से भले ही जीव को स्वर्ग-सुख हासिल हो जाय, किन्तु न उसे वहाँ सच्चा सुख मिलता है और न ही जन्म-मरण से मुक्ति की सभावना ही रहती है। कहा भी है—

कभी अकाम निर्जरा करे, भवनत्रिक मे सुरतन धरे।
विषय चाह दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो।

पद्य मे स्पष्ट है कि अगर जीव कभी अकाम निर्जरा करता है तो उस निर्जरा के प्रभाव से भवनवासी, व्यन्तर अथवा ज्योतिषी देवो मे से कोई देव वन जाता है। किन्तु वहाँ उसका हाल क्या होता है? यही कि वहाँ भी वह पाँचो इन्द्रियो के विषयो की इच्छा रूपी अग्नि मे झुलसता रहता है और जव वहाँ का आयुष्य पूरा होने को होता है यानी उसकी मदारमाला मुरझाने लगती है तथा शरीर एवं आभूषणो की कान्ति मलिन होने लगती है तो वह अपने अवधिज्ञान के द्वारा मृत्यु काल निकट समझ कर अत्यन्त दु खी होता है और नाना प्रकार से विलाप करता हुआ कर्मों का भार वढा लेता।

इसी कारण भगवान का आदेश है कि साधु कभी शीतोष्ण आतापादि से खिन्न न हो, भूख और प्यास के परिषहो से विचलित न हो तथा शरीर चाहे प्रस्वेद, रज एव मल आदि से कितना भी लिप्त क्यो न हो जाय, उसे धोकर स्वच्छ करने की अभिलाषा न करे। वह सदा यही चिन्तन करे कि इस शरीर के नव द्वार तो सदा चलते रहते है अत हजार वार धोने पर भी इसे शुद्ध नही किया जा सकता। शरीर का तो निर्माण ही कैसी अशुद्ध वस्तुओ से हुआ है, इस विषय मे कहा गया है—

रुधिर, मास, चर्वी पुरीष की है थैली अलवेली,
चमडे की चादर ढकने को सव शरीर पर फैली,
प्रवाहित होते हैं नव द्वार, हस का जीवित कारागार ॥

कल भी मैंने कवि के कथानुसार कहा था कि आत्मा रूपी हस के लिए कारागार के समान जो शरीर है, वह समुद्र का सम्पूर्ण जल लेकर धोने पर भी कभी

शुद्ध हो भी कैसे ? जिसे हम शरीर कहते हैं तथा बडा सुन्दर मानते है, यह चमडे की एक थैली ही तो है जिसमे रक्त, मास, चर्वी और पुरीप भरा हुआ है तथा नौ द्वार भी निरन्तर अशुद्ध चीजो को वहाते रहते है। भला यह पुन पुन या असख्य वार धोने पर भी शुद्ध हो सकता है क्या ? फिर घृणित वस्तुओ से भरे हुए ऐसे शरीर को साधु ऊपर से मल लग जाने पर उसे धोने की आकाक्षा किसलिये करे ? उसे तो इसका यथार्थ रूप समझकर इससे सर्वथा उदासीन रहना चाहिए।

तो वन्धुओ, कहने का अभिप्राय यही है कि जो साधु आत्मार्थी होते हैं वे शरीर को शुद्ध वनाने की अपेक्षा आत्मा को शुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। शरीर-शुद्धि की अपेक्षा उन्हे आत्म-शुद्धि अनन्त गुनी लाभदायक महसूस होती है। आप लोग व्यापारी है और प्रत्येक व्यापारी ऐसी ही वस्तु का व्यापार करना पसन्द करता है, जिसमे अधिक लाभ की सम्भावना हो। मुनि भी आध्यात्मिक दृष्टि से व्यापारी कहला सकते हैं अत वे भी जो कुछ करते है अधिक लाभ की आकाक्षा को लेकर करते हैं। आप सासारिक पदार्थों का व्यापार करके अधिक धन का लाभ चाहते है और सन्त अपनी साधना, ध्यान, चिन्तन एव मनन आदि के द्वारा अधिकाधिक कर्म-निर्जरा का लाभ उठाने के प्रयत्न मे रहते है। वे श्रुत और चारित्र रूप प्रधान आर्य-धर्म को ग्रहण करने के पश्चात् घाटे मे रहना पसद नही करते। ऐसी स्थिति मे अगर शरीर के क्षणिक सुख की ओर उनका ध्यान रहे तो निश्चय ही उन्हे घाटा या हानि होती है अत इसकी ओर से वे विरक्त या उदासीन रहकर आत्मा के सुख रूपी अक्षय लाभ की ओर दृष्टि रखते हैं। आप व्यापारियो का लक्ष्य धन है और मुनियो का लक्ष्य मोक्ष। मुनिराज आर्य धर्म को अपनाने के पश्चात् अनार्य वृत्ति की ओर दृष्टिपात नही करते।

आर्यत्व कैसे स्थिर रहे ?

ठाणाग सूत्र मे जाति, कुल, ज्ञान, मन, वचन, काया, एव चरित्र आदि नौ प्रकार के आर्य वताए गए हैं। इस दृष्टि से मन, वचन एव शरीर की वृत्ति को सम्हालना भी आर्यत्व को स्थिर रखने के लिये आवश्यक है। उन्हे काबू मे रखने पर ही साधक अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

सन्त तुलसीदासजी ने शरीर को खेत एव मन, वचन तथा कर्म को किसान वताते हुए कहा है—

> तुलसी ये तनु खेत है, मन, वच कर्म किसान।
> पाप पुण्य दोऊ बीज हैं, बये सो लवे सुजान॥

दोहा सीधी और सरल भाषा मे कहा गया है, किन्तु इसके द्वारा शिक्षा वडी गम्भीर एव आत्म-हित को नजर मे रखते हुए दी गई है। तुलसीदासजी का कथन है

कि मानव शरीर एक खेत के समान है अत इसे बजर न रखकर इससे लाभ उठाना चाहिये। उन्होंने कहा है—इस शरीर रूपी खेत के किसान मन, वचन एव कर्म हैं तथा इसमे बोये जाने वाले दो प्रकार के बीज है, पाप और पुण्य। सरल भाषा मे कही गई इस बात मे उन्होंने सहज ही बता दिया है कि मन, वचन और कर्म रूपी तीनो किसान अपने शरीर रूप खेत मे चाहें तो पाप के बीज बोकर अपने ससार को बढा सकते हैं और चाहे तो पुण्य रूपी बीज वपन करके ससार को कम कर सकते है।

एक किसान अपने खेत मे जिन बीजो को डालता है उसी की फसल प्राप्त करता है। वह बाजरी बोकर गेहूँ नही पा सकता और चने बोकर चावल हासिल नही कर सकता। इसी प्रकार मन, वचन एव कर्म रूपी किसान पाप के बीज डालकर पुण्य रूपी फसल प्राप्त नही कर सकते अर्थात् पाप-पूर्ण कार्य करके स्वर्ग और मोक्ष हासिल नही किया जा सकता है। अगर हमे जन्म-मरण से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना है तो अनिवार्य रूप से मन, वचन एव क्रिया के द्वारा इस शरीर की सहायता से पुण्य एव निर्जरा के कार्यों को करना पडेगा। जैसे भी कर्म किये जाएँगे, वैसा ही फल प्राप्त होगा, इसमे फर्क नही हो सकता। हमारा आर्य होना भी तभी सार्थक होगा जबकि हम दानवी वृत्ति का त्याग करके ब्रह्मवृत्ति को अपनाएँगे तथा अपनी आत्मा को परमात्मा बना लेंगे।

मनुष्य की वृत्तियाँ

आप विचार करेंगे कि जब हम मनुष्य है तो हमारी वृत्ति मनुष्य-वृत्ति के अलावा और कौन-सी हो सकती है? पर ऐसी बात नही है। भले ही मनुष्य, मनुष्य है पर उसमे वृत्तियाँ तो अनेक प्रकार की होती हैं और वे वृत्तियाँ ही उसके परलोक का निर्माण करती हं। अगर मनुष्य की वृत्तियाँ एक जैसी ही हो तो सारे ही मनुष्य मरकर एक ही स्थान पर यानी नरक मे, स्वर्ग मे या मोक्ष मे चले जाँय। पर क्या ऐसा होना सभव है? नही, मन बडा चचल और विलक्षण होता है तथा उसे अकुश मे न रख पाने पर या अकुश मे रखने पर मानव की वृत्तियो मे अन्तर आ जाता है। ये वृत्तियाँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं, किन्तु आज मैं मुख्य रूप से चार वृत्तियो के बारे मे आपको बताता हूँ। इन चार वृत्तियाँ मे पहली है दानवी, दूसरी मानवी, तीसरी दैवी और चौथी ब्रह्मवृत्ति है।

एक पद्य मे इनके विषय मे कहा गया है—

दानवी वृत्ति का है यह लक्षण मेरा सो मेरा है तेरा भी मेरा है।
मानवी वृत्ति का है यह लक्षण, मेरा सो मेरा है तेरा सो तेरा है॥
दैवी वृत्ति का है यह लक्षण, तेरा तो तेरा है मेरा भी तेरा है।
ब्रह्मवृत्ति मे अधेरा मिटा सब, झूठा बखेडा न तेरा न मेरा है॥

(१) दानवी वृत्ति

अभी बताई हुई चारो वृत्तियो मे से दानवी वृत्ति सबसे निकृष्ट एव वैर को जन्म देने वाली है। जिन व्यक्तियो के हृदय मे यह वृत्ति पनप जाती है वे न स्वय चैन लेते हैं और न दूसरो को ही चैन लेने देते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने धन की तो सर्प के समान चौकसी करते ही है, सदा दूसरो का धन हडपने की कोशिश मे भी लगे रहते हैं। दानवी वृत्ति के कारण ही ससार मे सदा से झगडे-फसाद एव भयानक युद्ध होते चले आए हैं। एक व्यक्ति दूसरे के धन को भी अपने कब्जे मे लेने का प्रयत्न करता रहा है और एक राजा दूसरे के राज्य को छीनने की कोशिश मे लगा रहा है। इस दानवी वृत्ति ने ही सदा से यहाँ भयानक रक्तपात किया है और खून की नदियाँ बहाई हैं। दुर्योधन मे दानवी वृत्ति थी इसीलिए उसने अपना राज्य तो अपने पास रखा ही, पाडवो का भी हडपने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न किये। प्रथम तो सरल-हृदयी युधिष्ठिर को जुआ खिलाया और उसमे भी धोखेबाजी से उनका सब कुछ छीन लिया। इतने पर भी सन्तोष न होने पर उनकी पत्नी द्रौपदी को दाव पर रखवाकर उसका भरे दरबार मे अपमान किया। तत्पश्चात् उन्हें एक वर्ष तक अज्ञान-वास करने की और पता लग जाने पर पुन वैसा ही करने की शर्त रखी पर अज्ञात-वास पाण्डवो के सौभाग्य से सफल रहा और दुर्योधन लाख प्रयत्न करके भी उनका पता न लगा सका। किन्तु अज्ञातवास के पश्चात् भी दुर्योधन अपने वादे से मुकर गया और उसने स्पष्ट कह दिया—"एक सुई के अग्रभाग जितनी जमीन भी पाडवो को नही दूंगा।" परिणाम यह हुआ कि महाभारत प्रारम्भ हुआ और लाखो व्यक्तियो के नाश के साथ ही दुर्योधन भी अपने कुल सहित मृत्यु को प्राप्त हुआ।

दानवी वृत्ति ऐसी ही होती है, जिसके मस्तक पर सवार हो जाने के पश्चात् मनुष्यो को हिताहित का भी भान नही रहता। व्यक्ति एक-दूसरे के खून का प्यासा बन जाता है तथा जन्म-जन्मान्तर के लिए वैर बाँध लेता है। आज भी दानवी वृत्ति वाले व्यक्तियो की कमी नही है। बडे-बडे पदाधिकारी भी गरीबो की रोटी छीनते हुए अपना घर भरने के प्रयत्न मे रहते हैं। इसी के कारण देश की स्थिति डावाँडोल ही नही अपितु अत्यन्त भयकर हो रही है। बेचारे भूखे व्यक्ति जब उदर भी नही भर पाते हैं तो चोरियाँ करते है, अकेली-दुकेली बहू-बेटियो को लूट ले जाते है और बच्चो को चुराकर उनके बदले मे पैसो की माग करते है। आए दिन ऐसी दिल दहला देने वाली घटनाये सुनने को और पढने को मिलती है। अनेक व्यक्ति तो भूख से तग आकर अपने बच्चो को, बीवी को जहर दे देते है और स्वय भी वही खाकर सदा के लिए सो जाते हैं। यह सब क्यो होता है? केवल इसीलिए कि लोगो मे दानवी वृत्ति घर कर गई है। पैसे वाले व्यक्ति जब अन्नादि मे अधिक इकट्ठा कर लेते है तो अन्य व्यक्तियो को भोजन और वस्त्र मिलना भी दुर्लभ हो जाता है। दानवी वृत्ति के कारण

ही कुछ व्यक्ति लखपति या करोडपति बनते हैं और अन्य व्यक्ति दरिद्र रहकर नगे, भूखे रहकर बडी कठिनाइयो से जीवन गुजारते हैं।

(२) मानवी वृत्ति

मानवी वृत्ति जिन मनुष्यो मे पायी जाती है वे जो कुछ उपार्जन करते हैं या उनके पास जो कुछ होता है, उससे सन्तुष्ट रहते हैं। उनकी भावना यही होती है कि मेरे पास जितना है वही मेरा है और काफी भी है। अनीति तथा अन्यायपूर्वक वे औरो का धन या औरो का हक छीनने का प्रयत्न नही करते। उदाहरणस्वरूप पाडवो ने मानवी वृत्ति या मानवीय भावनाओ के अनुसार कौरवो से या दुर्योधन मे यही कहा था—"हमे केवल हमारे हक की जमीन या राज्य दे दो, हम उतने से ही सन्तुष्ट रहेगे।" पर जब दुर्योधन इसके लिए तैयार नही हुआ तो उन्होंने केवल पाँच गाँव ही माँगे और कहा—"पूरा हक नही देना चाहते हो तो सिर्फ पाँच गाँव दे दो। हम उनसे ही अपना काम चला लेंगे।"

उनकी ऐसी वृत्ति मानवी वृत्ति कहलाती है। इस वृत्ति के धारक व्यर्थ मे झगडे-झझट करना पसन्द नही करते। वे अपने को अपना और दूसरो का जो कुछ होता है, उसे उनका समझते हैं। ऐसी वृत्ति भी अगर सब मनुष्यो मे आ जाय तो ससार के सब व्यक्ति अपना भरण-पोषण शान्तिपूर्वक कर सकते हैं।

(३) दैवी वृत्ति

दैवी वृत्ति बहुत कम मनुष्यो मे पाई जाती है। जो व्यक्ति ससार की असारता को समझ लेते हैं तथा सासारिक वस्तुओ की क्षणभगुरता के कारण उनसे उदासीन हो जाते हैं, वे अपने धन, मकान, जमीन या अपने अधिकार मे रही हुई वस्तुओ पर आसक्ति नही रखते। समय आने पर ऐसे व्यक्ति अपना सब कुछ भी अन्य जरूरतमन्दो को सहज ही दे दिया करते हैं। ऐसे महापुरुषो को आप कहते भी हैं—"यह देवता पुरुष हैं।"

अकेली गाय क्या ले जा रहा है ?

कहा जाता है कि एक बार सत तुकाराम के यहाँ एक चोर चोरी करने के इरादे से आया। तुकाराम उस समय जाग रहे थे, किन्तु वे कुछ नही बोले, चुपचाप नीद का बहाना किये पडे रहे। उन्होंने सोचा—"बेचारा बडी आशा से आधी रात मे कष्ट करके आया है तो अच्छा है, इसे जो कुछ पसन्द आए वह ले जाय।"

चोर ने चुपचाप सारे घर को देखा और बर्तन वगैरह टटोल डाले। किन्तु तुकाराम के यहाँ था ही क्या जो चोर चुराता। धन के नाम से उनके पास कुछ भी

करने वालो पर निर्भर है। अगर उन्होंने पूर्ण श्रद्धा से मन्त्र ग्रहण किया है तो वे तुम्हारे भक्त सद्गति को प्राप्त कर सकेंगे।"

यह वात सुनकर तो रामानुज का चेहरा पुन प्रफुल्लित हो गया और वे अपने गुरु के समक्ष हाथ जोडकर वोले—"गुरुदेव ! तव तो मुझे आपके द्वारा प्रदत्त मन्त्र का रहस्य औरो को वताने का कोई दु.ख नही है। मेरे वताए हुए मत्र से अगर उन सवकी सद्गति होगी तो केवल मेरी दुर्गति के लिए मुझे तनिक भी चिन्ता नही है।"

गुरुजी अपने शिष्य की वात सुनकर अवाक् रह गए और उन्होंने हृदय से अपने देवता स्वरूप शिष्य को धन्य-धन्य कहा।

ये उदाहरण मनुष्य मे रहने वाली दैवी वृत्ति के परिचायक हैं और ये वताते हैं कि इस वृत्ति वाले पुरुष किस प्रकार अपना अहित करके भी औरो का हित-चिन्तन करते हैं। रामानुज जैसे सत ने अपने भक्तो की सद्गति की खुशी मे जव अपनी स्वय की दुर्गति की भी परवाह नही की, जिसके कारण न जाने कितने काल तक नाना कष्ट उठाने पडते है तो फिर धन की तो वात ही क्या है ? जिसके लिए वे मेरा-मेरा कहकर औरो के पेट पर लात मारे। दैवीवृत्ति वाले महामानव तो अपना सर्वस्व ही औरो को देने के लिए तैयार रहते हैं। उनके हृदय मे अपनी अधिकृत किसी भी वस्तु के लिए ममत्व नही होता और इसीलिए वे—'तेरा सो तेरा मेरा भी तेरा'—यह कहते है।

(४) ब्रह्मवृत्ति

वन्धुओ, ध्यान मे रखने की वात है कि दैवी वृत्ति वाले मनुष्य अपना भी औरो को देते हैं, किन्तु इतना जरूर कहते हैं कि 'मेरा सो भी तेरा है।' अर्थात्—वे मेरे और तेरे मे अन्तर जरूर समझते हैं पर ब्रह्मवृत्ति वाले व्यक्ति मे तो मेरे और तेरे की भावना ही नही रहती। उसके पवित्र मानस मे ज्ञान की दिव्य ज्योति जल जाती है तथा उसके प्रकाश मे उसे कोई पराया नही दिखाई देता। वह सभी की आत्मा मे परमात्मा का अश देखता है, दूसरे शब्दो मे सभी आत्माओ को परमात्मा का ही रूप मानता है।

कहा जाता है कि सत एकनाथ जी ऐसी ही ब्रह्मवृत्ति के स्वामी थे। एक वार वे अपने लिए रोटियाँ सेक रहे थे कि एक कुत्ता उनकी कुछ रोटियाँ मुँह मे लेकर भागने लगा।

जव एकनाथ जी ने यह देखा तो वे घी की कटोरी लेकर उस कुत्ते के पीछे दौडते हुए वोले—

"अरे भगवन् ! रूखी रोटियाँ लेकर मत जाइये, उन्हें चुपड तो देने दीजिये।"

कई वार एकनाथ जी के साथ कुत्ते खाने के लिए भी बैठ जाते थे क्योकि वे उन्हे भगाते नही थे। लोग जब इस दृश्य को देखते तो हँस पडते थे। यह देखकर एकनाथ जी चकित होते और लोगो से कहते—"भगवन्! हंसते क्यो हैं? भगवान, भगवान के साथ खा रहा है, इसमे भला हँसने की कौनसी वात है?"

तो ब्रह्मवृत्ति वाले महापुरुष किसी को भी अपने से हीन नही समझते। वे मानते हैं कि कीडी से लेकर कुजर यानी हाथी के अन्दर तक भी एक सी अनन्त शक्तिशाली आत्माएँ हैं। कोई भी आत्मा कम या अधिक महत्व नही रखती। केवल पूर्व कर्मों के कारण ही उन्हे भिन्न-भिन्न योनियो मे जाना पडता है और भिन्न-भिन्न प्रकार के आकारो मे कैद रहना पडता है। इसलिए वे किसी प्राणी का अपमान नहीं करते तथा सभी पर समान प्रेम एव करुणा का भाव रखते है। वे सदा यही भावना अपने अन्तर मे वनाये रखते हैं कि अगर आत्मा का कल्याण करना है तो भगवान के आदेशो का पालन करना पडेगा और श्रेष्ठ आर्य धर्म को स्वीकार करके जीवन के अन्त तक उसे दृढतापूर्वक निभाना पडेगा।

यद्यपि धर्म का पालन करने मे अनेको वाधाएँ, विघ्न और परिषह आते हैं किन्तु जब शरीर पर से ममत्व हटा लिया जाता है तो उन्हें सहन करना कठिन नही होता। सारे परिषह शरीर को ही कष्ट पहुँचाते हैं, आत्मा को उनसे कोई हानि नही होती। उल्टे परिषहो को समतापूर्वक सहन करने से आत्मा की शक्ति जाग्रत होती है।

हमारे प्रवचन मे भी 'जल्ल परिषह' का वर्णन चल रहा है। इसके लिए विवेकी और शक्तिशाली सत सोचते हैं कि जब साधना को समीचीन रूप मे चलाने के लिए गजसुकुमाल जैसे वाल मुनि कुछ क्षणो मे ही यह देह त्याग देने की दृढता रखते हैं तो शरीर पर पसीने का आ जाना और उस पर मल का जम जाना क्या महत्व रखता है? यह शरीर तो एक दिन जाना ही है चाहे इसे धो-धोकर साफ करते रहो या फिर जैसी भी स्थिति मे रहता है, रहने दो।

दशवैकालिक सूत्र के छठे अध्याय मे कहा गया है—

तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिणेण वा।
जावज्जीव वय घोर असिणाणमहिट्ठगा॥

गाथा मे सत-मुनिराजो के लिए कहा गया है कि वे कभी भी उष्ण या शीतल जल से स्नान नही करते तथा जीवनभर इस घोर व्रत का पालन करते हैं।

यद्यपि शरीर पर पानी का पड जाना या न पडना महत्व नही रखता, महत्व मन की वृत्ति का होता है। हम देखते है कि किसी पतिव्रता स्त्री का पति अगर परदेश मे चला जाता है तो उसे अच्छे वस्त्र पहनना, आभूषण धारण करना या इत्र-फुलेल आदि लगाना अच्छा नहीं लगता। यानी शरीर का शृगार करना उसे प्रिय नहीं लगता।

तो हाड-मास के एक व्यक्ति के लिए भी जब स्त्री अपने शरीर के सजाने का मोह छोड देती है तो फिर मुनि तो अपनी आत्मा को परमात्मा के रूप मे लाने का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य अपने सामने रखता है और उसे पूरा करने के उद्देश्य मे जब जुट जाता है तो फिर शरीर को नहलाने, धुलाने और सजाने मे वह कब अपने मन को लगा सकता है ? शरीर की शुश्रूषा करने पर मन की वृत्ति मे फर्क आ जाता है। हमारे बुजुर्ग तो यह कहते रहे हैं कि अगर कपडा फट जाय और नया पहनना पडे तो शरीर पर पहने जाने वाले सभी वस्त्र नये नही होने चाहिए। एक कपडा नया हो तो अन्य पुराने होने चाहिए। इस प्रकार शरीर को आकर्षक बनाने का प्रयत्न न करके इन्द्रियो पर सयम रखने से सवर के मार्ग पर चला जा सकता है।

साधक को तो दृढ सकल्प के साथ अपनी आत्म-शुद्धि करके आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। शरीर की शुद्धि मे लगा रहने से उसे क्या हासिल हो सकता है ? कुछ भी नही, यह शरीर तो चाहे मलिन रहने दिया जाय या सजाकर रखा जाय एक दिन निश्चय ही नष्ट हो जायगा। किन्तु अगर आत्मा को शुद्ध कर लिया जाएगा तो सदा के लिए शाश्वत सुख की प्राप्ति हो जाएगी और फिर शरीर धारण करने की जरूरत ही नही रहेगी। इसलिए साधक को चाहिए कि वह अपनी आत्म-शक्ति पर दृढ विश्वास रखता हुआ यह चिन्तन करे—

> ऐ जजबाए दिल ! गर मैं चाहूँ,
> हर चीज मुकाबिल आ जाए।
> मजिल के लिए दो गाम चलूँ,
> सामने मजिल आ जाए ॥

इस उर्दू भाषा के पद्य मे गाम का अर्थ है कदम। आप विचार करेंगे कि क्या दो कदम चलने का निश्चय कर लेने पर ही मजिल मिल सकती है ? अवश्य मिल सकती है। यद्यपि मोक्ष की मजिल जीव को कई-कई जन्म तक चलने पर प्राप्त होती है, किन्तु गजसुकुमाल मुनि उस मजिल को प्राप्त करने के लिए कितना चले थे ? केवल एक रात्रि, सभवत वह भी पूरी नही निकल सकी थी। अपनी माता के हाथ से खाये हुए अन्न के पश्चात् सयमी जीवन मे सभवत उन्होंने पुन अन्न भी ग्रहण नही किया था। साधना के जीवन मे एक दिन चलकर ही उन्होंने शिवपुर की लम्बी मजिल हासिल करके अक्षय सुख और शाति प्राप्त कर ली थी।

तो बधुओ, परिषहयुक्त साधना का मार्ग कठिन अवश्य है किन्तु आत्म-शक्ति की दृढता उसे अवश्यमेव पार लगा देती है। इसीलिए भगवान का कथन है कि परिषहो के कारण तनिक भी विचलित न होते हुए साधक को सवर के मार्ग पर बढना चाहिए और ऐसा करने पर ही मुक्ति रूपी मजिल प्राप्त हो सकती है। ❀

२५ | आर्य धर्म का आचरण

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

बहुत दिनो से हमारा सवर तत्व पर विवेचन चल रहा है। सवर के सत्तावन प्रकार होते हैं और उसके छब्बीसवे भेद यानी अठारहवें 'जल्ल परिषह' का वर्णन पिछले दो दिनो से किया जा रहा है।

कल श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्याय की सैंतीसवी गाथा मैंने आपके सामने रखी थी। जिसमे भगवान महावीर ने मुमुक्षु प्राणियो को उपदेश दिया है कि अगर कर्मों की निर्जरा करनी है तो आर्य धर्म का शरीर रहते पालन करो। आर्य धर्म भी कैसा ? अनुत्तरम् अर्थात् जिससे बढकर और कोई धर्म नही है। ऐसे धर्म की महत्ता का वर्णन शब्दो के द्वारा नही किया जा सकता। शास्त्र कहते हैं—

दिव्व च गइ गच्छन्ति चरित्ता धम्ममारिय।

—उत्तराध्ययन सूत्र

आर्य धर्म का आचरण करके महापुरुष दिव्य गति को प्राप्त होते हैं।

तो धर्म से बढकर इस ससार मे और कुछ नही है, जो आत्मा का भला करने मे समर्थ हो सके। इसीलिए कहते है—'लोकस्स धम्मो सारो।' इस ससार मे अगर कोई सारभूत पदार्थ है तो वह एकमात्र धर्म ही है। वैसे भी कीमत सारभूत वस्तु की होती है। अनाज की कीमत होती है भूसे की नही, क्योकि वह सारहीन होता है। इसी प्रकार विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों मे सारभूत केवल धम है और अन्य सब सारहीन। इसीलिए प्रत्येक प्राणी को सच्चे धर्म का अनुसरण करना चाहिए।

धर्म के तीन प्रकार हैं—ज्ञान, दर्शन एव चारित्र ज्ञान से समझा, दर्शन से उस पर श्रद्धा रखी और चारित्र के द्वारा अमल मे लाया गया तो धर्म सच्चे अर्थो मे ग्रहण किया गया है, ऐसा कहा जा सकता है।

ज्ञान का माहात्म्य

अभी मैंने बताया कि लोक मे सारभूत पदार्थ क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे बताया गया है कि लोक मे सारभूत पदार्थ केवल धर्म है। अब दूसरा प्रश्न होता है

कि धर्म का सार क्या है ? उत्तर मे कहा गया है धर्म का सार ज्ञान है। जब तक तत्वो का ज्ञान नही होगा तब तक धर्म को आचरण मे नही लाया जा सकेगा। ज्ञान के द्वारा ही व्यक्ति जीव, अजीव, आश्रम, बन्ध, सवर, निर्जरा एव मोक्षादि का ज्ञान करता है और इन सबका ज्ञान होने पर ही वह हेय, ज्ञेय एव उपादेय को पहचान कर कर्मों की निर्जरा करता हुआ सवर के मार्ग पर बढता है।

ज्ञान की महिमा बताते हुए कहा भी है—

तमो धुनीते कुरुते प्रकाश,
शाम विधत्ते विनिहन्ति कोपम्।
तनोति धर्मं निधुनोति पाप,
ज्ञान न किं किं कुरुते नराणाम्॥

अर्थात्—ज्ञान अज्ञानरूपी तम यानी अन्धकार को दूर करता है, प्रकाश फैलाता है, शान्ति प्रदान करता है, क्रोध विनष्ट करता है, धर्म को विस्तृत बनाता है तथा पाप को धुनकर रख देता है। और इस प्रकार यह ज्ञान मनुष्य का क्या-क्या इष्ट-साधन नही करता ? यानी सभी कुछ करता है।

अभिप्राय यही है कि मानव सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने पर ही धर्म का यथार्थ रूप से पालन कर सकता है तथा अपनी साधना पर दृढता से बढता हुआ कर्मों से मुक्त हो सकता है। इस ससार मे सम्यक् ज्ञान के अलावा और कोई भी वस्तु आत्मा को शाश्वत सुख प्रदान करने मे समर्थ नही है।

अध्यात्म प्रेमी प दौलतराम जी ने अपनी 'छहढाला' नामक पुस्तक मे ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मनाश के विषय मे अन्तर बताते हुए लिखा है—

कोटिजन्म तप तपं, ज्ञान बिन कर्म झरें जे;
ज्ञानी के छिन माँहि त्रिगुप्ति तं सहज टरें ते।
मुनिव्रत धार अनन्तवार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो॥

ज्ञानी और अज्ञानी मे कितना भारी अन्तर बताया गया है ? कहा है—मिथ्या-दृष्टि जीव सम्यक् ज्ञान के अभाव मे करोडो जन्मो तक तपश्चर्या करके जितने कर्मो का नाश कर पाता है, उतने कर्मो का नाश सम्यक्ज्ञानी साधक अपने मन, वचन एव काया की प्रवृत्ति को रोककर शुद्ध स्वानुभव से क्षण मात्र मे ही नष्ट कर देता है।

आगे कहते है कि यह जीव मुनियो के महाव्रतो को धारण करके उनके प्रभाव से अनन्त वार नवमे ग्रैवेयक तक के विमानो मे भी उत्पन्न हो चुका है, किन्तु आत्मा

के भेद विज्ञान या सम्यक् ज्ञान के बिना वहाँ भी लेशमात्र सुख प्राप्त नही कर सका है।

इसलिए कवि पुन-पुन मुमुक्षु प्राणी को उद्‌बोधन देता हुआ कहता है—

तातैं जिनवर-कथित तत्व अभ्यास करीजे ;
सशय, विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।
यह मानुष पर्याय, सुकुल सुनिवौ जिनवानी ,
इह विधि गए न मिलै, सुमणि ज्यो उदधि समानी ।।

कवि का कथन है—"अरे मानव ! सम्यक् ज्ञान के बिना कोई भी व्यक्ति अपने निर्दिष्ट लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति नही करता, इसलिए तू जिन भगवान द्वारा प्ररूपित सच्चे तत्वो का पठन-पाठन एव उन पर चिन्तन-मनन कर, ताकि स्व और पर के भेद-विज्ञान को समझ सके। साथ ही अपने अन्दर रहे हुए सशय, विपर्यय एव मोहादि का त्याग करके अपनी आत्मा की पहचान कर। ऐसा करने पर ही उसमे रही हुई अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान एव अनन्त सुख को तू पा सकेगा।"

"भोले प्राणी ! तू यह कभी मत भूल कि यह मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, उच्च जाति, आर्य क्षेत्र, आर्य धर्म तथा जिनवाणी सुनने का अवसर तेरे लिये सदा ही बना रहेगा या कि पुन-पुन प्राप्त होगा। ये सब सुयोग अगर निरर्थक चले गये तो फिर अनन्त काल तक भी इनका फिर से प्राप्त करना दुर्लभ हो जाएगा, जिस प्रकार अमूल्य रत्न समुद्र मे खो जाने पर मिलना कठिन हो जाता है।"

बन्धुओ ! ज्ञान का माहात्म्य अवर्णनीय है। इसके बिना मनुष्य पथभ्रष्ट होकर सन्देह और भ्रम के कटकाकीर्ण मार्ग पर भटक जाता है। परिणाम यह होता है कि वह धर्म के नाम पर पूजा, पाठ, जप एन तपादि अनेकानेक क्रियायें करता भी है किन्तु उनमे कोई लाभ हासिल नही कर पाता। उसकी वे समस्त क्रियायें मक्खन के लिए पानी को बिलौने के समान और बालू रेत को पीलकर तेल निकालने के समान व्यर्थ चली जाती हैं। किन्तु इसके विपरीत अगर वह एक बार सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है तो विभिन्न परिस्थितियो के समक्ष आने पर भी और विभिन्न परिषहो के द्वारा मुकाबला किये जाने पर भी अपने मार्ग से विचलित नही होता तथा मजिल को प्राप्त कर ही लेता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे भी यही बताते हुए एक बडी सुन्दर गाथा कही गई है। जिसमे ज्ञानी आत्मा के विषय मे कहा है—

जहा सूई ससुत्ता पडियावि न विणस्सइ।
एव जीवे ससुत्ते ससारे न विणस्सइ ।।

अपने पाठ भली-भाँति सुना दिये। पर युधिष्ठिर चुपचाप अपने स्थान पर बैठे रहे। इस पर धृतराष्ट्र ने पूछा—"तुम सबमे मुझे युधिष्ठिर की आवाज सुनाई नही दी, क्या वह यहाँ नही है ?"

इस पर युधिष्ठिर तुरन्त धृतराष्ट्र के समीप आये और लज्जित होते हुए बोले—"मुझे तो अभी पहला पाठ ही आधा याद हुआ है।"

इस पर धृतराष्ट्र बडी खिन्नतापूर्वक उपालम्भ देते हुए बोले—"तुम अपने सब भाइयो मे बडे हो पर अभी तक तुमने पहला पाठ भी पूरा याद नही किया। बडे आश्चर्य की बात है। क्या तुम्हे पाठ याद नही होता ?"

अब युधिष्ठिर ने कहा—"मुझे जबान से तो पाठ कभी का याद हो गया है किन्तु उसे मैं याद हुआ नही मानता क्यो कि मैं उसे आचरण मे लाकर पक्का करना चाहता हूँ। कुछ दिन पहले जब गुरुदेव ने पाठ न सुनाने पर मुझे चाटा मारा था तब उसके कारण मुझे तनिक भी रोष नही आया और न ही मन खिन्न हुआ। तब मैंने समझा था कि मुझे आधा पाठ तो याद हो गया है। इसी प्रकार जब मैं सत्य को पूर्णतया अपना लूंगा, तब समझूंगा कि मुझे पूरा पाठ याद हुआ है।"

युधिष्ठिर की बात सुनकर उनके गुरु द्रोणाचार्य तथा धृतराष्ट्र अवाक् रह गये और समझ गये कि वास्तव मे ही जबान से याद किया हुआ ज्ञान अधूरा रहता है और वह तभी पूरा माना जा सकता है, जबकि उसे जीवन मे भी उतार लिया जाय।

तो बधुओ, ज्ञान के साथ ही चारित्र का होना आवश्यक है। ध्यान मे रखने की बात है कि ज्ञान तो धर्म-ग्रन्थो के द्वारा, शास्त्रो के द्वारा और गुरुओ के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु उसे आचरण मे लाना स्वय ज्ञानी के प्रयत्न मे ही सभव होता है। चारित्र या आचरण किसी और से नही लिया जा सकता अपितु स्वय के अभ्यास से बनता है। आलस्य या प्रमाद चारित्र के शत्रु है और वे मनुष्य को निकम्मा बना देते हैं।

कहा जाता है कि एक सेठ बडे सम्पत्तिशाली थे। उनके पूर्वज बडे प्रयत्न से धन इकट्ठा कर गये थे और बडी भारी दुकान उनके लिये छोड गये थे। किन्तु सेठजी महान् प्रमादी थे। वे दुकान पर जाना और हिसाब-किताब देखना बडा कष्टकर मानते थे अत मुनीम-गुमास्तो पर ही सारा काम छोड बैठे थे। खाना, आराम करना और सोना, इसके अलावा उनसे कुछ भी कार्य नही होता था।

सेठानी बडी पतिपरायणा एव साध्वी स्त्री थी। उसने अनेक बार सेठजी को समझाया कि अगर आप स्वय अपने व्यवसाय की देख-रेख नही करेंगे तो हम कभी

भारी सकट मे पड जाएँगे। पर सेठजी पत्नी की बात को इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते थे। वे इतने प्रमादी हो गए थे कि भोजन करते समय ग्रास भी उनके मुँह मे सेठानी ही देती थी।

एक बार सेठानी ने हलुआ बनाया और लाकर सेठजी को खिलाया। पर हलुआ खाते-खाते सेठजी को पसीना हो आया। सेठानी कुछ घबराकर बोली—"आपको तो पसीना-पसीना हो रहा है। कुछ तकलीफ है क्या ?"

सेठजी ने उत्तर दिया—"तुमने हलुआ बनाया, परोसकर लाई और मेरे मुंह मे खिलाया। रोज इसी प्रकार भोजन कराती भी हो, किन्तु चबाना तो आखिर मुझे ही पडता है न ?"

सेठानी बेचारी क्या बोलती ? यही कह सकी—"अब इतना तो आपको करना ही पडेगा। पर मुझे बहुत दु ख है कि आपसे इतना परिश्रम भी नही हो पाता है।"

तो बधुओ ! सत महात्मा भी आपको धर्म का स्वरूप समझा देते हैं तथा धर्म के सार ज्ञान को और ज्ञान के सार चारित्र्य को भी विभिन्न प्रकार से विवेचना करके बता देते हैं। मोक्ष की प्राप्ति मे सहायक साधना की विधियाँ और मन को काबू मे रखने के उपाय भी आपके सामने रख देते हैं। किन्तु इन सबको जीवन मे उतारना तो आपको स्वय ही पडेगा। महापुरुष आपको मार्ग बता सकते हैं किन्तु उठाकर मोक्ष मे नही बैठा सकते। इसलिये आपको सत-महात्माओ के अथवा गुरुओ के भरोसे पर नही रहना चाहिये। आप सोचें कि हमने सामायिक कर ली, और दो घटे बैठकर महाराज का उपदेश सुन लिया तो अब और कुछ करने को नहीं रहा, यह विचार सर्वथा गलत है। महाराज आपको मार्ग बताते हैं, परतु चलना तो आपको ही पडेगा अन्यथा साधना-मार्ग पर आप एक कदम भी नही बढ सकेंगे। आप अपनी प्रशसा करते हुए प्राय कहते हैं—"महाराज ! हमने जीवन मे बडे-बडे सतो के उपदेश सुने हैं और हमारे गुरु बहुत ही विद्वान एव चारित्रशील हैं।"

पर मेरे भाइयो ! आपके गुरु के विद्वान, चारित्रशील या सच्चे साधक होने से आपको क्या लाभ होगा ? उनके गुणों का और उनकी साधना का लाभ तो उन्हें ही मिलेगा। आपको उसमे रत्ती मात्र भी हिस्सा नही मिल सकेगा। आपको केवल वही मिलेगा जो आप अपने प्रयत्न से उपार्जित करेंगे। इसलिये अपने बुजुर्गों की या अपने गुरुओ की प्रशसा करके अपने को गौरवान्वित करना व्यर्थ है। अगर आपको गौरवशाली बनना है तो आप स्वय प्रयत्न करो। भले ही आप थोडा पढो, थोडा सुनो और निरतर सतो के दर्शन मे न पडो। किन्तु थोडा सुना और पढा हुआ भी जीवन मे लाने का प्रयत्न करो। इसके बिना आत्म-कल्याण सभव नही है। अनेको व्यक्ति भगवान से प्रार्थना करते हैं—"हे प्रभो ! मुझे इन ससार-सागर से पार उतार दो।"

दर्शन, चारित्र्य, शाति, सतोष एव शक्ति रूपी अक्षय धन मे भडार की खोज नही करता और उसको उपयोग मे नही लाता। परिणाम यह होता है कि वह दही का त्याग कर पानी को मथने वाले के समान, आँखो के समक्ष सुस्वादु व्यजनो से भरे हुए थाल को छोडकर भीख माँगने वाले के समान और नाभि मे कस्तूरी रहने पर भी वन मे चारो ओर उसकी सुगध को प्राप्त करने के लिए दौडते रहने वाले हिरण के समान सदा निरर्थक प्रयत्न करता रहता है और अन्त मे घोर पश्चात्ताप करता हुआ मृत्यु को प्राप्त होता है।

तो बधुओ, अगर हमे ससार से मुक्त होना है तो धर्म के ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य रूपी तीनो प्रकारो को अपनाना होगा। ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, क्योकि इसके अभाव मे हमारी क्रियाएँ निरर्थक हो जाएँगी और ज्ञान प्राप्त करने पर उसे जीवन मे भी उतरना होगा, अन्यथा ज्ञान व्यर्थ चला जाएगा। कहा भी जाता है—"ज्ञान भार क्रिया विना।"

जीव की मुक्ति तभी हो सकती है जबकि ज्ञान और क्रिया का वह अपने जीवन मे समन्वय करेगा। केवल ज्ञान ही आत्मा को मोक्ष मे पहुँचा दे यह कभी सम्भव नही है। मनुष्य की कथनी और करनी एक होनी चाहिए। इनका सुमेल ही आत्मा को भव-बन्धनो से छुटकारा दिला सकता है। चारित्र का महत्व बताते हुए कहते है—"**हय णाण किया हीणं।**"

क्रियाहीन व्यक्ति का ज्ञान नष्ट हुआ ही समझना चाहिए। वस्तुत ज्ञान के द्वारा ससार-सागर को पार करने के उपाय तो जाने जा सकते हैं किन्तु उससे पार होना चारित्र के द्वारा ही सम्भव है। यह दृढ सत्य है कि चारित्र के बिना आज तक न कोई जीव मोक्ष मे गया है और न ही कभी जाएगा।

हमारा जैनदर्शन रूप, रग, जाति, कुल, धन, बल आदि किसी भी चीज को महत्त्व नही देता; वह केवल चारित्र की महानता स्वीकार करता है। उदाहरण स्वरूप—हरिकेशी मुनि का जन्म निम्न कुल मे हुआ था। न उनके पास शारीरिक सौन्दर्य था और न ही धन, मकान या किसी प्रकार का आदर-सम्मान। वे अपने जीवन मे सदा लोगो से तिरस्कार ही पाते रहे और तग आकर आत्महत्या करने पर उतारू हो गए।

किन्तु उस विकट समय मे उन्हे पच महाव्रतधारी सत का सुयोग प्राप्त हुआ और उनकी वाणी के प्रभाव से मरने का विचार छोडकर वे सयमी बन गये। उनका शुद्ध चारित्र एव घोर साधना उनके लिए नाना लब्धियाँ प्राप्त करने मे सहायक बने। देवता भी जिनके अधीन हो गया ऐसे चारित्रचूडामणि हरिकेशी मुनि के विषय मे 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के बारहवे अध्याय मे विस्तृत वर्णन किया गया है।

बधुओ, हमारा मूल विषय सवर को लेकर चल रहा है। सवर क्या है? इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद एव कषायादि के निमित्त से आत्मा पर आगत नवीन कर्मों को रोकने वाला सवर चारित्र धर्म है। इसके सत्तावन प्रकार हैं और वे इस प्रकार है—पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस यति-धर्म बाईस परिषह, बारह भावनाएँ एव पाँच चारित्र।

जो साधक इनका भली-भाँति ध्यान रखता है वही सवर के मार्ग पर उत्तरोत्तर बढता है। जब तक नवीन कर्मों का आगमन अवरुद्ध नही होता तब तक मुक्ति प्राप्ति की अभिलाषा भी पूर्ण नही होती। सच्चा मुमुक्षु एक तरफ तो नवीन कर्मों के आगमन को रोकता है और दूसरी तरफ आत्मा से आबद्ध पूर्व कर्मों की भी बारह प्रकार के तपाराधन द्वारा निर्जरा करता है। इसीलिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग माना गया है।

इस मार्ग पर जो साधक दृढ कदमो से चल पडता है वही अन्धकार से प्रकाश की ओर, असत्य से सत्य की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर बढता है। ऐसा साधक ही अपनी आत्मा मे झाँकता है तथा उसे आत्मा से परमात्मा बनाने के प्रयत्न मे रहता है।

उर्दू भाषा के शायर जोक ने कहा है—

देख, गर देखना है 'जोक' कि वह परदानशीं।
दीदये रौशने-दिल से है दिखाई देता।।

अगर तू उस पर्दानशीन ईश्वर को देखना चाहता है तो उसे मानस-चक्षुओ से देखने की कोशिश कर, क्योकि चर्म-चक्षुओ से वह दिखाई नही दे सकता।

कहने का अभिप्राय यही है कि साधक को बाह्य ससार की उपेक्षा करके अपनी आत्मा के सद्‌गुणो को विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा उसमें रहे हुए समस्त दोषो को कचरा मानकर अविलम्ब बाहर फेंक देना चाहिए। ऐसा करने पर ही आत्मा अपने शुद्ध एव परम ज्योतिर्मान स्वरूप को प्राप्त कर सकती है तथा परमात्म पद पर आसीन हो सकती है। पर यह हो तभी सकता है जबकि आत्मिक दोषो को साधक विष समझकर उनका त्याग कर दे।

आप अपने घर मे अगर साँप-बिच्छू को आया हुआ देखते हैं तो अविलम्ब उसे पकडकर बाहर छोड आते है। ऐसा क्यो? इसलिए कि उनके कारण आपको अपने शरीर-नाश का भय मालूम देता है। किन्तु क्रोध, मान, माया एव लोभादि कषाय क्या एक जन्म के शरीर को नष्ट करने वाले जहरीले जन्तुओ से कम हैं? नहीं, कषाय-रूप विषधर तो आपके अनेक जन्म-मरण के कारण बनते हैं। उनके

कारण एक बार नही अपितु जीव को अनेक बार नाना प्रकार की देह धारण करनी पडती हैं और उन्हे छोडना पडता है।

इसीलिये भगवान महावीर साधक को आदेश देते हैं कि वह सवर के मार्ग पर चले तथा उसमे आने वाले समस्त परिषहो को सममाव पूर्वक सहन करते हुए कर्मों की निर्जरा करे। ऐसा करने पर ही मानव-जन्म सार्थक हो सकता है। अन्यथा तो यह दुर्लभ जीवन मिला न मिला समान हो जाता है। अगर साधक इस जीवन मे अपने लक्ष्य से चूक जाता है तो फिर न जाने कितने समय तक और चौरासी लाख योनियो मे से कितनी योनियो मे अनन्तकाल तक परिभ्रमण करता हुआ असह्य यातनाएँ भोगता रहता है। मनुष्य जन्म ही वह द्वार है जिसमे प्रवेश करके आत्मा शिवपुर पहुँच सकती है पर यह द्वार अगर हमने अपने विवेक के नेत्रो को वन्द करके छोड दिया तथा आगे वढ गये तो पुन इसका मिलना कठिन हो जाता है। भले ही जीव यहाँ से स्वर्ग मे क्यो न पहुँच जाय और वहाँ इन्द्रपद को भी क्यो न प्राप्त कर ले पर वह आत्मिक सुख को प्राप्त नही कर सकता तथा आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप मे नही ला सकता। क्योकि वहाँ पर केवल पूर्व-पुण्यो के फलस्वरूप वह इन्द्रियों के सुखो को प्राप्त करता है तथा अपार वैभव के वीच मे रहकर अपने दिन व्यतीत करता है। पर स्वर्ग मे वह आत्मा के लिए कुछ भी नही कर सकता। न वह वहाँ पर त्याग को अपना सकता है और न तप या साधना के द्वारा कर्मों का नष्ट ही कर पाता है। वहाँ का आयुष्य पूरा होते ही उसे पुन चारो गतियो मे भ्रमण करना पड़ता है। इसलिए स्वर्ग की अपेक्षा मानव-जीवन अधिक लाभकारी है और देवताओं की अपेक्षा साधना के मार्ग पर चलने वाला साधक अधिक सुखी है।

श्री शुकदेव जी ने तो यहाँ तक कहा है—

इन्द्रोपि न सुखी तादृग्याद्दृग्भिक्षुस्तु नि स्पृहः।
कोऽन्य स्यादिह ससारे त्रिलोकी विभवे सति॥

आशय यह है कि इस पृथ्वी पर निस्पृह एव इच्छारहित भिक्षु जितना सुखी है, उतना इन्द्र भी सुखी नही है। प्रश्न होता है कि जव त्रिलोकी वैभव होने पर भी इन्द्र सुखी नही है तव और कौन हो सकता है? उत्तर मे कहते हैं—कामना और वासनारहित भिक्षु देवराज इन्द्र से भी वडा है क्योकि वह सन्तुष्ट और सुखी है।

आशा है आप समझ गये होंगे कि मानव-जीवन कितना अमूल्य है और अगर व्यक्ति चाहे तो इससे कितना लाभ उठा सकता है। जिस मोक्ष को स्वर्ग के देवता या इन्द्र भी प्राप्त नही कर पाते, उसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है वशर्ते कि वह ज्ञान, दर्शन एव चारित्र-रूप धर्म की सम्यक् आराधना करे सवर मार्ग पर चले तथा कर्मों की निर्जरा के प्रयत्न मे लगा रहे। जो भव्य प्राणी ऐसा करेगा उसे अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य होगी।

२६ | पौरुष थकेंगे फेरि पीछे कहा करि हैं?

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

कल हमने जिससे बढकर और कोई श्रेष्ठ धर्म नही है ऐसे आर्य धर्म के विषय मे विचार किया था। प्रत्येक मुमुक्षु को अपने शरीर के रहते समय मात्र का भी प्रमाद किये विना धर्म-साधन कर लेना चाहिए। यह शरीर मोक्ष-प्राप्ति की साधना मे माध्यम है। इसके अभाव मे जप, तप, ध्यान, साधना आदि कुछ भी नही हो सकता। सस्कृत मे कहा भी है—

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।"

धर्म साधना के लिए शरीर ही पहला कारण है।

अतएव जव तक शरीर मे शक्ति है तथा इन्द्रियाँ सजग हैं तव तक मनुष्य को इसका धर्म-साधन के रूप मे पूरा लाभ उठा लेना चाहिए। क्योकि कोई यह नही जान सकता कि यह शरीर कव नष्ट हो जाएगा, यानी मृत्यु किस समय आक्रमण कर वैठेगी।

भगवान महावीर ने इसीलिए गौतमस्वामी को चेतावनी दी थी—

कुसग्गे जह ओसविंदुए,
थोव चिट्ठइ लवमाणए।
एव मणुयाण जीविअ,
समय गोयम ! मा पमायए।।

—उत्तराध्ययन सूत्र, १०-२

अर्थात्—हे गौतम ! जिस प्रकार कुश के अग्र भाग पर पडा हुआ ओस का विन्दु अत्यल्प समय तक ठहरता है, किसी भी समय उसका पतन हो सकता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है, अत क्षण भर भी प्रमाद न करो।

बन्धुओ, भगवान की यह चेतावनी केवल गौतम स्वामी के लिए ही नही थी, अपितु प्रत्येक मानव के लिए है। हमारा जीवन भी क्षण-भगुर है और कोई यह नही कह सकता कि मुझे इतने काल तक जीवित रहना ही है। हमारे देखते-देखते बाल, युवा या वृद्ध कोई भी और कभी भी काल का ग्रास बन जाता है।

इसीलिए ज्ञानी पुरुष अज्ञानी प्राणियो की मोहनिद्रा भग करने के लिए बार-बार प्रयास करते हुए कहते हैं कि आत्म-साधना के लिए कल और परसो मत करो। अनेक व्यक्ति तो धर्म-कार्य वृद्धावस्था के लिए भी रख छोडते हैं। वे कहते हैं अभी तो हमारे खाने-पहनने और जीवन का आनन्द उठाने के दिन हैं। जब बुढापा आ जाएगा तब धर्म-ध्यान कर लेंगे। पर क्या व्यक्ति इस बात की गारन्टी ले सकता है कि वृद्धावस्था आएगी ही ? और मान लो तब तक जीवित रह भी गये तो क्या शरीर और इन्द्रियाँ धर्म-साधना कर सकेंगी ? कभी नही, वृद्धावस्था के आ जाने पर धर्माराधन करने की कल्पना करना ही महामूर्खता है।

शुभस्य शीघ्रम्

किसी कवि ने तो स्पष्ट कहा है—

जौ लौं देह तेरी काहू रोग सो न घेरी,
जौ लौं जरा नाहिं नेरी जासौं पराधीन परिहै।
जौ लौं जम नामा वैरी देय न दमामा—
जौ लौं मानै कान रामा बुद्धि जाइ न बिगारी है।
तौ लौं मित्र मेरे ! निज कारज संवारि लै रे।
पौरुष थकेंगे फेरि पीछे कहा करि है ?
कहो आग आए जब झोंपरी जरनि लागी
कुआ के खुदाए तब कौन काम सरि है ?

कवि का कहना है—अरे मित्र ! जब तक इस शरीर को व्याधि ने नही घेरा है, जब तक वृद्धावस्था निकट नही आई है तथा यम नामक घोर दुश्मन ने अपना कूच का नगाडा नही बजाया है और जब तक बुद्धि सठिया नही गई है, तब तक अपनी आत्मा का हित करने वाले कार्यों को सम्पन्न कर लो, यानी जीवन का सबसे बडा उद्देश्य जो कि आत्म-कल्याण है, उसे पूरा करने का प्रयत्न कर लो। अन्यथा जब बुढापा आ जाएगा तब पुरुषार्थ थक जाएगा और उस स्थिति मे फिर तुम क्या कर सकोगे ?

दोस्त ! तुम जानते ही हो कि झोपडी मे आग लग जाने पर अगर कोई कुआ खुदवाना प्रारम्भ करे तो उससे बढकर मूर्खता और क्या होगी ? क्या कुए को खुदने तक झोपडी जल से बची होगी ? नही ! इसी प्रकार जब वृद्धावस्था

आ जाएगी और मस्तक पर काल मँडराने लगेगा, तव फिर तुम धर्म-साधना जैसा महान कार्य किस प्रकार कर सकोगे। यानी नही कर सकोगे। केवल पश्चात्ताप ही उस समय तुम्हारे हाथ आएगा।

तात्पर्य यही है कि अज्ञानी पुरुष तो यह विचार करते है कि जव वृद्धावस्था आएगी तव धर्माचरण कर लेंगे, किन्तु ज्ञानी पुरुष एव सत-महात्मा इसके विपरीत यह चेतावनी देते है कि जव तक शरीर मे शक्ति है तथा इन्द्रियाँ अपना कार्य वरावर कर रही है, तव तक धर्म की साधना कर लो। कौन जाने वृद्धावस्था आएगी भी या नही ? क्योकि वाल्यावस्था और युवावस्था मे भी अनेको व्यक्ति काल-कवलित हो जाते हैं और कदाचित् वृद्धावस्था आ भी गई तो वह मनुष्य को अर्ध-मृतक के समान वना देती है। विभिन्न प्रकार की व्याधियाँ और नाना प्रकार की पीडाएँ वुढापे मे व्यक्ति को अशात एव अशक्त वनाती है तथा उसके चित्त की समाधि को सर्वथा नष्ट कर देती है। उस अवस्था मे भला फिर धर्माराधन किस प्रकार सभव हो सकता है ? अतएव शरीर के स्वस्थ एव सशक्त रहते ही व्यक्ति को धर्म की विशिष्ट प्रतिपालना करनी चाहिये।

एक वात और भी ध्यान मे रखने की है कि मान लो व्यक्ति वाल्यावस्था या वृद्धावस्था मे मृत्यु को प्राप्त नही हुआ और उसने पूर्ण आयु प्राप्त कर ली, तो भी उसे कितना कम समय धर्माराधन के लिए मिलता है। इस वर्तमान समय मे अधिक से अधिक सौ वर्ष की उम्र मानी जा सकती है पर उसका हिसाव लगाते हुए भर्तृहरि ने कहा है —

> आयुर्वर्षशत नृणा परिमित रात्रौ तदर्द्ध गतं,
> तस्यार्धस्य परस्य चाद्धमपर वालत्व वृद्धत्वयो।
> शेप व्याधि-वियोग दु.ख सहित सेवादिभिर्नीयते,
> जीवे वारितरगचचलतरे सौख्य कुत प्राणिनाम् ?

अर्थात्—मनुष्य की उम्र औसत सौ की मानी गई है। उसमे आधी रात तो सोने मे गुजर जाती है। वाकी मे से एक भाग वचपन मे और एक भाग वुढापे मे व्यतीत होता है। शेप मे से जो एक भाग वचता है वह रोग, वियोग, शोक, चाकरी एव नाना प्रकार के क्लेशो मे वीत जाता है। अत जल की तरग के समान इस चचल जीवन मे प्राणियो को सुख कहाँ है ?

भर्तृहरि की वात को और भी स्पष्ट इस प्रकार समझा जा सकता है कि सौ वर्ष की आयु मे से मनुष्य के पचास वर्ष तो रात्रि के समय सोने मे व्यतीत हो जाते हैं। वाकी पचास के तीन भाग करने पर सत्रह वर्ष उसकी वाल्यावस्था मे जाते हैं। शैशवावस्था मे तो वह पूर्णतया पराधीन रहता है, जन्म से लेकर चार छ साल

तक तो माता के खिलाने पर खा पाता है, उसी के नहलाने-धुलाने पर शरीर की शुद्धि रहती है। तत्पश्चात् वह स्कूल मे भेजा जाता है और उस समय पढने-लिखने मे तथा खेल-कूद मे अपना समय व्यतीत करता है।

इसके पश्चात् सत्रह वर्ष युवावस्था मे वह ससार के सुखो का उपयोग करना चाहता है। विवाह होता है और पत्नी के घर मे आने पर सतान का जन्म होता है। उस स्थिति मे अगर वह कुछ कमाये नही तो माता-पिता कह देते हैं—"हमने तुम्हे पाल-पोसकर बडा किया और विवाह कर दिया, अब अपने पत्नी और बच्चो का भरण-पोषण स्वय करो।" अब उस स्थिति मे मनुष्य कोल्हू के बैल की तरह खाने-कमाने मे लगा रहता है और युवावस्था भी आकर चली जाती है। फिर आती है वृद्धावस्था। वृद्धावस्था के सोलह वर्ष मनुष्य के किस तरह व्यतीत होते हैं यह आँखो से देखते है। उस अवस्था मे अनेक रोग शरीर मे घर कर जाते है, शरीर मे शक्ति नही रहती और ऊपर से घर के व्यक्ति अपमान तथा अनादर करते हैं। तो बुढापे मे जबकि शरीर ही नही सभलता, तो क्या धर्म-साधना हो सकती है? नही, उस समय तो धर्माराधन के स्थान पर पश्चात्ताप ही हाथ आता है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि लोग वृद्धावस्था के दुखो को अपनी आँखो से देखते है और भलीभाँति जानते हैं कि एक दिन हमे भी इसका शिकार होना पडेगा, फिर भी वे जो कुछ करना है, अपने शरीर के स्वस्थ रहते नही करते। उन्हे धर्म-साधना की फिक्र नही होती। फिक्र अगर होती है तो अधिक से अधिक जीने की।

एक उर्दू के शायर ने कहा भी है—

हो उम्र खिज्र भी तो कहेगे बवक्ते मर्ग,
क्या हम रहे यहाँ अभी आये अभी चले।।

यानी मानव हजारो वर्ष की उम्र प्राप्त कर ले, पर मरते समय यही कहेगा कि इस ससार मे हम कुछ भी नही कर सके। वह जीने की अभिलाषा रखेगा और ससार के सुखो की हविस लिए रहेगा, किन्तु जीवन मे धर्म-साधना कितनी की, इसकी चिन्ता नही करेगा।

पर ऐसे विचार रखना और सासारिक सुखोपभोगो मे ही जीवन व्यतीत कर देना आत्मा को धोखा देना और उसके साथ महान् अन्याय करना है। मानव-जन्म मनुष्य को इसीलिए मिला है कि इस जीवन के द्वारा वह अपनी आत्मा को कर्मों से मुक्त करे। चौरासी लाख योनियो मे से मनुष्य योनि के अलावा और कोई भी योनि ऐसी नही है, जिसमे जीव को विशिष्ट विवेक और बुद्धि हासिल होती हो। ऐसी स्थिति मे यदि मानव-योनि मे आत्मा को जन्म-मरण के कष्टो से छुडाने का प्रयत्न

न किया जाय तो फिर किस जन्म मे और किस योनि मे उसके उद्धार का उपाय किया जा सकेगा ? किसी मे भी नही, इसलिए जो मनुष्य अपने इस जीवन मे आत्मा का हित नही करता यानि उसे ससार से मुक्त करने का प्रयत्न नही करता वह सचमुच ही अपनी आत्मा के साथ गद्दारी करता है। किन्तु परिणाम यह होता है कि महान पुण्यो के फलस्वरूप प्राप्त हुआ यह दुर्लभ जीवन समाप्त हो जाता है और फिर पुन मिलना कठिन हो जाता है।

इसीलिए भगवान महावीर ने फरमाया है—

> दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
> चिरकालेण वि सव्वपाणिण ।
> गाढा य विवाग कम्मुणो,
> समय गोयम ! मा पमायए ॥

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—हे गौतम ! सब प्राणियो के लिए मनुष्य भव चिरकाल तक दुर्लभ है। दीर्घकाल व्यतीत होने पर भी उसकी पाप्ति होना कठिन है, क्योकि कर्मों के फल बहुत गाढे होते हैं। अत समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

वस्तुत यह कौन जानता है कि जीव को अगला भव मनुष्य का ही मिलेगा ? विशेषकर उन व्यक्तियो को, जो कि अपना सम्पूर्ण जीवन विषय-वासनाओ के सेवन मे और धन-सचय के लिये हाय हाय करने मे ही व्यतीत कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी पुन मानव-जीवन नही पा सकते और किसी न किसी हीन योनि मे जा पहुँचते हैं। मराठी भाषा मे एक स्थान पर कहा गया है।

"मनारे काही करी सुविचार, काया माया व्यर्थ चियामधे ।"

हे मन ! कुछ तो विचार कर। अगर मोहमाया मे और दुनियादारी मे पडा रहकर तू व्यर्थ ही जन्म गँवा देगा तो भविष्य मे निश्चय ही पश्चात्ताप करना पडेगा। यह काया और माया अर्थात् शरीर और धन दोनो ही क्षणभगुर हैं। अत तू इन दोनो की प्राप्ति को बडा सुन्दर सुयोग मानकर धन से दान-पुण्य कर और शरीर से जप, तप, ध्यान, स्वाध्याय एव चिन्तन-मनन आदि शुभ क्रियाएँ करके इनका लाभ उठा ले। अन्यथा ये दोनो ही नष्ट हो जाएँगे और सर्प की तरह रक्षा करते हुए भी एक दिन तुझे इन्हे छोडना पडेगा। उस समय न यह शरीर तेरे पास रह सकेगा और न धन ही किसी काम आएगा। उलटे जीवन भर धन के लिए अनीति, धोखेबाजी एव झूठ-कपट करते रहने के कारण मरने के पश्चात् भी तुझे सुख हासिल नही हो सकता। किसी ने सत्य ही कहा है—

"सूई के छेद मे से ऊँट निकल सकता है, किन्तु धनिको को स्वर्ग की प्राप्ति नही हो सकती ।" इस विषय मे एक वडी सुन्दर एव व्यगात्मक लघु कथा कही जाती है ।

स्वर्ग मे भी पक्षपात होता है क्या ?

एक किसान था । वह वडा भोला-भाला एव गरीव था । अपनी थोडी-सी जमीन मे वह खेती करता और उसके द्वारा जो उपज होती थी, उससे अपनी तथा अपने परिवार की उदर-पूर्ति करता था । जीवन मे वह कभी झूँठ नही वोला, किसी का दिल नही दुखाया ।

इसके परिणामस्वरूप मरने के पश्चात् वह स्वर्ग मे जा पहुँचा । जव वह स्वर्ग के दरवाजे के समीप पहुँचा तो उसने देखा कि एक धनी व्यक्ति भी वहाँ उससे पहले पहुँच चुका है और उसका वहाँ वडे वाजे-गाजे से स्वागत किया जा रहा है । धनिक व्यक्ति जव अन्दर चला गया तो कुछ समय के लिए स्वर्ग का दरवाजा वन्द हो गया । पर कुछ ही देर वाद दरवाजा पुन खुला और उस किसान को अन्दर वुलाया गया ।

किसान सोच रहा था कि स्वर्ग मे आने वाले वाले प्रत्येक व्यक्ति का उस धनिक के समान ही स्वागत होता है तथा वाजे वजते है । किन्तु जव उसे अन्दर वुलाया गया तो वह वडे आश्चर्य मे पड गया कि वहाँ चारो ओर पूर्ण रूप से सन्नाटा छाया हुआ था ।

यह देखकर उस भोले किसान ने स्वर्ग के द्वारपाल से डरते हुए पूछा—"भाई ! यह क्या वात है ? इस स्वर्ग मे वह धनी व्यक्ति आया था तो वाजो-गाजो से अन्दर ले जाया गया और मै भी जवकि इसी स्वर्ग मे आया हू तो मेरा किसी ने स्वागत नही किया । क्या मेरा आना यहाँ किसी को अच्छा नही लगा ?"

द्वारपाल किसान की वात सुनकर वडे स्नेह से वोला—"नही भाई ! यहाँ स्वग मे किसी प्रकार का पक्षपात नही होता । यहाँ पर तुम भी अपार सुख प्राप्त करोगे जैसा कि वह धनिक व्यक्ति पाएगा । पर स्वागत के विषय मे वात यह है कि तुम्हारे जैसे निष्कपट, ईमानदार और सरल व्यक्ति तो यहाँ सहज ही आ सकते हैं । अत. प्रतिदिन अनेक आते है । किन्तु उस धनवान जैसे व्यक्ति तो अनेक वर्षों वाद ही कभी दिखाई पडते है । अत स्वर्ग के प्राणियो को खुशी होती है कि वर्षों वाद ही सही पर एक धनी व्यक्ति तो कुछ शुभ कर्म करके यहा आया । इसलिए उसके स्वागत मे वाजे वजते हैं ।"

किसान द्वारपाल की यह वात सुनकर वडा चकित हुआ पर उसे सव वात समझ आ जाने से वडा सतोष भी हुआ ।

बधुओ, यह एक रूपक है पर यथार्थ को प्रकट करता है । हम देखते हैं कि ससार मे अधिक पाप धन के लिए किये जाते है और धन प्राप्त होने के पश्चात् उससे भी ज्यादा पाप व्यक्ति करता है । इसलिए ऐसे धनवानो का स्वर्ग या मोक्ष मे पहुँचना वडी कठिन बात होती है ।

इसीलिए भगवान से पुन-पुन कहा है और आज सत-महापुरुष भी उनके वचनानुसार व्यक्तियो को यही उपदेश देते हैं कि उस दुर्लभ मानव-जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ मत जाने दो । जो विवेकी एव बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं वे अपने जीवन को अवाधुध व्यतीत नही करते, अपितु वडी सावधानी और ममझदारी से जीव एव जगत के रहस्य को समझकर अपना वास्तविक उद्देश्य निश्चित करते है । मनुष्य-मात्र का कर्तव्य भी यही है ,कि वह ज्ञानीजनो की वाणी के प्रकाश मे जीवन की सफलता किसमे है, यह समझें और उसके अनुसार अपने जीवन को शुद्ध, निष्कलक एव साधनामय वनाएँ ।

एक कवि ने बडा मार्मिक शेर कहा है—

जिदगी एक तीर है, जाने न पाए रायगा ।
देखलो पहले निशाना, बाद मे खींचो कमा ।।

कवि का कथन है कि—"यह जीवन एक तीर के समान है । अत खूब सोच-विचार कर पहले अपना लक्ष्य निर्धारित करो और तव इसे छोडो ताकि यह निष्फल न जाने पाये ।" अगर व्यक्ति ऐसा नही करेगा तो जिस प्रकार लक्ष्य स्थिर किया विना छोडा हुआ तीर निरर्थक जाता है, उसी प्रकार जीवन के लक्ष्य को जाने विना ही जीवन व्यतीत करने से वह व्यर्थ हो जाता है । मानव की छोटी सी असावधानी भी कभी-कभी दुर्गति का कारण वन जाती है । ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार डॉक्टर की जरा सी भूल रोगी की मृत्यु का कारण वनती है । एक उदाहरण है—

तनिक-सी भूल का दुष्परिणाम

एक वार एक वैद्यराज अपने छात्रो की परीक्षा ले रहे थे, प्रश्न वडे कठिन थे और होने भी चाहिए थे, क्योकि डॉक्टर या वैद्य के ऊपर मरीजो के प्राणो की जिम्मेदारी होती है । तनिक भी कही गडवडी हो जाय तो वेचारा रोगी भारी कठिनाई मे और कष्ट मे पड सकता है ।

तो परीक्षा के समय वैद्यजी के सभी छात्र वडे चिंतित और भयभीत थे पर एक शिष्य उनके सभी प्रश्नो का उत्तर अत्यन्त सतोषजनक दे रहा था । अन्त मे वैद्यजी ने उससे एक प्रश्न और पूछा—"वताओ अमुक प्रकार के रोगी को तुम अमुक औषधि कितनी मात्रा मे दोगे ?"

छात्र ने उत्तर दिया—"एक चम्मच ।"

इस पर वैद्यजी ने कहा—"अब तुम जा सकते हो ।"

शिष्य गुरु के आदेशानुसार वहाँ से चल दिया, किन्तु उसके हृदय मे अपने अन्तिम उत्तर के विषय मे सन्देह बना रहा । वह विचार करने लगा कि 'एक चम्मच औषधि तो बहुत अधिक होती है और अमुक रोगी उसे सह नही सकता ।' यह आते ही वह पुन लौटकर परीक्षा भवन में आया और बोला—

"गुरुजी ! मुझसे बडी भूल हो गई है । आपने जैसे रोगी के लिये पूछा था, वैसे रोगी को वह औषधि एक चम्मच नही वरन् केवल दो रत्ती देनी चाहिए ।"

वैद्यजी छात्र की बात सुनकर बोले—"अब तुम्हारे भूल सुधारने से क्या होता है ? वह रोगी एक चम्मच औषधि खाकर अब तो मर चुका है ।"

वैद्यजी के कहने का अभिप्राय यही था कि वैद्य को औषधि देने से पहले खूब सोच-विचारकर ही मरीज को दवा देनी चाहिए । अन्यथा थोडी सी भूल या असावधानी रोगी का प्राण ले सकती है ।

ठीक यही हाल हमारे जीवन का भी है । अगर हमे अपने जीवन को सार्थक बनाना है और अपनी आत्मा को इसके शुद्ध स्वरूप मे लाना है तो बडी सतर्कता और सावधानी से अपने लक्ष्य को बनाकर उसके अनुसार करना है । अगर इसमे कही भूल हो गई यानि कोई दुर्गुण हृदय मे घर कर गया या साधना-पथ पर चलती हुई आत्मा चूक गई तो फिर क्षण भर मे ही सारे किये-कराये पर पानी फिर जाएगा ।

कहा भी है—

मनोयोगो बलीयाश्च, भाषितो भगवन्मते ।
यः सप्तमीं क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च ।।

वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के मत मे मनोयोग को इतना बलवान बताया गया है कि वह आधे क्षण मे सातवे नरक मे और आधे ही क्षण मे मोक्ष मे पहुँचा देता है ।

यह गाथा भी यही बताती है कि अगर मन के भाव उत्कृष्ट हो जाते है तो वह आधे क्षण मे ही समस्त गुणस्थानो को पार करता हुआ आत्मा को मोक्ष मे पहुँचा देता है और कही वह पतित हो जाता है तो चाहे व्यक्ति श्रावक हो या साधु, आधे क्षण मे सातवें नरक का बंध भी कर लेता है ।

साधारणतया सबकी यह धारणा होती है कि जिस व्यक्ति ने संयम ग्रहण कर लिया या साधु का बाना पहन लिया, वह स्वर्ग ही जाता है, उसकी आत्मा किसी

हीन गति मे नही जा सकती। पर यह धारणा सही नही है। भले ही व्यक्ति साधु का वाना पहन ले और सवकी नजरो मे पूजनीय वन जाय, किन्तु अगर वह भगवान के आदेशानुसार सयम का पालन नही करता है तो ऐसे विराधक साधु के लिए किसी भी गति मे रोक नही है। अर्थात् साधु के लिए चारो गतियाँ खुली रहती हैं। यह उसकी उत्कृष्ट या निकृष्ट करनी पर निर्भर रहता है कि वह मोक्ष मे जाता है या नरक मे।

भगवान ने फरमाया भी है—

एयारिसे पचकुसलीस वुडे, रूवधरे मुनिपवराण हेट्ठिमे।
अयसि लोए विसमेव गरहिये, न से इह नेव परत्थ लोए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १७-२०

अर्थात्—जो श्रमण पाँच प्रकार के कुशीलो से युक्त एव सवर से रहित केवल वेशधारी साधु होता है वह महान् और श्रेष्ठ श्रमणो से नीच मुनि कहलाता है तथा ऐसा मुनि इस लोक मे विष के समान निन्दनीय तथा त्याज्य होता है। उसका न तो यह लोक सुधरता है और न परलोक ही सुधर पाता है।

तो भले ही कोई व्यक्ति सयम ग्रहण करके साधु वन जाय और पाँच महाव्रत अगीकार करके साधु के वाने मे रहे, किन्तु इन पाँच महाव्रतो का सम्यक् रूप से पालन न करने के कारण और साधु की मर्यादा तथा आचार-विचार मे स्थिर न रहने के कारण वह पापी श्रमण कहलाता है और इस लोक मे निंदनीय वनता हुआ अपना परलोक भी विगाड कर निम्न गतियो मे जाता है। दुर्वासा ऋषि घोर तपस्वी थे किन्तु अपने असीम क्रोधी स्वभाव के कारण आज तक भी लोगो के द्वारा निंदात्मक शब्दो से स्मरण किये जाते हैं। लोग किसी भी क्रोधी व्यक्ति के लिए दुर्वासा ऋषि की उपमा दिया करते हैं।

आशय यही है कि मात्र साधु का वेश पहन लेने से ही व्यक्ति साधु नही कहलाता, अपितु साधु के योग्य आचरण का पालन करने पर तथा सवर की सम्यक् आराधना करने पर ही वह सच्चा साधु कहलाता सकता है। कीमत वेश की नही है वरन् करनी की है ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार म्यान की कीमत न होकर तलवार की कीमत होती है। म्यान वहुत सुन्दर और मजवूत हो पर अगर उस मे रही हुई तलवार तीक्ष्ण धार वाली न हो या जग खाई हुई हो तो उस तलवार से शत्रुओ पर विजय प्राप्त नही की जा सकती। इसी प्रकार साधु का वेश उत्तम और साधु के योग्य हो, किन्तु उसका मानस उत्तम आचरण एव उत्तम भावनाओ से युक्त न हो तो वह अष्ट कर्मरूपी शत्रुओ पर विजय प्राप्त नही कर सकता, साथ ही इस लोक मे भी प्रशसा का पात्र नही वनता।

पर सच्चे श्रमण के लिए कही भी कोई कठिनाई नही है। अगर उसका चारित्र्य उसके वेश के अनुकूल है तथा वह सम्यक् रूप से ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप की आराधना करता है तो ससार के वन्धन उसे जकडे नही रह सकते, स्वय ही टूट जाते हैं।

इस विषय मे भी भगवान ने स्पष्ट कहा है—

जे वज्जए एए सया उ दोसे, से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे।
अयसि लोए अमय व पूइए, आराहए लोगमिण तहा पर ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, १७-२१

जो मुनि समस्त दोषो को सदा के लिए त्याग देता है, वह मुनियो मे श्रेष्ठ एव सुव्रती कहलाता है। ऐसा मुनि इस लोक मे अमृत के समान आदरणीय वनता हुआ अपने परलोक की भी उत्तम आराधना कर लेता है।

भगवान के इस कथन से स्पष्ट है कि भले ही व्यक्ति साधु वेशधारी मुनि हो या सम्यक् व्रतधारी श्रावक हो, वही भव्य जीव इस ससार से मुक्त हो सकता है जो कि सम्यक धर्म का पालन करे, अपने ज्ञान के अनुसार आचरण पर दृढ रहे और समस्त विघ्न-वाधाओ एव परिषहो का मुकावला समभाव पूर्वक करते हुए सवर के मार्ग पर दृढता से वढता रहे। वह भव्य प्राणी ही अपने इस लोक एव परलोक को सुधार सकता है जो समयमात्र का भी प्रमाद न करता हुआ शरीर एव इन्द्रियो के सशक्त रहते हुए धर्मसाधना कर लेता है तथा आज के कार्य को कल के लिए नही छोडता।

२७ | चार दुष्कर कार्य

धर्मप्रेमी वन्धुओ माताओ एव वहनो !

सवरतत्व पर हमारा विवेचन चल रहा है। यह जीवन के लिए महान कल्याणकारी और आत्म-हितकर है। हमे अन्य वस्तुएँ तो प्राप्त हो सकती हैं। किन्तु सवर और निर्जरा, इन दो तत्वो का चिन्तन, मनन एव आचरण करना बहुत कठिन है। पर जिन भव्य प्राणियो ने सवर तत्व को अपनाया तथा दान, शील, तप और भाव-रूप धर्म को जीवन मे उतारा, वे ससार-सागर से पार हो गये। आज भी ऐसे प्राणी इस प्रयत्न मे हैं और भविष्य मे भी आत्म-कल्याण के इच्छुक व्यक्ति ऐसा करेंगे।

एक गाथा मे कहा गया है—

> दान दरिद्दस्स पहुस्स खन्ति, इच्छानिरोहो य सुहोइयस्स ।
> तारुण्णए इदिय निग्गहो य, चत्तारि एयाणि सुदुक्कराणि ।।

इस सुन्दर गाथा मे मनुष्य के लिए चार चीजें बहुत कठिन बताई गई हैं। ध्यान मे रखने की बात है कि मानव के लिए इन चार वस्तुओ को दुष्कर अवश्य बताया गया है, किन्तु असम्भव या अशक्य नही कहा है। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को तनिक भी निराश न होते हुए इनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा अपनी बुद्धि, विवेक एव आत्म-शक्ति के बल पर इन्हे अपनाना चाहिए। अब हम गाथा मे बताई हुई पहली बात पर आते हैं।

दरिद्र के द्वारा दान कैसे दिया जाय ?

गाथा मे सर्वप्रथम कहा गया है कि दरिद्र के द्वारा दान दिया जाना कठिन है। इसका कारण यही है कि दरिद्र व्यक्ति के पास देने के लिए कुछ नहीं होता तो वह देगा कैसे ?

पर बन्धुओ, मैंने पहले ही आपको बताया है कि गाथा मे बताई हुई चारो बातें कठिन अवश्य हैं पर अशक्य या असम्भव नहीं हैं। इस आधार पर यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि दरिद्र व्यक्ति भी दान अवश्य दे सकता है और

वह जितना भी देता है उसका लाभ औरो के अनेक गुना अधिक दिये जाने पर जितना अधिक उठाया जा सकता है उतना ही वह भी प्राप्त कर सकता है।

आप विचार करेंगे कि ऐसा कैसे हो सकता है ? धनी व्यक्ति तो सहज ही एक हजार रुपये एक बार मे दान देने योग्य होता है और दरिद्र व्यक्ति मुश्किल से आधी रोटी दे सकता है, फिर दोनो ही बराबर कैसे लाभ प्राप्त कर सकते हैं ? इस विषय मे आपको भली-भाँति समझना चाहिए कि दानदाता के लिए यह महत्वपूर्ण नही है कि उसके द्वारा दिया गया धन प्रचुर मात्रा मे है या दिया जाने वाला खाद्य पदार्थ स्वादिष्ट, सरस अथवा बहुमूल्य है। देखना यह चाहिए कि देने वाले की भावना प्रशस्त है या नही ?

'सयुक्तनिकाय' मे कहा भी है—

'अप्पमा दक्खिणा दिन्ना, सहस्सेन सम चिन्त ।'

यानी थोडे मे से भी जो दान प्रशस्त भावना पूर्वक दिया जाता है वह हजारो, लाखो के दान की बराबरी करता है।

सगम ग्वाले ने बडी कठिनाई से प्राप्त खीर को भी मासखमण का पारणा करने वाले मुनिराज को अति उत्कृष्ट भावना पूर्वक दान मे दे दी और इसके फल-स्वरूप अगले जन्म मे राजगृह नगर के गोभद्र श्रेष्ठि का पुत्र शालिभद्र हुआ, जिसने मगध सम्राट को भी चकित कर दिया।

चन्दनबाला ने भी भगवान महावीर को कौनसी अमूल्य वस्तु दान मे दी थी ? सूखे उडद के बाकुले ही तो दिये थे। किन्तु उन बाकुलो के द्वारा ही उसने अपने ससार को सीमित कर लिया था।

आज हम देखते हैं कि दान देने वाले व्यक्ति अपनी प्रशसा के लिए तथा दान-दाताओ की सूचि मे अपना नाम सदा के लिए लिखवा देने की इच्छा से दान देते हैं। दान देते समय जो उत्कृष्ट भावना उनमे होनी चाहिए, उसका तो एक अश भी वहाँ दिखाई नही देता। क्योकि हम घर-घर मे जाते हैं और देखते हैं कि धनी व्यक्ति सन्त-मुनिराज को अपने हाथ मे देने का समय भी नही निकाल पाते। वे देते हैं केवल मान और प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए। पर ऐसा हजारो रुपयो का दान भी वह सुफल नही देता, जितना एक गरीब व्यक्ति अपनी थाली मे से द्वार पर आए हुए साधु को भावनापूर्वक आधी रोटी देकर प्राप्त कर लेता है। जिस व्यक्ति का हृदय उदार होता है वही दान का सच्चा लाभ हासिल कर सकता है।

सच्ची ईद मनाई है

कहा जाता है कि किसी शहर का एक बोहरा ईद के दिन कीमती वस्त्र पहन कर बाजार मे घूम रहा था। घूमते-घामते वह एक पान वाले की दुकान पर जा

पहुँचा। तम्बोली से एक पान लगाने के लिए कहते समय बोहरे की दृष्टि उस दुकान के पास ही खडे फकीर पर पडी। फकीर अपने शरीर पर एक मैली-कुचैली तहमद पहने हुए था।

बोहरे ने तम्बोली से पान लेकर खाया और रुपये मे से बचे हुए कुछ पैसे फकीर की ओर बढाते हुए बोला—"ईद मुबारिक हो मिया! लो यह पैसे लो।"

फकीर ने बोहरे की उदारता पर कुछ व्यग करते हुए कहा—"इतने से पैसो से आप ईद मना रहे हैं क्या? अगर सच्ची ईद मनाना है तो इस फकीर को पूरी तरह प्रसन्न करो।"

बोहरे ने यह सुनकर ध्यान से फकीर को देखा और कहा—"भाई जान! तुम्हारी बात सही है। इतने पैसो से मेरा ईद मनाना व्यर्थ है। बोलो, आज तुम्हे किस प्रकार खुश करू?"

फकीर ने उत्तर दिया—"मेहरबान! इस फटी तहमद को पहनते हुए मुझे कई वर्ष हो गये हैं, अत सच्ची ईद मनाना है तो मुझे अपने पहने हुए ये कपडे दे दो और मेरी तहमद तुम ले लो।"

बोहरे ने यह सुनते ही अपने कपडे उतारने शुरू कर दिये तथा वह बढिया पोशाक फकीर को देकर स्वय ने फकीर की कई स्थानो से फटी हुई मैली-कुचैली तहमद स्वय पहन ली। तत्पश्चात् उसी वेष मे वह बीच बाजार मे होता हुआ अपने घर की ओर चल दिया। मार्ग मे उसके कई दोस्त मिले और उसके उस वेष को देखकर हैरान होते हुए पूछने लगे—

"आज ईद के दिन यह क्या हो गया है आपको? ऐसी गन्दी और फटी तहमद पहने क्यो घूम रहे हैं?"

बोहरे ने उत्तर मे केवल यही कहा—"दोस्तो! आज मैंने सच्ची ईद मनाई है।"

कहने का आशय यही है कि प्रत्येक मनुष्य मे चाहे वह अमीर हो या गरीब, सहज उदारता एव प्राणियो के प्रति सहानुभूति की भावना होनी चाहिए। दान का महत्व दी गई वस्तु के मूल्य से नही माना जाता अपितु देने वाले की भावना पर निर्भर होता है।

महाराज भोज बडे दानवीर थे। वे किसी के भी द्वारा सुन्दर श्लोको की रचना करने पर एक-एक श्लोक के लिए एक-एक लक्ष स्वर्ण मुद्राएँ दान मे दे दिया करते थे। श्लोक की रचना के लिए एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ बहुत अधिक होती थी, पर भोज इस बहाने से दीन-दरिद्र या सरस्वती के उपासको की सहायता करने की

भावना रखते थे। रचनाओ के उपलक्ष मे इस प्रकार भेट देने पर श्लोको की रचनाएँ करने वालो का गौरव भी वढता था तथा उस अर्थ से वे जीवनभर के लिए निश्चित भी हो जाया करते थे।

पर राजा भोज का मन्त्री उनके ऐसे दान के कारण कुछ क्षुब्ध रहता था। उसने एक वार भोज के दान को कुछ कम करने की दृष्टि से उनके शयनगृह की दीवार पर कुछ लिख दिया किन्तु भोज ने भी उसका उत्तर वडे विवेक एव वुद्धिपूर्वक वही लिखवा दिया। मन्त्री ने क्या लिखा और राजा ने क्या उत्तर दिया, यह जानने की आपको उत्सुकता होगी। अत वह भी कह देता हूँ—

मन्त्री ने लिखवाया—"आपदर्थे धन रक्षेत्।" उसके उत्तर मे राजा ने लिखवा दिया—"श्रीमतामापद कुत ?" मन्त्री ने पुन लिखा—'साचेदपगता लक्ष्मी।" इसका राजा ने उत्तर दिया—"सचितार्थो विनश्यति।"

वस्तुत सचित किया हुआ धन समय पाकर नाश को प्राप्त होता है। विद्वानो ने धन की तीन गतियाँ वताते हुए कहा है—

इस धन की गति तीन हैं, दान, भोग अरु नाश।
दान भोग मे ना लगे, तो निश्चय होय विनास॥

अगर कृपण व्यक्ति धन का दान नही करता और उसका उपभोग भी नही करता तो वह धन निश्चय ही नष्ट होता है। साथ ही धन पर उसकी घोर आसक्ति जीवन भर वनी रहती है अत ससार-सागर मे वह अनन्त काल तक डूवा रहता है।

किसी कवि ने दाता और कृपण की वडी वुद्धिमानी से तुलना करते हुए कहा है—

सग्रहैकपर प्राय समुद्रोऽपि रसातलम्।
दाता तु जलद पश्य, भुवनोपरि गर्जति॥

कहा गया है कि धन का दान न करने वाला और उसका उपभोग भी न करने वाला कृपण व्यक्ति ससार-सागर के रसातल मे जा पहुँचता है, किन्तु धन का दान करते रहने वाला दाता सवसे ऊपर पहुँचकर मेघ के समान गर्जना करता है।

कहने का आशय यही है कि दानी व्यक्ति अपनी उदारता और निस्पृहता के कारण उच्च गति को प्राप्त कर लेता है जवकि कृपण व्यक्ति धन मे सदा आसक्त और गद्ध रहने के कारण निम्न गतियो मे भटकता रहता है। मम्मुन सेठ ने कृपणतापूर्वक छप्पन करोड रुपया इकट्ठा कर लिया था, किन्तु वह उसके क्या काम आया ? आज लोग उसके विपय मे यही कहते है—

मम्मुन सेठ धन सचियो पूरो छप्पन क्रोड।
नहि खायो नहि खरचियो, मूवो माथो फोड॥

तो बधुओ, विवेकी एव बुद्धिमान पुरुष का यही कर्तव्य है कि वह जितना भी वन सके सदा दान करता रहे। दान, शील, तप एव भाव मे दान प्रथम और सर्वश्रेष्ठ है। इतना ही नही, दान धर्म का प्रवेश-द्वार है। इसमे प्रवेश किये विना शिवपुर मे नही पहुँचा जा सकता। जीवन को धर्ममय वनाने के लिए शुभारम्भ दान से ही किया जा सकता है। स्वय तीर्थंकर भी प्रव्रज्या ग्रहण करने से पहले एक वर्ष तक निरन्तर दान देते हैं। उनका यह कार्य मानव मात्र को प्रेरणा देता है कि धर्म-साधना करनी है तो पहले दान करो। दान करने मे गरीवी तनिक भी वाधक नही होती। व्यक्ति कितना भी दरिद्र क्यों न हो, अगर वह अपनी स्थिति के अनुसार दो पैसे या दो रोटी भी उत्तम भावना से किसी को देता है तो वह धर्म के क्षेत्र मे अपना ऊँचा स्थान वनाती है।

यद्यपि गाथा मे कहा गया है कि दरिद्र के लिए दान देना कठिन है। वह केवल इसीलिए कि उसके पास देने को हजारो रुपये, वस्त्र या अन्न नही होते। किन्तु भावना तो उत्तमोत्तम हो सकती है? वस, वह भावना ही दान के लाभ का हेतु वनती है। आप प्राय यह सुनते और पढते भी हैं—

"यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।"

इस पद्य मे यह नही कहा गया है कि जो अधिक दान देता है या अधिक धर्म-क्रियाएँ करता है, उसे ही सिद्धि हासिल होती है। अपितु स्पष्ट और सत्य कहा है कि जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त हो जाया करती है। क्रिया कोई भी क्यो न हो, पर उसके साथ भावना उत्तम होनी आवश्यक है। व्यक्ति चाहे जप करे, तप करे, शील पाले या दान देवे, अगर उसके पीछे भावना शुद्ध नही है तो उसके लिए इन शुभ क्रियाओ का कोई फल नही होता। दान भी अगर किसी प्रकार की स्वार्थ-भावना से यानी वदले मे लाभ की इच्छा से या यश वढाने की दृष्टि से दिया जाय तो लाखो रुपये देने पर भी निष्फल है, और नि स्वार्थ भाव से, दया, करुणा या सहानुभूति की दृष्टि से दिया गया थोडा-सा दान भी प्रशसनीय एव सुफल प्रदान करने वाला होता है। इसलिए भले ही दरिद्रता के कारण दरिद्र व्यक्ति के लिए इच्छानुसार अधिक दान देना दुष्कर यानी कठिन अवश्य होता है, पर वह दान देने की उत्तम भावनापूर्वक यत्किंचित् भी देता है तो अपनी भावना के कारण उत्तम लाभ हासिल कर लेता है।

समर्थ के लिए क्षमा कठिन है

गाथा मे दरिद्र के लिए दान देना और उसके पश्चात् 'पहु' यानी प्रभु अथवा समर्थ के लिए क्षमा करना कठिन है, ऐसा कहा गया है।

साधारणतया हम देखते हैं कि दीन-दरिद्र, मजदूर, भिखारी या सेवक आदि धन एव अन्य प्रकार के बलो से रहित होने के कारण अमीरो की तथा सत्ताधारियो की गालियाँ, कटु वचन एव मार-पीट आदि भी मन मार कर सह लेते हैं, बदले मे उनकी कुछ भी कहने या करने की हिम्मत नही होती। वे सत्ता और प्रभुता के अभाव मे अपना आत्मिक बल भी खो बैठते हैं।

किन्तु जो प्रभुता-सम्पन्न व्यक्ति होते हैं वे कभी किसी के दुर्वचन या अपने गौरव को ठेस लगाने वाले शब्द सुनकर चुप नही रह सकते। वे ईंट का जवाब पत्थर से देने के लिए तैयार रहते है। इतना ही नही, ऐसे व्यक्ति साधारण या न कुछ सी बात पर भी उबल पडते हैं। अगर हम इतिहास को उठाकर देखें तो पता चल सकता है कि प्राचीनकाल मे तो राजा लोग कटु वचन कहने वाले की जीभ ही कटवा देते थे या चोरी करने वाले के हाथ कटवा डालते थे। वे लोग तनिक से अपराध का भी बडा कठिन दण्ड अपने सत्ताधीश होने के कारण अपराधी को दिया करते थे।

बादशाह को समझ कैसे आई ?

मैंने कही पढा था कि एक बार किसी बादशाह की दासी ने उनके शयन करने के लिए **जैसा कि वह प्रतिदिन किया करती थी,** फूलो की कलियाँ चुन-चुनकर शैय्या बिछाई। बादशाह के आने मे तो काफी समय था अत उस दिन दासी की बडी प्रबल इच्छा हुई कि ऐसी सुकोमल शैय्या पर कितना आराम शरीर को मिलता होगा, जरा मैं भी अनुभव करूँ।

अपनी आकाक्षा को न दबा पाने के कारण दासी केवल दो-चार मिनिट के लिए शैय्या पर कैसा आराम मिलता है यह अनुभव करने के लिए लेट गई। पर बेचारी सेविका, जिसे नर्म, सुकोमल तथा सुगन्धित शैय्या तो क्या धरती पर बिछाने के लिए पूरा बिछौना भी नही मिलता था, दुर्भाग्यवश जो उस शैय्या पर लेटी तो दो-चार मिनिट मे ही गहरी निद्रा मे निमग्न हो गई।

इधर बादशाह समय होते ही अपने शयनगृह मे आए, पर यह देखते ही कि दासी उनकी शैय्या पर सोई हुई है, वे आगबबूला हो गये और आपे मे न रहे। उसी क्षण हन्टर उठाकर उन्होंने दासी पर बरसाने प्रारम्भ कर दिये। प्रभुता-सम्पन्न एव सत्ताधारी होने के कारण उनके हृदय मे तनिक भी विचार नही आया कि इस दीन सेविका की इच्छा फूलो से सुवासित इस शैय्या पर सोने की आज हो भी गई तो क्या हो गया? प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे नाना प्रकार की इच्छाएँ तो होती ही हैं, यह भी मानव है और आज यह अपनी इच्छा को न दबा पाने के कारण ही इस शैय्या पर लेट गई है। हन्टर बरसते रहे और दासी अपने तनिक से अपराध के कारण मार खाती रही।

पर बन्धुओ, धन-वैभव की दृष्टि से मानव दरिद्र अवश्य हो सकता है, किन्तु आत्मिक गुणो की दृष्टि से तो कोई भी दरिद्र नही होता। केवल उन गुणो के या आत्म-बल के जाग जाने की ही आवश्यकता होती है। दासी भी मनुष्य थी और उसकी आत्मा मे भी बुद्धि एव विवेकादि गुण निहित थे। सौभाग्यवश हन्टरो की मार खाते समय उसकी बुद्धि जाग्रत हुई और उस स्थिति मे वह जोर से हँस पडी।

उसको हँसते देख बादशाह एक दम आश्चर्य से अवाक रह गया और उसका हन्टर रुक गया। मार खाकर रोने वालो को तो वह सदा देखा। करता था पर मार खाकर हँसने वाले को उसने उसी दिन देखा। परिणामस्वरूप बडे आश्चर्य के साथ उसने सेविका से पूछ लिया—"बेवकूफ! एक तो मेरी शैय्या पर सो जाने का तूने अपराध किया और ऊपर से हँस रही है? किसलिए हँस रही है तू?"

दासी बडी शान्ति से बोली—"जहांपनाह! मुझे यह विचार कर हँसी आ गई कि मैं जीवन मे केवल एक बार ही आपकी इस शैय्या पर सोई हूँ पर इतने से ही मुझे आपके द्वारा इस प्रकार हन्टर की मार खानी पडी। तो फिर हुजूर तो प्रतिदिन इस पर शयन करते हैं अत आपको न जाने कितनी मार इसके लिए कभी न कभी खानी पडेगी।"

दासी की बात सुनते ही बादशाह की बुद्धि ठिकाने पर आ गई। उसकी अत्यन्त सारगर्भित बात सुनकर उसे केवल दासी पर अत्याचार करने की बात का ही पश्चात्ताप नही हुआ, अपितु तब तक के जीवन मे निरीह प्राणियो पर किये गये सम्पूर्ण अत्याचार चल-चित्र की भाँति मानस-चक्षुओ के सामने आने लगे। उसी क्षण हन्टर पृथ्वी पर गिर पडा और बादशाह ने अपने हृदय मे क्षमाभाव को स्थान दिया।

कहने का अभिप्राय यही है कि समर्थ व्यक्ति के लिए भी क्षमा-भाव धारण करना कठिन अवश्य होता है, किन्तु असभव नही होता। बादशाह प्रभुतासम्पन्न था और क्षमा क्या वस्तु होती है? इसे कभी समझ नही पाया था। पर दासी की मर्मस्पर्शी एव बुद्धिमानीपूर्ण बात सुनकर उसका विवेक जाग गया और क्षण भर मे ही उसका अन्तर्मानस क्षमा से ओत-प्रोत हो गया।

आज भी अनेक समर्थ एव शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति अपनी प्रभुता के कारण अभिमान में चूर रहते हैं और अपने अधीनस्थ या दीन व्यक्तियो को तिरस्कृत या अपमानित करते रहते हैं। किसी एक व्यक्ति के द्वारा कोई मन को चुभने वाली बात अगर सुनने को मिल जाय तो हजारो रुपये खर्च करके भी वे उसका मान-मर्दन करने से नही चूकते।

किन्तु वे यह नही समझ पाते कि वैर-भाव, क्रोध या बदले की भावना आत्मा की विभाव अवस्था है और आत्मा को कालान्तर मे दु ख पहुँचाती है। आत्मा

की स्वभाव अवस्था तो क्षमा-भाव है और जो इसको धारण कर लेता है, वह न जाने कितने कर्मों की निर्जरा केवल इस गुण के कारण ही कर लेता है। वह भूल जाता है कि वीरो का हथियार दण्ड देना या अपमान का बदला लेना ही नही है, अपितु क्षमा करना भी है। कहा भी जाता है—"क्षमा वीरस्य भूषणम्।"

मनुष्य चाहे कर्मवीर हो या धर्मवीर, उसे क्षमा धारण करनी चाहिए। क्षमा के द्वारा ही वह अपने शत्रुओ को सच्चे अर्थो मे जीत सकता है। कर्म-क्षेत्र मे अगर व्यक्ति सामने वाले के कटु-शब्दो को शातिपूर्वक सहन करके उनका मधुरता पूर्वक उत्तर देता है तो कौन ऐसा क्रूर हृदय वाला व्यक्ति होगा जो कि पानी-पानी नही हो जाता? और इसी प्रकार धर्म-क्षेत्र मे उतरने वाला व्यक्ति भी अपना अहित करने वाले पर अगर क्षमा रखता है तो समय आने पर वह व्यक्ति तो पश्चात्ताप करता ही है साथ ही धर्मपरायण एव क्षमाधारी व्यक्ति के कर्म-रूपी दुश्मन भी परास्त हो जाते हैं।

भगवान पार्श्वनाथ एव महावीर जैसे भव्य प्राणियो को भी समय-समय पर अनेको व्यक्तियो ने कष्ट दिये। उन अवतारी पुरुषो मे क्या आततायियो से बदला लेने जैसी सिद्धि नही थी? अवश्य थी। किन्तु उन्हे तो अपने अष्ट-कर्मों को निर्मूल करना था और यह कार्य केवल क्षमा के द्वारा ही सभव था। अत उन्होने खन्ति-धर्म को अपनाया। क्रोध को जीतने वाला व्यक्ति ही क्षमा-भाव को धारण करके कर्मों का सामना कर सकता है तथा उन्हे जीत सकता है।

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से एक बार पूछा—"कोहविजएण भन्ते जीवे किं जणयइ?" यानी क्रोध-विजय करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है?

भगवान ने उत्तर दिया—

> "कोहविजएण खंति जणयइ, कोहवेयणिज्ज
> कम्म न बन्धइ, पुव्वबद्ध च निज्जरेइ।"

अर्थात्—क्रोध-विजय से क्षमा गुण की प्राप्ति होती है, क्रोधजन्य कर्मों का नवीन बन्ध नही होता तथा पूर्वबद्ध कर्म क्षय हो जाते हैं।

इसलिए बन्धुओ, प्रत्येक व्यक्ति को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि क्षमा-धर्म महान् तप है, जिसके द्वारा असख्य कर्मों की निर्जरा होती है। पर वह क्षमाभाव भी कैसा हो? वह क्षमा, क्षमा नही कहलाती जो दीन-हीन एव दुर्बल व्यक्ति के पास होती है। उसकी क्षमा तो इसलिए होती है, वह प्रतिकार की शक्ति ही नहीं रखता। सच्ची क्षमा वह कहलाती है जब कि व्यक्ति बदला लेने की पूर्ण शक्ति

रखता हुआ भी अपने शत्रु को क्षमा कर देता है। प्रभुता-सम्पन्न, शक्तिशाली और वीर पुरुष ही क्षमावान कहलाते हैं। ससार मे सबसे अधिक शक्तिशाली तीर्थंकर होते हैं, अत वे सबसे अधिक क्षमावान भी होते हैं।

अभिप्राय यही है कि गाथा के अनुसार प्रभुता-सम्पन्न व्यक्तियो के लिए क्षमा-धर्म अपनाना दुष्कर होता है, किन्तु असभव कदापि नही होना, अन्यथा वडे-वडे राजा, चक्रवर्ती एव तीर्थंकर किस प्रकार क्षमा को धारण करके ससार-मुक्त होते ? अतएव प्रत्येक मुमुक्षु को सर्वप्रथम क्षमाधर्म अपनाना चाहिए तथा उसे अपनी अन्तरात्मा मे रमाकर कर्मों की निर्जरा करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सुखोपभोगों के होते हुए भी इच्छाओ का निरोध—

अभी हमने जिस गाथा को लिया है, उसमे तीसरी वात आई है कि घर मे सुखोपभोगो के प्रचुर साधनो केहोते हुए इच्छाओ का रोकना अति दुष्कर है।

यह वात सत्य है। किसी दरिद्र व्यक्ति के पास तो भोग-सामग्री, उत्तम वस्त्राभूषण एव सुस्वादु भोजन आदि पदार्थ न होने पर उसे विवश होकर अपनी इच्छाओ का निरोध करना ही पडता है, किन्तु जिसे ये सव उपलब्ध होते हैं, वह व्यक्ति अगर इनके प्रति निरासक्त रहता है तो उसका 'इच्छा-निरोध' यथार्थ कहलाता है।

शास्त्रो मे दृढप्रतिज्ञ कुमार के विषय मे वर्णन आता है कि वह अपार ऐश्वर्य के बीच मे रहते हुए भी पूर्णतया विरक्त रहता था। उसके माता-पिता वहुत समझाते थे कि जव घर मे सव वैभव-सामग्री मौजूद है तो फिर तू इनका उपभोग क्यों नही करता ? पर कुमार का हृदय वैराग्य-भावना से परिपूर्ण था अत उसकी इच्छाएँ सयमित हो चुकी थी। साधन होते हुए भी उनके प्रति आसक्ति न रखना भी वडा भारी तप है। शास्त्रकार कहते भी हैं—"इच्छानिरोधस्तप ।"

अपनी इच्छाओ पर अकुश रखना ही तप-मार्ग है। जो प्राणी ऐसा करता ह वह सच्चे अर्थों मे धर्मात्मा पुरुष कहला सकता है। रानी कलावती के विषय मे भी एक कथा आती है, वह इस प्रकार है—

धर्म ने रक्षा की

रानी कलावती के चार सौते थी। सवसे छोटी कलावती और सवसे वडी का नाम था लीलावती। राजा के लिए वडे दु ख की वात थी कि पाँच रानियो के होते हुए भी उन्हे सन्तान की प्राप्ति नही हुई थी। सन्तान का न होना सासारिक व्यक्तियो के लिए वडे दु ख का कारण वनता है। कहते भी हैं—

अपुत्रस्य गृहम् शून्यम्, दिशा शून्या अवाधवा ।
मूर्खस्य हृदय शून्यम्, सवशून्यम् दरिद्रता ।।

अर्थात्—पुत्र के अभाव मे घर सूना लगता है और भाई के अभाव मे सारी दिशाएँ सूनी दिखाई देती हैं। आगे कहा है—जिस व्यक्ति को दिमाग नही होता अर्थात् भले-बुरे का जिसे ज्ञान नही होता, ऐसे मूर्ख का हृदय ही मानो शून्य होता है और उस व्यक्ति के लिए तो सभी कुछ सूना होता है, जिसके यहाँ घोर दरिद्रता निवास करती है।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि राजा की पाँचो रानियो मे से किसी के भी सन्तान नही थी अत राजा बडे दुखी रहते थे। किन्तु कुछ समय पश्चात् धर्म-परायणा छोटी रानी कलावती गर्भवती हुई और राजा की खुशी का पारावार ही नही रहा।

पर इधर जब अन्य रानियो को कलावती के गर्भवती होने का समाचार मिला तो उनके कलेजे पर मानो साँप लोट गया। लीलावती ईर्ष्या के मारे अधी हो गई और हिताहितशून्य होकर उसने कलावती को मार डालने का निश्चय कर लिया। वह सोचने लगी—'राजा पहले ही हमे कम पूछते हैं और कलावती के जब सन्तान हो जायेगी तो फिर हम तो घी मे पडी हुई मक्खी के समान त्याज्या-सी हो जायेगी।

लीलावती ने नाना प्रकार के षड्यन्त्र रचने शुरू कर दिये तथा तन्त्र-मन्त्र आदि के द्वारा कलावती को मार डालने का प्रयत्न किया किन्तु जो प्राणी धर्म का आधार ग्रहण करता है, धर्म उसकी रक्षा अवश्य करता है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—

> एक्को हि धम्मो नरदेव ताण।
> न विज्जइ अन्नमिहेह किंचि ॥
>
> —अध्ययन १४-४०

अर्थात्—"राजन्! एक धर्म ही रक्षा करने वाला है, उसके सिवाय विश्व मे मनुष्य का अन्य कोई त्राता नही है।"

तो कलावती भी अपने धर्म के प्रभाव से बच गई और लाख मन्त्र-तंत्र करने पर भी उसका बाल-बाँका नही हो सका। फिर भी लीलावती ने अपना प्रयत्न नहीं छोडा और अन्त मे कालकूट विष देकर अपनी सौत को समाप्त करने का विचार किया।

उसने एक मधुर आम मँगवाया और उसमे विष डालकर दासी के साथ कलावती को भेजकर कहलवाया—"आप इस समय गर्भवती हैं और ऐसे समय मे नित्य नवीन चीजो को खाने की इच्छा होती है, अत यह आम खाकर अपनी बहन की इच्छा का आदर करना।"

कलावती बडी सरल हृदया नारी थी, वह न किसी से द्वेष करती थी और न ही यह कल्पना ही करती थी कि उससे उसकी सौतें ईर्ष्या करती हैं। उसने बडे प्रेम से अपनी सौत के द्वारा भेजा हुआ आम्रफल स्वीकार किया और खाने के लिए तैयार हुई। किन्तु उसी समय उसे ध्यान आया कि आज हरी सब्जी खाने का मेरा नियम है। इसलिए यह आम कल खा लूंगी, ऐसा विचार कर उसने दीवाल मे बने हुए एक आले मे रख दिया। तत्पश्चात् वह मनोरजन के लिए झूले पर बैठ गई और धीरे-धीरे झूलने लगी।

पर इधर बडी रानी लीलावती को चैन कहाँ ? जब काफी देर हो गई और आम ले जाने वाली दासी नही लौटी तो उसने दूसरी दासी को कहा—"जाकर छोटी रानी के कुशल समाचार ले आ। उनके दिन भरे है, अत मुझे चिन्ता होती रहती है।" 'दिन भरे' से उसका अर्थ दुहरा था, एक तो गर्भवती होने का, दूसरा दिन पूरे हो गये हैं, यह भी छिपा हुआ भाव था। खैर दासी गई, पर तुरन्त ही लौटकर बोली— "महारानी जी ! वे तो झूले पर बैठी हुई झूल रही हैं।"

लीलावती बडी हैरान हुई और इधर-उधर बेचैनी से टहलने लगी। जब चैन नही पडा तो उसने तीसरी दासी को फिर भेज दिया। वह दासी जरा स्वादलोलुप थी अत जब उसने कलावती के महल के आले मे रखा हुआ आम देखा तो सोचा— "राजाओ के यहाँ फलो की क्या कमी ? इन्हे तो और भी बहुत मिल जाएँगे अत मैं ही यह आम खा लूं।" यह सोचते हुए उसने चुपचाप आम उठा लिया और सबकी निगाहे बचाकर खा गई। पर कहते हैं न कि 'चोर का मुँह कोठी मे रहता है', वह दासी आम खाते ही चुपचाप वहाँ से भागी और महल की सीढियाँ उतरने लगी। किन्तु कालकूट विष ने उसे उतरने नही दिया। वह तो तालू मे लगते ही असर कर गया और दासी समाप्त हो गई।

इधर चौथी दासी जब लीलावती के द्वारा भेजी गई तो उसने उलटे पैरो लौटकर बताया कि रानी कलावती तो आनन्द से झूले पर झूल रही हैं और आपकी दासी मरी पडी है। लीलावती दासी के मरने का रहस्य समझ गई और अपनी योजना के निष्फल हो जाने के कारण सिर पकड कर बैठ गई।

पर कुछ देर बाद जब वह प्रकृतिस्थ हुई तो फिर कुछ सोचा-विचारा और राजा के पास यह समाचार भेज दिया कि—"रानी कलावती बडी सती, दयालु एव धर्मात्मा बनती हैं पर उन्होंने मेरी गरीब दासी को मार डाला।" राजा लोग वैसे ही कान के कच्चे होते हैं, अत उन्होंने तुरन्त पता करवाया कि बात क्या है ? यद्यपि उन्हे विश्वास नही हो रहा था कि कलावती ऐसा कर सकती है, पर जब वास्तव मे ही दासी की लाश उसके महल की सीढियो पर पाई गई तो उन्होंने कलावती से इस विषय मे पूछ लिया।

कलावती स्वय ही परेशान थी, पर उसने कहा —

"मैंने तो दासी को देखा भी नही, हाँ यहाँ, आले मे एक आम अवश्य रखा था, शायद उसे ही खाकर वह मर गई होगी। उसके ओठो पर आम का रस लगा हुआ है तथा गुठली भी पडी है।"

लीलावती बोली—"आम खाने से भी कोई मरता है क्या? इसे जरूर कलावती ने किसी प्रकार मारा है।" इस तरह यहाँ बातचीत हो ही रही थी कि इतने मे राजवैद्य ने राजा को चुपचाप सूचना भेजी कि आज बडी महारानी लीलावती ने मुझसे कालकूट विष मँगवाया था, वह क्यो मँगाया गया था? कलावती ने भी कहा कि आम मेरे पास नही था, वह बडी रानी लीलावती ने मुझे खाने के लिए भेजा था।

इस प्रकार सारी बात स्पष्ट हो गई और राजा ने लीलावती की भर्त्सना करते हुए कलावती के सतीत्व एव धर्म की प्रशसा की तथा कहा—'धर्म के प्रताप मे ही तुम बाल-बाल बच गई हो। अगर आज तुम्हारे नियम न होता और तुम लीलावती के द्वारा भेजे हुए आम को खा लेती तो दासी के स्थान पर आज मैं तुम्हे खो चुका होता।"

तो बधुओ, कहने का आशय यही है कि रानी कलावती ने गर्भवती होने के कारण दोहद होते हुए भी अपनी आम खाने की इच्छा का निरोध किया और उसके परिणामस्वरूप मृत्यु के मुख से बच गई। केवल एक इच्छा का निरोध होने पर ही जब वह एक बार की मृत्यु से बच गई तो अनेकानेक इच्छाओ का निरोध करने वाला व्यक्ति पुन-पुन मृत्यु मे क्यो नही बच सकता? यानी अवश्य बच सकता है। अत प्रत्येक आत्मार्थी को इच्छानिरोध-तप का आदर करना चाहिए तथा उसे अपनाकर बार-बार जन्म और मरण से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब हमे लेना है गाथा की चौथी बात। वह है—

तरुणावस्था मे इन्द्रियों का निग्रह

इस ससार मे मनुष्य के लिए धन, मान, यश एव कीर्ति आदि नाना प्रलोभनो की वस्तुएँ विद्यमान है और मानव इन्ही के आकर्षण मे पडा हुआ अनेकानेक विडम्बनाएँ भोगता है। किन्तु इन सबसे बडा आकर्षण या प्रलोभन एक और है तथा वह है काम-भोग। यह विकार ससार के समस्त विकारो से प्रबल और उग्र होता है। प्रत्येक प्राणी इसके अधीन होते है चाहे वह पशु, पक्षी या मनुष्य हो। काम-विकार बडे-बडे योगियो को भी भोगियो की श्रेणी मे उतार लाता है। इसकी व्यापकता और प्रबलता को बताते हुए कहा गया है—

> ज्ञानी हू को ज्ञान जाय ध्यानी हू को ध्यान जाय,
> मानी हू को मान जाय सूरा जाय जग ते।

जोगी की कमाई जाय, सिद्ध की सिधाई जाय,
वडे की वड़ाई जाय रूप जाय अग ते ।।

घर की तो प्रीति जाय लोको मे प्रतीति जाय,
त्याग वुद्धि मीत जाय विकल होय अग ते ।
सजम का विहार जाय हानि का उपचार जाय,
जन्म सव हार जाय काम के प्रसग ते ।।

कवि ने कहा है—इस काम-विकार से ज्ञानी का ज्ञान, ध्यानी का ध्यान और प्रतिष्ठित व्यक्तियो का सम्मान नष्ट हो जाता है । यह प्रवल विकार शूरवीर को युद्ध से विमुख करता है, सिद्ध पुरुषो की सिद्धता को मिटाकर उनकी जीवन भर की कमाई समाप्त कर देता है तथा योगियो के योग-वल पर पानी फेर देता है ।

महान् और वडे व्यक्तियो के वडप्पन को तथा शरीर के अनुपम सौन्दर्य को भी यह नष्ट कर देता है । इतना ही नही, इस विकार का शिकार व्यक्ति न तो घर मे किसी का प्रेम-भाजन रहता है और न ही वाहर के व्यक्तियो का विश्वास प्राप्त कर सकता है । हम देखते भी हैं कि व्यभिचारी पुरुष के स्वजन, सनेही और मित्र-दोस्त भी उसका सर्वथा परित्याग कर देते हैं । इन्द्रिय-सयम एव ज्ञानादि गुणो के अभाव मे विकारी पुरुष का जीवन दुर्गुणो की खान वन जाता है और अपना समग्र जीवन वह दु खपूर्ण एव व्यर्थ वना लेता है । सक्षेप मे इस दुर्गुण के कारण यह उत्तम मानव जीवन वरदान वनने के वदले घोर अभिशाप वन जाता है ।

किन्तु प्रत्येक प्राणी इस विकार के समक्ष हथियार डाल ही देता है, यह वात भी नही है । इसी ससार मे अनेको भव्य प्राणी ऐसे हुए हैं जो इमसे सर्वथा अछूते और दूर रहकर अपनी इन्द्रियो पर पूर्ण अकुश किये रहे । परिणाम यह हुआ कि ऐसे सयमी प्राणी अपने मन एव आत्मा को निर्दोप रखकर आत्म-कल्याण कर गये हैं ।

इसी पृथ्वी पर भीष्म पितामह जैसे अनेको वालब्रह्मचारी हुए हैं और आज भी अनेक सत-महापुरुप विद्यमान हैं जो कि पूर्ण युवावस्था मे भी सयम ग्रहण करके साधना-मार्ग पर चल रहे हैं । यद्यपि जैसा कि गाथा मे कहा गया है युवावस्था मे इन्द्रियो पर कावू रखना सरल नही अपितु महान दुष्कर है और साधारणतया तो यही देखा जाता है कि वृद्धावस्था तक भी अपने मन एव इन्द्रियो पर सयम नही रख पाते । किन्तु जो भव्य पुरुप ससार की असारता को समझ लेते हैं तथा आत्मा का कल्याण या उसकी मुक्ति किस प्रकार सभव है, यह जान लेते हैं वे तो क्षणमात्र मे भी ससार से विमुख होकर आत्म-साधना मे जुट जाते हैं । अगर ऐसा न होता तो

भगवान नेमिनाथ तोरण पर से वापिस कैसे लौट जाते और सिद्धार्थ यशोधरा एव अपने एकमात्र पुत्र नन्हें से राहुल को छोडकर किस प्रकार वन-गमन करते ?

दो विभूतियाँ

जैनाचार्य श्री उदयसागर जी महाराज, जिन्हे आज भी व्यक्ति वडी श्रद्धा एव भक्तिपूर्वक स्मरण करते है, वे जव युवा थे तो उनका विवाह तय हो गया। तत्पश्चात् उनकी वारात ससुराल पहुँची और तोरण द्वार पर ज्योही उन्होंने अपना सिर नीचा किया, सयोगवश उनके मस्तक पर से कलगी समेत साफा नीचे गिर गया।

लोग दौडे और उनके मित्रो ने साफा उठाकर पुन उनके मस्तक पर रखना चाहा। किन्तु उदयसागर जी के मन मे उसी क्षण यह विचार आगया कि जो वस्तु छूट चुकी है उसे पुन ग्रहण करना ठीक नही है। यह विचार आते ही अपने गुरुजनो के तथा बरातियो एव ससुराल वालो के लाख समझाने पर भी न उन्होंने मस्तक पर साफा रखा और न ही विवाह किया तथा उलटे पैरो लौट आये। घर आकर उन्होंने अपना इरादा व्यक्त कर दिया कि वे सयम ग्रहण करना चाहते हैं। इरादे के अनुसार ही उन्होंने साधुत्व ग्रहण कर लिया तथा आत्म-कल्याण के प्रयत्न मे जुट गये।

इसी प्रकार श्री जयमलजी म० जिनके नाम से आज भी सम्प्रदाय चल रही है, अपने विवाह के केवल छ मास पश्चात् मेडता मे व्यापार के सिलसिले मे आये और स्थानक मे सतो के दर्शनार्थ गये। किन्तु स्थानक का द्वार छोटा था अत सिर झुकाकर अन्दर आने के प्रयत्न मे उनकी पगडी नीचे गिर गई।

पगडी के गिरने पर उन्होंने पुन उसे मस्तक पर नही रखा और न लौटकर अपने घर ही गये। उसी क्षण उन्होंने प्रव्रज्या लेने का निश्चय कर लिया और यह नियम कर लिया कि जव तक साधु का प्रतिक्रमण याद नही कर लूंगा, बैठूंगा नहीं और न ही अन्नजल ग्रहण करूँगा। खडे-खडे ही तीन दिन मे उन्होंने साधु का प्रतिक्रमण याद कर लिया तथा दीक्षा लेने से पूर्व किया जाने वाला ज्ञान प्राप्त करके दीक्षा ले ली।

उदयसागरजी म० और जयमलजी म० दोनों ही युवा थे पर एक तो विवाह करने के लिए जाकर भी लौट आये और दूसरे ने विवाह के छ. मास पश्चात् ही साधु धर्म अगीकार कर लिया।

कहने का अभिप्राय यही है कि तरुणावस्था मे इन्द्रियो पर सयम रखना बडा दुष्कर है किन्तु जन्म, जरा और मृत्यु से सदा के लिये अपनी आत्मा को मुक्त करने

की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु, पुरुष मन पर काबू कर लेते हैं तथा इन्द्रियो के विषयो को ठोकर मारकर आत्म-साधना मे जुट जाते हैं।

तो बधुओ, अगर मानव दृढ सकल्प कर लेता है तो कोई भी कार्य वह दुष्कर नही मानता तथा उसे सफल बनाने मे लग जाता है। दृढ सकल्प एक ऐसा गढ होता है जो कि ससार के प्रबलतम प्रलोभनो से भी मनुष्य को बचा लेता है। दृढ सकल्प की महिमा का शब्दो मे वर्णन नहीं किया जा सकता पर हमारे इतिहास और पुराण सभी साक्षी हैं कि मनुष्य के सकल्प के सन्मुख देव और दानव सभी मस्तक झुका देते हैं। सकल्प मन के विकल्पो को निर्मूल कर देता है तथा उसको अपनी इच्छानुसार चलाता है।

आराधनासार मे कहा गया है—

"निग्गहिए मणपसरे, अप्पा परमप्पा हवइ।"

मन के विकल्पो को रोक देने पर आत्मा परमात्मा बन जाता है।

जो सच्चे साधक ऐसा करने मे समर्थ हो जाते हैं वे ही सवर मार्ग पर चलते हुए अपने आत्म-कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करते है तथा सदा के लिये अजर एव अमर बन जाते हैं।

२८ सम्मान की आकांक्षा मत करो

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

काफी समय से हम सवर तत्व को लेकर चल रहे हैं और उसमे आने वाले परिषहो मे से 'जल्ल परिषह' का विवेचन कर चुके है । आज सवर के सत्ताईसवें भेद को लेना है जिसका नाम है 'सक्कार-पुरस्कार परिषह' ।

साधारणतया हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरो के द्वारा सत्कार और सम्मान पाने की अभिलाषा रखता है । भले ही वह सम्मान और आदर पाने की योग्यता न रखता हो, फिर भी अपमान और अनादर प्राप्त करना वह पसन्द नही करता तथा सम्मानित किये जाने की आकाक्षा रखता है ।

किन्तु ऐसी आकाक्षा या चाह साधना के मार्ग पर चलने वाले साधक के मार्ग का रोडा बन जाती है । क्योकि यह चाह मन मे विकारो को आमन्त्रित करती है तथा कषायो को जन्म देती है । स्वाभाविक ही है कि जो सम्मान चाहता होगा, वह अपमान किये जाने पर क्रोधित होगा और सम्मान पाने पर अहकार से भर जायेगा । इसलिए साधक को सत्कार एव सम्मान की चाह को परिषह समझकर त्याग देना चाहिए ।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय की अडतीसवी गाथा मे भगवान महावीर ने कहा है-—

> अभिवायणमव्भुट्ठाण, सामी कुज्जा निमतण ।
> जे ताइ पडिसेवन्ति, न तेसिं पीहए मुणी ।।

इस गाथा मे जिन तीन बातो की चाह का भगवान ने मुनियो के लिए निषेध किया है उनमे से प्रथम है—अभिवायण । अभिवायण प्राकृत भाषा का शब्द है जिसे सस्कृत मे अभिवादन कहा जाता है । इसे हम नमस्कार भी कहते हैं ।

तो शास्त्र मे मुनि के लिए नमस्कार किये जाने की इच्छा करने का निषेध किया गया है । आशय यही है कि मुनि न तो स्वत किसी के द्वारा नमस्कार किये जाने की इच्छा रखे और न ही किसी और को नमस्कार किया जाता देखकर भी ऐसा विचार करे कि लोग मुझे नमस्कार करें । क्योकि इस विचार या आकाक्षा मे

अभिमान निहित होता है और अभिमान के रहते हुए मुनि सवर की आराधना नही कर सकता अथवा माधना पथ पर सुगमता से अग्रसर नही हो मकता । इस विषय पर एक छोटा सा दृष्टान्त है—

किसे नमस्कार किया ?

एक गुरु और उनका शिष्य, दोनो मार्ग पर चल रहे थे कि सामने से आते हुए किसी श्रद्धालु भक्त ने उन्हे देखकर नमस्कार किया ।

भक्त के नमस्कार करने पर गुरु समझे कि इस व्यक्ति ने मुझे नमस्कार किया है और शिष्य ने समझा मुझे । गुरुजी से रहा नही गया अत अपने शिष्य से वोले—

"यह व्यक्ति वडा ही श्रद्धालु दिखाई देता है क्योकि रास्ते मे भी मुझे नमस्कार करता हुआ गया है ।"

गुरु की वात सुनकर शिष्य का भी अहभाव स्थिर नही रह सका । वह भी वोल पडा—

"मुझे तो लगता है कि यह व्यक्ति विद्वान है और मेरी विद्वत्ता का अनुमान करके मुझे ही नमस्कार कर गया है ।"

वस्तुत गुरुजी वडे थे पर विद्वत्ता की दृष्टि से शिष्य अधिक पढ-लिखकर अपने आपको गुरु से अधिक ज्ञानी समझता था । और इसीलिए एक मे वडप्पन का तथा दूसरे मे विद्वत्ता का अहकार था । परिणाम यह हुआ कि अभिमान रूपी दोनो हाथी आपस मे भिड गये और दोनो अपने आपको शक्तिशाली सावित करने का प्रयत्न करने लगे । किन्तु जव इसका कोई सही फल नही निकला तो अन्त मे यही निश्चय किया गया कि नमस्कार करने वाले व्यक्ति मे ही पूछा जाय कि उसने किसे नमस्कार किया है ।

तय होते ही गुरुजी और चेलाजी, दोनो ही अपने गन्तव्य की दिशा को छोड कर उलटे पैरो लौट पडे । नमस्कार करने वाला व्यक्ति अधिक दूर तो पहुँचा नही था अत शीघ्र ही उन्होने उसे जा पकडा और पूछा—

"भाई ! तुमने हम दोनो मे से किसे प्रणाम किया था ?"

श्रद्धालु राहगीर इम प्रश्न को सुनकर अवाक् रह गया और कुछ क्षण मौन रहकर उनके प्रश्न की तह को टटोलने लगा । पर वह विवेकी और वुद्धिमान था, अत शीघ्र ही ममझ गया कि गुरु और शिष्य दोनो ही अभिमान के हाथियो पर विराज रहे हैं । उन्हे सवक देने के लिए वह गम्भीरता पूर्वक वोला—

"मैंने उसे नमस्कार किया है जो माधनापथ पर चलने वाला नन्हा साधु है ।"

यह सुनकर पुन दोनो ने अलग-अलग प्रश्न किया—"क्या मैं साधु नही हूँ ?"

भक्त मुस्कुराकर बोला—"इस बात पर आप स्वय विचार कीजिये कि अगर आप दोनो ही सच्चे साधु होते तो क्या यह पूछने के लिए लौटकर यहाँ तक आते कि मैंने किसे नमस्कार किया था ?"

यह सुनते ही दोनो सतो की आँखें खुल गईं और उन्हे समझ मे आ गया कि नमस्कार किये जाने की इच्छा रखना साधु के लिए अनुचित है। दोनो ने अपनी भूल पर हार्दिक पश्चात्ताप करते हुए पुन मार्ग पकडा।

शास्त्रकार भी यही कहते हैं कि साधु को कभी यह इच्छा नही करनी चाहिए कि लोग मुझे नमस्कार करें। साथ ही अगर कोई राजा-महाराजा या सेठ-साहूकार उन्हे नमस्कार करे तो इस बात का गर्व नही करना चाहिए कि मुझे इतने धनाढ्य या बडे-बडे व्यक्ति नमस्कार करते हैं।

यहाँ एक बात ध्यान मे रखने की है कि कुछ व्यक्ति ऐसी शका भी कर सकते हैं कि सम्मान-सत्कार तो मन को सुख-पहुँचाने वाली बाते हैं, फिर इन्हें परिषहो मे क्यो माना जाता है ? परिषह तो कष्ट पहुँचाते हैं।

इसका उत्तर यही है कि अन्य परिषह जहाँ शरीर और मन को प्रत्यक्ष में कष्ट पहुँचाते हैं, ये परिषह यद्यपि प्रत्यक्ष मे तो मन को सुखी करते हुए दिखाई देता है किन्तु वह सुख वास्तविक नही होता और सम्मान-सत्कार की प्राप्ति मन मे अहकार का उदय करके आत्मा को कालान्तर मे कष्ट पहुँचाती है। इसीलिए इस परिषह को अनुकूल परिषह भी कहा गया है। बाईस परिषहो मे से बीस परिषह तो प्रतिकूल माने जाते हैं और दो परिषह अनुकूल। सत्कार-परिषह भी अनुकूल परिषह है।

अब हम पूर्व मे कही गई गाथा के दूसरे शब्द पर आते है, जिसकी चाह का भी मुनि के लिए निषेध किया गया है। बन्धुओ ! मुनि के लिए निषेध किया गया है इससे आप यह अर्थ न लगाएँ कि यह निषेध केवल मुनि या साधु के लिए ही है, श्रावको के लिए नही। आप जानते हैं कि जिस प्रकार साधु अपनी आत्मा को कर्मो से सर्वथा मुक्त करना चाहते हैं, उसी प्रकार आप श्रावक भी तो मुक्ति की कामना करते हैं। दोनो का उद्देश्य एक ही है। इसलिए जिस प्रकार मुनि को समभावपूर्वक अनुकूल एव प्रतिकूल परिषहो को सहन करके सवर का आराधन करना चाहिए, उसी प्रकार श्रावको को भी यथाशक्य सवर मार्ग पर चलना चाहिए।

तो अब हमे शास्त्र की गाथा मे दिये गये दूसरे शब्द को समझना है और वह है—अब्भुट्ठाण। इसका अर्थ है—अभ्युत्थान, अर्थात् उठकर खडा होना। यह शिष्टा-

चार का एक अग है कि कोई व्यक्ति हमारे यहाँ आए तो हम उसी वक्त उठकर खडे होकर उसका सत्कार करें। आप गद्दी पर बैठे होते हैं और अगर कोई विशिष्ट व्यक्ति आपके सन्मुख आता है तो आप उसी क्षण उठकर उसका सत्कार करते हैं। यही साधु-सत के लिए होता है कि उनके सामने आते ही श्रावक उठकर खडे हो जाते हैं और वन्दनादि के द्वारा उन्हे सम्मान देते हैं। किन्तु साधु के कही पहुँचने पर अगर कोई व्यक्ति ऐसा न करे तो भी उन्हें इस बात पर रचमात्र भी ध्यान नही देना चाहिए और न ही इसकी आकाक्षा रखते हुए क्रोध करना चाहिए। साधु के मन मे पल मात्र के लिए भी यह विचार कभी नही आना चाहिए कि अमुक व्यक्ति का या अमुक साधु का इस व्यक्ति ने खडे होकर स्वागत किया और मेरे आने पर ऐसा नही किया। इस विचार को लेकर कभी यह भी नही सोचना चाहिए कि अब कभी मुझे इसके यहाँ नही जाना है। सामने वाला व्यक्ति उठकर खडा हो या न हो, नमस्कार करे या न करे, साधु के हृदय मे इस बात के कारण किसी भी प्रकार की खेद-खिन्नता का भाव उत्पन्न नही होना चाहिए। ऐसा होने पर ही अपने समभाव के कारण वह सवर मे प्रवेश कर सकता है।

अब आता है तीसरा शब्द—'निमत्तण।' इसका अर्थ है निमन्त्रण। साधारणतया आप लोग किसी के द्वारा निमन्त्रण देने पर ही भोजन करने अथवा चाय-नाश्ता लेने जाते हैं किन्तु साधु अतिथि होते है अत वे निमन्त्रण की अपेक्षा नही रखते। चाहे कोई निमन्त्रण दे अथवा नही, वे जितनी जरूरत होती है, उतने के लिए बिना किसी के निमन्त्रित किये किसी के यहाँ भी जाकर भिक्षा आदि लाते हैं। वे यह विचार नही करते कि अमुक ने मुझे निमन्त्रण नही दिया या बुलाया नहीं तो उसके घर नही जाएँगे। निमन्त्रण देने पर ही जाना अन्यथा नही, ऐसा विचार करना घमण्ड का द्योतक है और घमण्ड करना कर्म-बन्धन का कारण। इसलिए साधु को ऐसी भावना से सर्वथा परे रहना चाहिए। ऐसा न करने पर अर्थात् निमन्त्रित किये जाने और बुलाये जाने की अपेक्षा रखने पर कभी-कभी बडे भयानक परिणाम सामने आते हैं और अगले जन्मो मे भी उसका फल भोगना पडता है। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट करता हूँ।

विचित्र दोहद

महाराज श्रेणिक के समय मे एक तपस्वी सत थे। वे महीने-महीने की तपस्या किया करते थे। वे एक महीने का उपवास तप करके पारणा करते और पुन मासखमण प्रारम्भ कर देते थे।

ऐसा करने के कारण शहर मे उनकी बडी प्रशसा होने लगी और राजा श्रेणिक के कानों तक भी यह बात पहुँची। सुनकर श्रेणिक के हृदय मे उन्हे मासखमण का पारणा कराने की इच्छा हुई और उन्होंने सत के पास जाकर पारणे के दिन

अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दिया। तपस्वी ने भी निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया किन्तु जव पारणे का दिन आया तो राजा उन्हे वुलाना भूल गये। यह कोई वडी बात भी नही थी क्योंकि राजा के पीछे राज्य की अनेको झझटे और चिन्ताएँ लगी रहती हैं।

पर तपस्वी राजा के न बुलाने पर पारणे के दिन उसके यहाँ नही गए और बिना पारणा किये ही दूसरा मासखमण प्रारम्भ कर दिया। इधर कुछ दिन वाद जव राजा को यह ध्यान आया और मालूम हुआ कि तपस्वी ने पारणा किये विना ही दूसरा मासखमण प्रारम्भ कर दिया है तो उन्हे अत्यन्त खेद हुआ और उसी वक्त जाकर उन्होंने तपस्वी से क्षमा याचना करके अगले पारणे के लिये निमन्त्रण दे दिया।

किन्तु सयोग की बात थी कि ठीक पारणे के दिन राजा श्रेणिक फिर उन्हे बुलाना भूल गये और तपस्वी ने तीसरा मासखमण प्रारम्भ कर दिया। पर ध्यान आते ही राजा को वडा भारी दुख हुआ और वे तपस्वी के पास जाकर वोले—"महाराज! मुझसे फिर महान् भूल हो गई। कृपा करके इस बार मेरे यहाँ अवश्य पधारियेगा।" तपस्वी ने उनके निमत्रण को फिर स्वीकार कर लिया।

किन्तु कहा जाता है कि—"होनहार कभी टल नही सकती।" दुर्भाग्यवश तीसरे मासखमण के पारणे के दिन भी श्रेणिक तपस्वी को वुलाना भूल ही गये। वहुत देर तक तो तपस्वी ने उनकी प्रतीक्षा की किन्तु वे नही आए तो उन्हे भयानक क्रोध ने आ घेरा।

अव क्या था। क्रोध तो जो न करे वही अच्छा है। आप जानते ही हैं कि क्रोध की आग क्रोध करने वाले को जलाती है और जिस पर किया जाय उसको भी जला डालती है। शास्त्रो मे तो यहाँ तक कहा गया है—

कोहेण अप्प डहति पर च,
अत्थ च धम्म च तहेव काम।
तिव्वपि वेर य करेंति कोहा,
अधम गति वाविउविंति कोहा॥

—ऋषिभाषित ३६-१३

क्रोध से आत्मा 'स्व' एव 'पर' दोनो को जलाता है, अर्थ, धर्म और काम को जलाता है, तीव्रवैर भी करता है तथा नीच गति को प्राप्त करता है।

तो वन्धुओ, यही क्रोध तपस्वी के मानस मे प्रज्वलित हो उठा और उसने तपस्वी के विवेक को भस्म कर दिया। परिणाम यह हुआ कि मारे क्रोध के उसने निदान किया—"अगर मेरी तपस्या का फल मुझे प्राप्त हो तो यही कि मैं राजा श्रेणिक को मारूँ।"

इस प्रकार जिस तप के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट किया जा सकता है, उस तप को तपस्वी ने उलटे कर्म-बधनो का कारण बनाया। वह भूल गया कि—

'भव कोडी-सचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जई।'

अर्थात्—साधक करोडो भवो के सचित कर्मों को तपस्या के द्वारा क्षीण कर सकता है।

तपस्वी यह जानता था, किन्तु क्रोध ने उसे अधा बना दिया और परिणाम यह हुआ कि वह मरकर राजा श्रेणिक की रानी चेलना के गर्भ मे आया।

उसके गर्भ मे आते ही रानी चेलना के हृदय मे दोहद उत्पन्न हुआ कि—"मैं महाराज श्रेणिक के कलेजे का मास खाऊँ।" चेलना सती-साध्वी नारी थी। अत अपनी ऐसी इच्छा के जाग्रत होने पर बडी चकित और हैरान हुई। भला अपने 'पति के कलेजे' का मास खाने की अभिलाषा वह कैसे व्यक्त कर सकती थी? उसे यह भी ज्ञात नही था कि उसके गर्भ मे आने वाला जीव श्रेणिक के पूर्व जन्म का वैरी है।

वह उस गर्भस्थ प्राणी के कारण उत्पन्न होने वाली तीव्र इच्छा को दबाने लगी और इसका परिणाम यह हुआ कि निरन्तर हृदय के अपने भावो से सघर्ष करते रहने से उसका शरीर कमजोर, कातिहीन और पीला पडने लगा।

अपनी प्रिय रानी चेलना की यह हालत देखकर राजा श्रेणिक को बडी चिन्ता हुई और उन्होने रानी से इसका कारण पूछा। रानी क्या बताती? कोई व्याधि तो उसके शरीर मे थी नही। पर राजा के अत्यधिक आग्रह करने पर उसने अपने विचित्र दोहद के विषय मे राजा को बताया।

राजा ने शाति से रानी की बात सुनी और उसके पश्चात् अपने बुद्धिमान मन्त्री अभयकुमार से इस बारे मे बात की। अभयकुमार विचक्षण बुद्धि के धनी थे, वे समझ गये कि रानी के गर्भ मे कोई श्रेणिक का शत्रु ही आया है और आते ही वह दोहद उत्पन्न करके अपना वैर निकालना चाहता है। उन्होंने राजा को सान्त्वना देते हुए कहा—"महाराज! आप चिन्ता मत कीजिये। मैं ऐसा उपाय करूँगा कि साँप भी मर जाएगा और लाठी भी नही टूटेगी।"

अपनी योजना के अनुसार अभयकुमार ने रानी के पार्श्व मे स्थित भवन मे किसी और प्राणी के मास के टुकडे किये, पर साथ ही राजा श्रेणिक को इस प्रकार कराहने एव आर्तनाद करने के लिए कहा, जैसे कि उनके ही प्राण निकल रहे हो। कुछ समय पश्चात् ही मास ले जाकर रानी को दिया गया और रानी ने उसे खाकर सतुष्टि का अनुभव किया। रानी का दोहद पूर्ण हुआ और राजा के प्राण भी अभयकुमार की बुद्धिमत्ता के कारण बच गये।

बधुओ ! मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि तपस्वी ने राजा श्रेणिक के निमत्रण और उसके पश्चात् बुलाये जाने की अपेक्षा रखी थी, उसके कारण ही उसकी स्वय की घोर तपस्या तो निरर्थक गई ही साथ ही रानी चेलना और श्रेणिक को भी मुसीवत मे पडना पडा ।

इसीलिये भगवान महावीर स्पष्ट आदेश देते है कि मुनि कभी भी किसी के द्वारा अभिवादन किये जाने की, किसी के द्वारा खडे होकर अभ्यर्थना करने की और निमन्त्रित किये जाने की आकाक्षा न करे । ऐसा करने पर ही वह 'सत्कार परिषह' पर विजय प्राप्त कर सकेगा तथा सवर-मार्ग पर सरलता से बढ सकेगा । 'सत्कार परिषह' यद्यपि अनुकूल परिषह है और इसके कारण शरीर को कोई कष्ट नही उठाना पडता, उलटे मन को सुख प्राप्त होता दिखाई देता है । किन्तु मन मे राग-भाव एव अहकार उत्पन्न करके यह आत्मा के बधन का कारण बनता ही है और कालान्तर मे उसे ससार-भ्रमण कराता हुआ कष्ट पहुँचाता है । अत साधु के लिए और प्रत्येक अन्य मुमुक्षु के लिए भी सत्कार एव सम्मान को परिषह समझकर उससे बचना आवश्यक है । ऐसा करने पर ही कर्मो के आवरणो को हटाया जा सकेगा तथा आत्मा निरन्तर हलकी हो सकेगी ।

❀

२९ | साधक के कर्तव्य

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

सवर तत्व पर हमारा विवेचन चल रहा है। सवर के सत्तावन भेद हैं और उसमे सत्ताईसवाँ भेद 'सक्कार-पुरक्कार परिषह' बताया गया है। इस परिषह पर कल 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय की अडतीसवी गाथा को हमने लिया था और उस पर विचार-विमर्श किया था। आज हमे ३९वी गाथा को लेना है, वह इस प्रकार है—

> अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए।
> रसेसु नाणुगिज्झेज्जा, नाणुतप्पेज्ज पन्नव ।।

यह गाथा साधु-साध्वियो के लिए बहुत ही विचारणीय है, क्योकि इसमे उन्हे किस प्रकार रहना चाहिये यह बताया गया है। इसलिए हम इसमे दिये गये शब्दो को क्रमानुसार लेंगे।

(१) अल्प कषाय

गाथा मे दिया गया पहला शब्द है—'अणुक्कसाई', अणुक्कसाई का अर्थ है अनुकपाई यानि कम कषाय होना। आप कहेगे कि कषाय तो रहे ही क्यो ? इसका तो सर्वथा नाश होना चाहिए तथा यही उपदेश भी दिया जाना चाहिये। आपका यह विचार ठीक भी है किन्तु मञ्जिल पर कोई एकदम नही पहुँच सकता, उसे पाने के लिए मार्ग तो तय करना ही होगा। मकान के ऊपरी खण्ड पर पहुँचने के लिए व्यक्ति जिस प्रकार सीढियो पर चढता है और क्रमश सीढियाँ पार करता हुआ उस पर पहुँचता है, उसी प्रकार सवर, मार्ग अथवा वे सीढियाँ हैं, जिन पर क्रमश चढता हुआ व्यक्ति मुक्ति रूपी सर्वोच्च मञ्जिल पर जा पहुँचता है।

इस प्रकार कषायो का सर्वथा नाश होने पर तो केवलज्ञान हो जाता है, पर उसकी प्राप्ति से पहले तो कषायो को कम करते जाना साधक के लिए आवश्यक है। इन्हें कम से कम करते जाने पर ही केवलज्ञान रूपी स्थिति तक पहुँचा जा सकेगा।

पूज्य श्री त्रिलोकऋषि जी म० ने कषायो को लेकर एक वडा सुन्दर एव प्रेरणात्मक पद्य लिखा है। वह इस प्रकार है—

प्रेमशी जुझारशी वश किया जीवराज,
मानसिह मायादास मिल्या चारो भाई है।
करमचन्द जी काठा भया, रूपचन्द जी सूं प्यार,
धनराज जी की वात चाहत सदाई है ॥
ज्ञानचन्दजी की वात, सुने न चेतनराज,
आवे नहीं दयाचन्द सदा सुखदायी है।
कहत त्रिलोकरिख, मनाय लीजे प्रेमचन्द,
नहीं तो कालूराम आया विपत्ति सवाई है ॥

कच्छ देश मे किसी के भी नाम के आगे 'शी' लगाने की प्रथा है। कवि ने भी यहाँ कषायो के आगे 'शी' लगाकर पद्य को आध्यात्मिक होते हुए भी रोचक वना दिया है। यहाँ पर प्रेमशी से आशय है लोभ और जुझारशी से क्रोध। कवि का कहना है कि क्रोध, मान, माया एव लोभ इन चारो भाइयो ने मिलकर जीवराज अर्थात् आत्मा को घेरकर अपने वश मे कर लिया है। परिणाम यह हुआ कि करमचन्द जी की पाँचो अगुली घी मे हो गई है। यानी आत्मा को कर्मों ने खूव अच्छी तरह मे जकड लिया है।

आत्मा को वन्धन मे डालने वाले कषाय ही हैं। इनकी तारीफ तो यह है कि इन चारो मे से कोई एक भी अगर मन मे किसी तरह प्रवेश कर लेता है तो अन्य तीनो को भी झट अपने पास वुला लेता है।

साधारणतया हम देखते हैं कि सासारिक प्राणियो मे से कोई एक जहाँ अपना अड्डा जमा लेता है, वहाँ दूसरे को फटकने देना भी नही चाहता। पेडो पर पक्षी घोसले वनाते हैं पर अगर दूसरा पक्षी उनके घोसले मे आकर वैठ जाय तो उसी क्षण घोसले मे रहने वाला पक्षी चोच मार-मारकर उसे भगा देता है। आप लोग भी रेलो और मोटरो मे सफर करते हैं तथा सभी लोग टिकटो के उतने ही पैसे देते हैं। पर जो व्यक्ति उनमे पहले ही जाकर वैठ जाते हैं वे वाद मे आने वालो को फूटी आँखो देखना भी पसन्द नही करते तथा खिडकियो मे वैठे रहकर ही वाहर वालो से कह देते हैं—'यहाँ जगह नही है, आगे देखो।'

किन्तु कषाय एक-दूसरे से कभी यह नही कहते, उलटे स्वय अड्डा जमा कर जल्दी से जल्दी अपने अन्य साथियो को भी निमन्त्रण देकर वुला लेते हैं। परिणाम यही होता है कि इन चारो से जूझने मे आत्मा असमर्थ हो जाती है और कर्मों का वन्धन वेग से होने लगता है। अपनी अज्ञानता के कारण यानी अपनी शक्ति को न

पहचान पाने के कारण वह कषायो के चक्रव्यूह मे फँस जाती है और उनके द्वारा तैयार किये हुए कर्मरूपी शस्त्रास्त्रो से आघात पाती हुई जन्म-जन्मान्तर तक कष्ट पाती रहती है।

वन्धुओ ! आत्मा को कर्म घेरे हुए है यह कोई नई वात नही है, आवश्यकता केवल इस वात की है कि आत्मा अपनी शक्ति को अव पहचान ले तथा सवर के मार्ग को अपनाकर कषायो को कम करते हुए उनकी शक्ति को क्षीण करती चली जाय। वँधे हुए कर्मों के फल से तो नहीं वचा जा सकता, किन्तु सवर को अपनाकर नवीन कर्मों के वधन से वचा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, जो ललाट मे लिखा जा चुका है उसे मेटने मे तो कोई भी समर्थ नही होता पर नया लिखा जाने से वचा जा सकता है।

सस्कृत के एक श्लोक मे भी चन्द्रमा का उदाहरण देते हुए कहा है—

स हि गगनविहारी, कल्मषध्वसकारी,
दशशतकरधारी ज्योतिषा मध्यचारी।
विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणाऽसौ,
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितु क समर्थ ॥

श्लोक मे चन्द्र के विषय मे कहा गया है कि वह गगनविहारी अर्थात आकाश मे अधर विचरण करने वाला है, अन्धकार को नष्ट करता है, दस सौ यानी हजार किरण-रूपी हाथो का अधिकारी है तथा ज्योतिप शास्त्र मे अपना वडा भारी महत्व रखता है। ज्योतिषी लोग कुण्डली देखते समय सर्वप्रथम चन्द्रवल देखा करते हैं।

किन्तु इतना महत्व रखने वाला चन्द्र भी राहू के द्वारा ग्रसित होता है। राहू दो प्रकार के हैं। एक नित्यराहू, जो चन्द्रमा की एक-एक कला रोज खाता है और दूसरा पर्वराहू, जो पूर्णचन्द्र को खाता है। इसीलिए कहा गया है कि ललाट पर लिखे गये को मेटने मे कौन समर्थ है ?

तो हजार हाथ रखने वाला तथा सदा गगन मे विचरण करने वाला चन्द्र भी जव राहू के द्वारा ग्रस लिया जाता है तो फिर जीवात्मा कर्म-फल भोगने से कैसे वच सकता है ? यानी नही वच सकता, उसे उनका फल भोगना ही पडता है। पर खेद की वात यही है कि वह कर्मो के विषय मे सव कुछ जानते-समझते हुए भी कषायो से परे रहने का प्रयत्न नही करता तथा लोभ-लालच से नही वचता। धन को महान् अनिष्ट-कारी तथा कर्म-वन्धन का मूल कारण जानकर भी प्राणी उसी पर आसक्ति रखता है तथा उसे एकत्रित करने मे अनेकानेक प्रगाढ कर्म वाँध लेता है।

कवि का कथन है कि 'चेतनराज लोभ मे पडकर ज्ञानचन्द की सीख भी नहीं मानता और न कभी दयाचन्द और नेमचन्द को अपने यहाँ आमन्त्रित करता है।'

चेतन, ज्ञान, दया और नेम आदि का नामकरण करते हुए कवि ने अपनी भाषा को मनोरजक बनाया है पर उनका भाव यही है कि—'जीवात्मा कषायो के फेर मे पड कर अपने विवेक को खो बैठता है तथा ज्ञानी पुरुषो के उपदेशो को भी इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देता है। परिणाम यही होता है कि विवेक और ज्ञान के अभाव मे वह करुणा, दया एव सद्भावना आदि के उत्तम गुणो को नही अपना पाता। पर ऐसा होना नही चाहिए। व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने मन को व्रतो और नियमो के अकुश मे रखकर कषायो के आक्रमण से बचाए तथा कर्म-बधन न होने दे। अन्यथा एक-एक क्षण करके जीवन सम्पूर्ण हो जायगा और 'कालूराम' यानी काल के आते ही विपत्ति मे पडना पडेगा।

उस समय फिर कुछ भी नही हो सकेगा और केवल पश्चात्ताप ही हाथ आयगा। मृत्यु एक क्षण का भी मानव को अवकाश नही देती। कहा भी है—

णाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि।

मृत्यु के मुख मे पडे हुए प्राणी को मृत्यु न आए, ऐसा कभी नही हो सकता।

तो बधुओ! इसीलिए भगवान ने फरमाया है कि मुमुक्षु प्राणी को चाहे वह ग्रहस्थ हो या साधु, सदा अनुकषाई यानी अल्प कषाय वाला बनने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी वह सवर-मार्ग पर यथाविधि गमन कर सकेगा।

(२) अल्प इच्छाएँ

गाथा मे दूसरा शब्द आया है—'अप्पिछे।' इसका अर्थ है—अल्पइच्छाएँ रखने वाला। जब तक साधक वीतराग अवस्था तक नही पहुँचता है, तब तक उसकी इच्छाएँ समाप्त नही हो सकती। किन्तु प्रयत्न करते रहने मे वह अपनी इच्छाएँ कम से कम करता जा सकता है। जो व्यक्ति ज्यादा इच्छाएँ रखता है, वह लोभ और लालच मे फँसकर अधिक परिग्रह इकट्ठा कर लेता है तथा अधिकाधिक पाप-कर्मों मे प्रवृत्त होता है। किन्तु जो भव्य प्राणी इच्छाओ को कम करता चला जाता है, उसकी सासारिक पदार्थों पर से आसक्ति कम होती जाती है और वह स्वत ही पाप-क्रियाओ मे बचने लगता है।

हमारे धर्म-शास्त्रो ने इच्छाओ पर रोक लगाने के लिए ही ग्रहस्थो के लिए पाँचवाँ परिग्रह-परिमाण व्रत बताया है। इसे ग्रहण करने पर व्यक्ति कम से कम अपने परिग्रह की एक सीमा तो बाँध सकता है ताकि वहाँ तक पहुँचने पर सतोष धारण किया जा सके। अन्यथा तो इच्छाएँ कभी भी पूर्ण नही होती तथा कभी उनका अन्त भी नही आता। कहा भी है—

"इच्छा हु आगाससमा अणतिया।"

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त या असीम है।

इच्छाओ की वृद्धि के कारण ही मानव परिग्रह बढाता है तथा उसके लिए
अनेकानेक पाप करता है। इतना ही नही, ये इच्छाएँ अन्य सभी कषायो को निमन्त्रण
देकर उसकी आत्मा को नाना कर्मों मे जकड देती हैं । परिग्रह के विषय मे 'श्री
प्रश्नव्याकरण सूत्र मे तो यहाँ तक कहा गया है—

लोभ-कलि-कसाय-महक्खधो,
चिंता सयनिचयविपुलसालो ।
नत्थि एरिसो पासो पडिबधो अत्थि,
सव्व जीवाण सव्वलोए ।।

अर्थात्—परिग्रह रूपी वृक्ष के स्कन्ध यानी तने हैं—लोभ, क्लेश और कषाय।
तथा चिन्ता रूपी सैंकडो सघन एव विस्तीर्ण उसकी शाखाएँ हैं।
आगे कहा है—इस सम्पूर्ण लोक मे परिग्रह के समान प्राणियो के लिए दूसरा
और कोई जाल एव वन्धन नही है।

अभिप्राय यही है कि अधिक इच्छाएँ अधिक परिग्रह वढाने के लिए मनुष्य
को प्रेरित करती हैं और इसीलिए इन्हे कम करने के लिए 'परिग्रह-परिमाण व्रत' का
विधान किया गया है। गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए ससारी व्यक्तियो को अपने
परिग्रह की सीमा तो निर्धारित कर ही लेनी चाहिए और जव गृहस्थ के लिए भी
इच्छाओ को कम करने की आवश्यकता है तो फिर जिन सत-मुनियो ने अपना घर-
वार एव सम्पूर्ण धन वैभव त्याग दिया है तो फिर उन्हे इच्छाएँ और कषायादि रखना
कहाँ उचित है ? उन्हे तो इच्छाओ का समूल नाश कर देना चाहिये और छद्मस्थ होने
के नाते इतना न हो सके तो उन्हे अल्प से अल्प करके साधना-पथ पर बढना चाहिए।
अन्यथा आत्मा का उद्धार कदापि सम्भव नही है।

वैदिक साहित्य मे उल्लेख है कि आद्य शकराचार्य एक साधारण कुल मे
उत्पन्न हुए थे, घोर दरिद्रता के बीच मे ही किसी तरह उन्होने अपनी बुद्धि एव
परिश्रम से ज्ञानार्जन किया एव साधना करना प्रारम्भ कर दिया। चूंकि वे दरिद्रता
मे पले थे अत उन्होने अपनी साधना का लक्ष्य धन को वनाया अर्थात् धन के लिए
साधना की। किन्तु इसमे वे सफल नही हो पाए और लक्ष्मी ने उन पर कृपा नही
की। यह देखकर उन्हे उससे घोर विरक्ति हो गई और उन्होने धन प्राप्ति की इच्छा
का सर्वथा त्याग करके सन्यास ग्रहण कर लिया। पर सन्यासी वनने पर जव उन्होंने
आत्म-कल्याण के लिए साधना करना प्रारम्भ किया तो लक्ष्मी भी उनके समक्ष
हाजिर हो गई। पर वे लक्ष्मी से विरक्त हो गए थे अत उन्होने कह दिया कि अव
उन्हे उसकी जरूरत नही है।

कहने का आशय यही है कि मनुष्य लक्ष्मी के पीछे जितना अधिक दौडता है,
वह उतनी ही आगे चली जाती है और उससे मुंह मोड लेने पर वह हाथ जोडकर

सामने आती है। भले ही ऐसा एक ही जन्म मे न भी हो पर अगले जन्मो मे भी वह प्राप्त होती है। ऐसे उदाहरण हमे शास्त्रो मे मिलते हैं।

इसीलिए मानव को कम से कम इच्छाएँ रखनी चाहिए और साधु को तो उनका सर्वथा परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। ऐसा करने पर ही उसकी साधना निर्विघ्न रूप से आगे बढ सकती है। कोई कह सकता है कि सत के लिए इच्छाओ की कमी और वृद्धि क्या ? वे तो वैसे ही कम परिग्रह रखते हैं। पर यह बात नही है। वे जो कुछ रखते हैं उनमे भी कमी हो सकती है। वस्त्र एव पात्र आदि जितने कम रहेगे, बोझ उतना ही कम हो जाएगा। दस पात्र के स्थान पर आठ रखे जायें तो परिग्रह मे और इच्छा मे कमी आई या नही ? इसी प्रकार वस्त्र के लिए भी किया जा सकता है। दो वस्त्र भी कम कर दिये तो समझो इच्छा अल्प हुई। इसके अलावा इच्छा या आसक्ति भावना मे होती है। एक चक्रवर्ती अगर अपने साम्राज्य एव अपार वैभव मे भी आसक्ति नही रखता तो वह अपरिग्रही माना जा सकता है और एक भिखारी अगर अपनी गुदडी मे भी घोर आसक्ति रखता है तो वह परिग्रही कहा जाता है, क्योकि उसकी उस गुदडी मे अपार ममता होती है। इसलिए साधु के लिए तो भगवान का आदेश है कि वह अपनी इच्छाएँ अल्पतर करता चला जाय। दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्याय मे उसके लिए कहा भी है—'लघुभूय-विहारिण।'

वस्तुत हलके होकर विहार करने से चलने मे तकलीफ नही होती और कम से कम सामग्री होने मे मन को भी सन्तोष रहता है। साधु जितना लघुभूत रहेगा उतना ही अल्प-इच्छा वाला होकर सयम के मार्ग पर बढ सकेगा। मर्यादा मे रहना आत्मा के लिए महान कल्याणकारी होता है तथा सवर के मार्ग पर सुगमता से गति हो सकती है।

प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति परिग्रह और उसके प्रति रहने वाली आसक्ति से होने वाले अनर्थ को समझकर अपनी तृष्णा एव इच्छाओ को कम कर लेता है। मनीषी पुरुष कहते भी हैं कि व्यक्ति को तीन बातो मे सतोष करना चाहिए और अन्य तीन बातो से कभी सन्तुष्ट नही होना चाहिए।

आपको जानने की उत्सुकता होगी कि वे कौनसी तीन बातें सन्तोष रखने की हैं और कौनसी नही ? मैं वे ही बताने जा रहा हूँ। प्रथम ये तीन बातें हैं जिनसे सदा सन्तुष्ट रहना चाहिये—(१) पर-धन, (२) पर-स्त्री एव (३) पर-निन्दा।

बधुओ ! धन के विषय मे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। आप जानते ही होंगे कि मनुष्य का अपना धन भी तृष्णा आसक्ति एव कषायो को बढाने का कारण होने से आत्मा के लिए कर्म-बधन का कारण बनता है। तो फिर पराया धन हडपना या उसे प्राप्त करने की निकृष्ट इच्छा रखना उसके लिए कितना हानि-

कारक नही होगा ? अपने धन के प्रति गृद्धता रखने पर तो फिर भी उसका फल तुरन्त न मिलकर अगले जन्मो मे मिले किन्तु पराये धन को प्राप्त करने का प्रयत्न तो अधिकतर इसी जन्म मे अपना प्रभाव दिखाई देता है। एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है।

पाप सिर पर चढ़कर बोलता है

एक व्यक्ति बडा गरीब था अत उसने एक बार बहुत आवश्यकता होने के कारण किसी साहूकार से पाँच सौ रुपये उधार लिए और शर्तनामा लिखकर दे दिया। पाँच सौ रुपयो से उसने कुछ धधा किया और सौभाग्य से उसे दिन प्रतिदिन काफी आमदनी हुई। दो साल मे तो उस पूंजी से ही उसकी एक छोटी-सी दुकान चालू हो गई।

पर ज्योही उसके पास कुछ पैसा आ गया, उसकी नीयत बदल गई और उसने व्यापारी के पाँच सौ रुपये हडप जाने का इरादा किया। इधर दो वर्ष तक जब वह व्यक्ति साहूकार के रुपये या ब्याज देने नही आया तो साहूकार उसके घर पर रुपये माँगने गया।

व्यक्ति का ईमान तो विचलित हो चुका था अत उसने कहा—"मेरा रुक्का दिखाओ।"

साहूकार ने तुरन्त ही उसका रुक्का निकालकर व्यक्ति को देखने के लिए दे दिया। व्यक्ति ने वह रुक्का हाथ मे आते ही तनिक उलटा-पलटा और शीघ्रतापूर्वक फाडकर टुकडे-टुकडे कर दिया।

साहूकार को इस पर बडा क्रोध आया। उसने नगर के राजा के पास जाकर इस बात की फरियाद की। राजा ने दोनो व्यक्तियो को बुलाया और रुपयो के बारे मे पूछताछ की पर रुपये लेने वाला व्यक्ति साफ बदल गया और उसने कह दिया— "मैंने स्वप्न मे भी कभी इस साहूकार से रुपये उधार नहीं लिए। अगर लिए होते तो इसके पास मेरा शर्तनामा होता।"

राजा की समझ मे नही आया कि वह इस मामले मे क्या करे। अत उसने अपने बुद्धिमान मत्री को यह झगडा निपटाने का कार्य सौंप दिया। मत्री ने उस दिन तो दोनो को घर भेज दिया किन्तु अगले दिन पुन दरबार मे उपस्थित होने का आदेश दिया।

इस बीच मत्री ने रुपये देने वाले साहूकार को चुपचाप बुलवाया और उससे पूछा—"उस व्यक्ति का लिखा हुआ शर्तनामा कितना लम्बा-चौडा था ?" साहूकार ने सब बात बता दी। तब मत्री ने सोच-विचारकर उससे कहा—"कल तुम दरबार मे आकर कह देना कि इस व्यक्ति का लिखा हुआ शर्तनामा एक हाथ लम्बा था।"

अगले दिन साहूकार और वह रुपये लेने वाला व्यक्ति, दोनो ही दरबार मे उपस्थित हो गये। मन्त्री ने साहूकार से पूछा—"तुम्हारा शर्तनामा कितना लम्बा था?"

साहूकार ने कहा—"मन्त्री जी! शर्तनामा एक हाथ लम्बा था।"

यह सुनते ही रुपये लेने वाला व्यक्ति क्रोध के मारे भान भूल गया और चिल्लाकर बोला—"सरकार! यह साहूकार झूठा और मक्कार है। पांच सौ रुपये का शर्तनामा हाथ भर का क्या होता, वह तो केवल बालिश्त भर का ही था।"

इस प्रकार स्वय रुपये लेने वाले के मुँह से ही सच्ची बात प्रकट हो गई और उसे बेईमानी करने के अपराध मे जेल भेज दिया गया।

तो बधुओ भले ही पैसा थोडा था, किन्तु दूसरे का धन हडप जाने की भावना होने के कारण उस व्यक्ति को तुरन्त ही कुफल प्राप्त हो गया।

इसलिए व्यक्ति को कभी दूसरे का धन प्राप्त करने की वाञ्छा नही करनी चाहिए तथा इसी प्रकार पराई स्त्री की ओर भी कुदृष्टि नही डालनी चाहिए। परस्त्री का अभिलाषी रावण किस प्रकार अपने कुल सहित नष्ट हुआ, यह तो जगत-प्रसिद्ध बात है ही। पूज्य श्री अमीऋषि जी म० ने भी कहा है—

परत्रिय सग किये हारे कुल, कान दाम,
नाम धाम धरम आचार दे विसार के।
लोक मे कुजस नहीं करे परतीत कोउ,
प्रजापाल दडे औ विटबे मान परि के॥
पातक है भारी दुखकारी भवहारी नर,
कुगति सिधावै वश होय परनारि के।
यातें अमीरिख धारे, शियल विशुद्ध चित्त,
तजो कुव्यसन हित-सीख उर धरि के॥

महामना सत श्री का कथन है कि जो नीच पुरुप अपने धर्म, आचार एव विवेक का त्याग करके परस्त्री-गमन करते है वे अपने कुल का गौरव, लज्जा एव धन आदि सभी से रिक्त हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति ससार मे अपयश का और अप्रतीति का पात्र बनते हुए न्यायालय मे भी दण्डित होते है। इतना ही नही, इस जन्म मे परस्त्री-गमन के पाप की सजा भोग लेने पर भी मरने के पश्चात् कुगति को प्राप्त होते हैं। इसलिए प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को शुद्ध हृदय से शीलव्रत का पालन करते हुए स्व-स्त्री से सन्तुष्ट रहना चाहिए।

तीसरी बात है पर-निन्दा। पराई निन्दा करने से किसी का कोई लाभ नहीं होता, उलटे उसके मूल मे ईर्ष्या एव द्वेषादि कषायों के जागृत रहने से अनेकानेक कर्मो का बधन होता रहता है। इसलिए अपने धन, जन एव ज्ञानादि मे सन्तोष रखते हुए मनुष्य को औरो की निन्दा से बचना चाहिए।

अब हमारे सामने वे तीन बातें भी आती है, जिनसे व्यक्ति को कभी सन्तोष नही करना है। ये बाते है—दान, ज्ञानार्जन एव कर्म। जो भव्य प्राणी इन बातो के महत्व को समझ लेता है वह सवर-मार्ग पर बडी सरलता से बढ चलता है।

दान वही व्यक्ति कर सकता है जो कि धन-दौलत मे गृद्धता न रखता हो। वास्तव मे धन-वैभव के द्वारा आत्मा का तनिक भी कल्याण नही होता। फिर भी मानव माया के लिए नाना-कुकर्म करके आत्मा को पाप-कर्मों से जकड लेता है। वह धन आदि परिग्रह के लिए अठारह पापो का सेवन करने मे भी नही हिचकिचाता पर ऐसा होना नही चाहिए और मानव को जितना भी हो सके मुक्त हाथ से अभाव-ग्रस्त प्राणियो को दान देते रहना चाहिए। उससे लेने वाले को तो लाभ होगा ही साथ ही स्वय उसे पुण्य के रूप मे अनेक गुना वापिस मिल जाएगा। इसीलिए कहते हैं कि दान देने से कभी सन्तुष्ट नही होना चाहिए तथा अधिक से अधिक देने की प्रवृत्ति रखनी चाहिए।

दूसरी बात है ज्ञानार्जन की। आज हम देखते हैं कि थोडा-सा पढ-लिखकर ही व्यक्ति अपने आप को विद्वान या महापण्डित मानकर गर्व से भर जाता है। पर वह यह नही समझ पाता कि ज्ञान तो ऐसा अगाध सागर है जिसमे चाहे जीवनभर गोते लगाते रहो, सदा ही कुछ न कुछ हासिल होता रहेगा। फिर थोडी सी विद्या हासिल करके ही अपने आपको ज्ञानी मान लेना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? ज्ञान ऐसी वस्तु ही नही है जिसे कोई व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से प्राप्त कर ले। उसे तो व्यक्ति ज्यो-ज्यो हासिल करता है, त्यो-त्यो उसके विचारो मे सरलता, निष्कलुषता एव विशालता आती है। जिसके द्वारा भेद-भाव, सकीर्णता एव क्षुद्रता का नाश होता है।

ज्ञान का प्रभाव

कहा जाता है कि बगाल के सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक देवेन्द्रनाथ ठाकुर पहले धार्मिक एव साम्प्रदायिक दृष्टि से बडे ही सकीर्ण विचारो के थे। अपने धर्म और सम्पदाय के समक्ष अन्य धर्मों को वे अत्यन्त हेय और तुच्छ समझते थे। किन्तु ज्यो-ज्यो उन्होने ज्ञान हासिल किया त्यो-त्यो उनके हृदय मे अन्य धर्मों और सम्प्रदायो के प्रति रही हुई नफरत की भावना लुप्त होती गई।

इसके कारण जब एक बार ब्रह्म समाज के बडे भारी विचारक एव उपदेशक प्रतापचन्द मजूमदार उनके घर गये तो यह देखकर चकित रह गये कि देवेन्द्र ठाकुर के यहाँ सभी धर्मों के उच्च कोटि के ग्रन्थ रखे हुए थे। मजूमदार ने आश्चर्य के मारे पूछ भी लिया—"भाई ठाकुर! तुम तो अपने धर्म के अलावा किसी अन्य धर्म का नाम भी सुनना नही चाहते थे, फिर आज तुम्हारे यहाँ इन सब धर्मों का साहित्य मैं कैसे देख रहा हूँ?"

देवेन्द्रनाथ ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—

"बन्धु ! तुम्हारा कहना यथार्थ है पर बात यह है कि जो व्यक्ति जमीन पर चलता है उसे धरातल पर भूमि ऊबड-खाबड दिखाई देती है, किन्तु जब वह कुछ ऊपर उठ जाता है तो यही पृथ्वी उसे समतल दिखाई देने लग जाती है। मेरा भी यही हाल हुआ है। जब तक मेरे विचारो मे परिपक्वता नही थी, तब तक मेरा हृदय धार्मिक एव साम्प्रदायिक भेदो से भरा रहता था, किन्तु ज्ञान की थोड़ी सी ऊँचाई पर पहुँचते ही अब मुझे सभी धर्म समान महत्वशाली दिखाई देने लगे हैं और मेरे मन मे समता तथा सद्भाव के पनप जाने के कारण मेरी वृत्ति प्रत्येक धर्म-शास्त्र से गुण एव विशेषताएँ ग्रहण करने की बन गई है।"

कहने का अभिप्राय यही है कि थोडा-सा ज्ञान हासिल करके सतुष्ट हो जाने वाला व्यक्ति तुच्छ, सकीर्ण एव अह के भावो से भरा रहता है जो कि आत्मा को लाभ पहुँचाने के बजाय उलटा हानिकर बनता है। किन्तु ज्ञान प्राप्ति से कभी सन्तुष्ट न होने वाला व्यक्ति शनै -शनै सम्पूर्ण भेद-भाव तथा सकीर्णता आदि से ऊपर उठकर जीव और जगत के गम्भीर रहस्यो को समझता हुआ अपनी आत्मा को सरल, निष्कपट और उन्नत बना चलता है।

'व्यवहारभाष्य' मे कहा भी है—

'सव्व जगुज्जोयकर नाण, नाणेण नज्जए चरण।'

ज्ञान विश्व के समस्त रहस्यो को प्रकाशित करने वाला है और ज्ञान से ही मनुष्य को कर्तव्य का बोध होता है।

इसलिए बन्धुओ ! मुमुक्षु प्राणियो को कभी भी यह विचार नही करना चाहिए कि हम ज्ञानी बन गये हैं और अब अधिक ज्ञानार्जन की आवश्यकता नही है। उन्हे तो जीवन के प्रत्येक क्षण को कुछ न कुछ हासिल करने मे लगाना चाहिए। अपने ज्ञान से सन्तुष्ट न होकर जब वे अधिक मे अधिक ज्ञान की गहराई मे उतरेंगे, तभी उन्हे आत्म-ज्ञान का कुछ लाभ हासिल हो सकेगा।

अब हमारे समक्ष तीसरी बात आती है। वह यह है कि मनुष्य कभी पुरुषार्थ या कर्म से सन्तुष्ट होकर न बैठे। चाहे वह सामाजिक क्षेत्र मे कार्य करे, चाहे राजनीतिक क्षेत्र मे और चाहे धार्मिक क्षेत्र मे। आवश्यकता इसी बात की है कि वह निरन्तर कार्य करता चला जाय। उसे प्रत्येक समय और वय के प्रत्येक भाग मे कर्म करना आवश्यक है।

संस्कृत भाषा के एक पद्य मे कहा गया है—

प्रथमे नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितम् धनम्।
तृतीये नार्जितम पुण्यम्, चतुर्थे किं करिष्यसि ?

श्लोक मे बडी सुन्दर और यथार्थ सीख दी गई है कि अगर मनुष्य बाल्यावस्था मे ज्ञानार्जन नही करता है, युवावस्था मे धनोपार्जन नही करता है इसके पश्चात

प्रौढावस्था मे पुण्य का संचय नही कर पाता है तो फिर वृद्धावस्था मे क्या कर सकेगा ?

यहाँ एक वात ध्यान मे रखने की है कि वैसे तो मनुष्य ये सव कार्य सभी अवस्थाओ मे कर सकता है और करना भी चाहिए किन्तु बुद्धि और शक्ति आदि विशिष्ट गुणो को देखते हुए ही साधारणतया यह विभाजन किया गया है। हम देखते ही हैं कि बाल्यावस्था मे बालक की बुद्धि तीव्र होती है, अत वह ज्ञानार्जन कर सकता है किन्तु शारीरिक शक्ति अधिक न होने से और सासारिक दृष्टि से व्यवहार-कुशलता एव विचारो की परिपक्वता न होने से वह धनोपार्जन नही कर पाता। इसी प्रकार युवावस्था मे धनोपार्जन तथा अन्य गार्हस्थिक जिम्मेदारियो के कारण बालक के समान पूर्ण निश्चित और निराकुल रहकर ज्ञानार्जन नही कर सकता। रही वात तीसरी अवस्था मे दानादि के द्वारा पुण्य-सचय की। तो वह भी व्यक्ति तभी कर सकता है जबकि युवावस्था मे वह धन का उपार्जन करे तथा अपने बाहुबल से उपार्जित धन को शुभ-कार्यों मे लगाए। अन्यथा दूसरो का मुह ताकने से क्या बनेगा ? किसी और के द्वारा कमाये हुए धन से पुण्य-सचय करने की उसकी अभिलाषा कभी पूरी नही हो सकेगी और इसके लिए धन देगा भी कौन ? कहने का अभिप्राय यही है कि उसे स्वय पुरुषार्थ करना चाहिए और उससे अर्जित धन को शुभ-कार्यो मे लगाकर पुण्य सचित करना चाहिये।

चौथी अवस्था वृद्धावस्था होती है। इस अवस्था मे आप जानते ही हैं कि व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से कमजोर हो जाता है, इन्द्रियाँ पूरा काम नही करती और उसके परिणामस्वरूप न वह ज्ञान प्राप्त कर सकता है, न धन कमा सकता है और न ही धर्म क्रियाये यथाविधि करने मे समर्थ रह जाता है। इसलिए वृद्धावस्था आने से पहले ही उसे जितना भी हो सके ज्ञानार्जन, दान-पुण्य और धर्म-ध्यान करना चाहिए।

जो व्यक्ति व्रत, नियम, प्रत्याख्यान एव अन्य धर्मक्रियाएँ करने के लिये कल, परसो, अगले महीने, अगले वर्ष और यहाँ तक कि वृद्धावस्था मे करेंगे ऐसा कहकर बहाने बनाया करते है, वे अपना जीवन प्रमाद ही प्रमाद मे निरर्थक गँवा देते है और अन्त मे पश्चात्ताप के अलावा कुछ भी हासिल नही कर पाते।

इसलिए हमारे धर्म-शास्त्र पुकार-पुकार कर कहते हैं कि—

तूरह धम्म काउ, मा हु पमाय खण वि कुव्वित्था।
बहुविग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरण्ह पडिच्छाहि॥

—बृहत्कल्पभाष्य ४६७५

अर्थात् धर्माचरण के लिए शीघ्रता करो, एक क्षण भी प्रमाद मत करो। जीवन का एक-एक क्षण विघ्नो से भरा है, इसमे सध्या की भी प्रतीक्षा नही करनी चाहिए।

इसलिए बन्धुओ, जबकि अनेकानेक पुण्यो के फलस्वरूप हमे यह दुर्लभ जीवन मिला है तो इसका लाभ उठाकर हमे अपनी पुण्य की पूंजी को बढा लेना है, उलटे इसे नष्ट नही कर देना है। और यह तभी सभव हो सकता है जबकि हम कषायो को कम करें, तृष्णा पर रोक लगायें और इच्छाओ को अल्प से अल्प करते हुए सवर की आराधना करें। इच्छाओ की वृद्धि से मनुष्य ससार मे उलझता चला जाता है और आत्मा का रचमात्र भी कल्याण नही कर सकता। इसलिए भगवान ने प्रत्येक मानव को और मुनियो को अपनी इच्छाएँ अल्पतर बनाने का आदेश दिया है।

अब हम पुन पूर्व मे कही हुई उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा पर आते हैं। गाथा मे मुनि के लिए तीसरी बात यह कही गई है कि वह 'अन्नाएसी' हो।

(३) अज्ञातएषणा

अन्नाएसी का अर्थ है अज्ञातएषणा करने वाला। साधु को आहार-पानी लेने के लिए अगर जाना है तो इस प्रकार जाना चाहिए कि उनके पहुँचने का किसी गृहस्थ को पता न हो। अगर किसी को यह ज्ञात होगा कि हमारे यहाँ मुनिराज गोचरी के लिए पधारने वाले है, तो वहाँ दोष लगने की सभावना रहेगी। साधु को वास्तव मे अतिथि होना चाहिए कि वे किस दिन और कब आयेंगे। यह किसी को मालूम न हो। इस प्रकार आहार-पानी लाने पर दोष लगाने की सभावना नही रहेगी तथा निर्दोष भिक्षा मिल सकेगी। साधू के लिए निर्दोष आहार-जल लेना आवश्यक है। 'श्री ठाणाग सूत्र' मे कहा गया है कि निर्दोष आहार जल लेने से मुनिराज ज्ञान के भागी बनते हैं। इसलिए बिना सूचना के और बिना निमन्त्रण के अज्ञात रूप से पहुँचकर आहार की गवेषणा करना और सयोग मिलने पर ही निर्दोष आहार लेना, यह मुनि का कर्तव्य है।

(४) अलोलुपता

गाथा मे अगला शब्द 'अलोलुए' आया है। इसका अर्थ है—अलोलुपी होना। मुनि यदि खाद्य पदार्थों मे लोलुपता रखेगा तो उसे आहार सम्बन्धी दोष लगे बिना नही रहेगा। मान लीजिये कोई मुनि किसी गृहस्थ के घर आहार लेने के लिये पहुँच जाए और वह लोलुपी हो तो बाहर से ही पूछ सकता है 'कि आपके यहाँ किसी प्रकार का सगठा तो नहीं है?' और यह सुनकर कि सगठा नही है, वह आहार ले लेगा। कहने का अभिप्राय यही है कि जब लोलुपता रहेगी तब गवेषणा बराबर नहीं हो सकेगी और साधु 'सत्कार-पुरस्कार' परिषह को नही जीत सकेगा। इसलिए मुनि को सयोग के अनुसार निर्दोष आहार ही लेना चाहिए, भले ही वह रूखा-सूखा या रसहीन हो। अन्यथा वह दोष का भागी बनेगा। रस-लोलुपता से कभी-कभी कितना अनर्थ होता है यह शैलकराज ऋषि की कथा से सहज ही मालूम हो जाता है।

अनर्थकारी रस-लोलुपता

ज्ञाताधर्मकथा सूत्र मे शैलकराज राजा के विषय मे वर्णन आता है कि उनके पाँच सौ माडलिक राजा भी थे । जब शैलकराज की भावना सयम ग्रहण करने की हुई तो उन्होने अपने सभी माडलिक राजाओ को अपना विचार सूचित किया ।

माडलिक राजाओ को जब यह ज्ञात हुआ कि हमारे स्वामी शैलकराज महाराज दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं तो उन सबने आकर शैलकराज से कहा—"महाराज ! हमने अब तक के अपने जीवन मे आपकी सेवा की है और आपके स्वामित्व को स्वीकार किया है अत अब हम लोग अपने सिर पर दूसरे स्वामी को नही चाहते और आपके साथ ही सयम-मार्ग को ग्रहण करने की इच्छा रखते हैं, ताकि आगे भी आपकी सेवा मे रह सके ।"

हुआ भी ऐसा ही, यानी जिस प्रकार शैलकराज ने अपने पुत्र को राजगद्दी देकर दीक्षा ग्रहण की उसी प्रकार पाँच सौ माडलिक राजाओ ने भी अपने पुत्रो को राज्य सोपकर शैलकराज ऋषि का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया ।

अब शैलकराज ऋषि अपने पाँच सौ शिष्यो सहित सयम का पालन करते हुए यत्र-तत्र विचरण करने लगे किन्तु रूखा-सूखा खाते रहने के कारण उनके शरीर को रोगो ने घेर लिया ।

कुछ समय पश्चात् वे शिष्यो सहित विचरण करते हुए अपने शैलकनगर मे आए तो उनके पुत्र ने प्रार्थना की—"आपका शरीर व्याधिग्रस्त है, अत कुछ समय यही ठहरकर यहाँ के राजवैद्य से इलाज करवा लीजिये ।"

शैलकराज ऋषि ने इसे स्वीकार कर लिया और अच्छे इलाज तथा उत्तम पथ्य आदि के निमित्त से उनका शरीर निरोग हो गया । किन्तु आराम मे कुछ समय अपने नगर मे रहने के कारण वे प्रमादी बन गये और साथ-साथ उत्तमोत्तम पथ्य के सेवन करने से सरस खाद्य पदार्थों मे उनकी रुचि हो गई । फल यह हुआ कि गुरुजी के व्याधि रहित हो जाने पर जब उनके शिष्यो ने वहाँ से विहार करके अन्यत्र जाने का प्रस्ताव रखा तो वे मौन रह गये और उनके बार-बार कहने पर भी वे विहार करने के लिए तैयार नही हुए ।

इस पर उनके शिष्यो ने यह सोचकर कि हमने घर-बार छोडकर सन्यास ग्रहण किया है तो एक जगह पर ही रहने और अच्छा खाने-पीने के लिए नही, वहाँ से विहार कर दिया । किन्तु उन पाँचसौ शिष्यो मे से सबसे बडे पथक नाम के शिष्य ने गुरुजी का साथ नही छोडा और सबने कह दिया—

"मैं तो गुरु की सेवा को ही आत्म-कल्याण का मार्ग समझता हूँ अत इन्ही की सेवा मे रहूँगा । गुरुजी सोये हुए सिंह है और निश्चय ही अचानक जाग जाएँगे । इनके पास रहने से ही मेरा कुछ भी नुकसान नही होगा । जिस प्रकार जहर खाने से आदमी मरता है पर जहर का व्यापार करने से वह नही मर जाता । अपने आपको सम्हालता हुआ मैं सयम का पालन भी करूँगा और गुरु की सेवा भी ।"

एक दोहे मे कहा गया है—

सुसगति से सुधरयो नहीं, जाका वडा अभाग।
कुसगति से विगड्यो नहीं, उनका मोटा भाग॥

जो व्यक्ति सत्सगति पाकर भी अपने आपको सुधार नही सकता वह बडा अभागा है और कुसगति मे रहकर भी जो विगडता नही है वह भाग्यशाली कहलाता है।

पथकजी ऐसे ही भाग्यशाली साधक थे जो कुसग मे रहकर भी अपना दामन स्वच्छ वनाये रहे। वे अन्य गुरुभाइयो के विहार कर देने पर अपने गुरु को उनकी इच्छानुसार आहार-जल ला देते थे तथा उनकी सेवा-शुश्रुषा करते थे।

इधर चातुर्मास प्रारम्भ हो गया और धीरे-धीरे वह समाप्त भी होने आया। पथक जी तो वरावर अपना नित्य-नियम एव प्रतिक्रमणादि करते थे किन्तु शैलक-ऋषि खाने-पीने के लोलुपी वन जाने के कारण प्रमादावस्था मे पडे रहते थे। रस-लोलुपता के कारण वे यह भी नही समझ पाए कि कव चातुर्मास प्रारम्भ हुआ और कव समाप्त हो गया।

पर जव चातुर्मास समाप्त हुआ और पथक जी ने प्रतिक्रमण करने के पश्चात क्षमापने के लिए गुरुजी के चरण स्पर्श किये तो वे जागे और क्रोध से आगवबूला होकर वोले—"कौन मृत्यु का आह्वान कर रहा है जिसने मेरे आराम मे वाधा डाली?"

पथक जी वहुत विनयपूर्वक वोले—"गुरुदेव! मैं आपको तकलीफ देना नही चाहता था, किन्तु आज चातुर्मास की समाप्ति का दिन है, अत क्षमायाचना करने के लिए ही मैंने आपके चरणो का स्पर्श किया है। फिर भी आपको कष्ट हुआ इसके लिए क्षमा करे।"

शैलकराज ऋषि ने वहुत चकित होकर पूछा—'क्या आज चौमासी है?"

"हाँ भगवन्!" पथक जी ने पुन वडी शाति से उत्तर दिया।

यह सुनते ही शैलकऋषि को घोर पश्चात्ताप होने लगा और वे अत्यन्त दुखी होकर वोले—"अरे! मैं कैसा प्रमादी और रस-लोलुपी वन गया? कैसी मेरी कर्मगति है और कितनी भूल हुई मेरी? सम्पूर्ण राज पाट छोडकर भी मैं जिह्वा के स्वाद मे पडकर सयम का भान ही भूल गया।"

इस प्रकार घोर पश्चात्ताप की अग्नि मे अपनी आत्मा को शुद्ध करते हुए शैलकराज ऋषि ने अपनी भूलो के लिए कठिन प्रायश्चित्त लिया और सेवाभावी शिष्य पथक के साथ शैलकनगर मे विहार कर दिया।

तो वन्धुओ, सयम का पालन और सवर की आराधना करना वडा कठिन है। इसीलिए भगवान 'सत्कार-पुरस्कार' परिषह को भी अनुकपाई, अल्प इच्छावाला तथा अलोलुपी वनकर जीतने का आदेश देते हैं। जो भव्य प्राणी ऐसा करता है वह निश्चय ही आत्म-कल्याण करने मे समर्थ वन जाता है।